श्रीधर्म-कल्पद्रुम

चतुर्थ खण्ड

Shri Dharma Kalpadruma

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA
ON THE BASIS OF
All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीभारतधर्म महामण्डल
प्रधान कार्यालयके शास्त्र-प्रकाश-विभागद्वारा
प्रकाशित

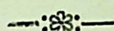
चतुर्थ संस्करण

[मूल्य ५)

सम्वत् २०२०

श्रीधर्म-कल्पद्रुम

चतुर्थ खण्ड



Shri Dharma Kalpadruma

AN. EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

ON THE BASIS OF

All Religion and Philosophy.

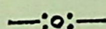


श्रीस्वामी दयानन्द विरचित

श्रीभारतधर्म महामण्डल

प्रधान कार्यालयके शास्त्र-प्रकाश-विभागद्वारा

प्रकाशित



चतुर्थ संस्करण

 [मूल्य ५)

सम्वत् २०२०

प्रकाशक—
भारतधर्म महामंडल,
जगतगंज वाराणसी।

चतुर्थ संस्करण
संवत् २०२०
मूल्य ५)

मुद्रक—
विश्वनाथ भार्गव
मनोहर प्रेस,
जतनबर, वाराणसी।



इस ग्रन्थके आविष्कर्ता—

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक एवं संचालक—

भगवत्पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज

आविर्भाव भाद्र कृष्ण ८ — तिरोभाव माघ कृष्ण ५

सम्वत् १९०२ — सम्वत् २००७

धर्मकल्पद्रुम चतुर्थ खण्ड
चतुर्थ संस्करण
प्रस्तावना

अनन्तशक्तिमयी श्रीजगदम्बाकी असीम अनुकम्पासे धर्मकल्पद्रुम चतुर्थ खण्डका यह चौथा संस्करण श्री भारतधर्म महामण्डलके शास्त्रप्रकाशन विभागद्वारा प्रकाशित हुआ। धर्मकल्पद्रुमको यदि सनातनधर्मका विश्वकोष कहा जाय तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। हमारे वेद-शास्त्र एवं पुराणोंमें यद्यपि सनातनधर्मरूपी मानवधर्मके सभी अङ्गोंका वर्णन है, तथापि एकाधारमें सनातन-धर्मका साङ्गोपाङ्ग एवं देश-कालोपयोगी विशद् विवेचन उपलब्ध नहीं था। इतना ही नहीं, आजके मन्दबुद्धि मानवोंके लिये सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों एवं पुराणोंका स्वाध्याय तथा अनुशीलन भी असम्भवप्राय है। भारतधर्म महामण्डलके प्रतिष्ठाता एवं सञ्चालक भगवत्पूज्यपाद महर्षि श्री ११०८ स्वामी ज्ञानानन्द महाराजश्रीने लोक-कल्याण-बुद्धिसे वर्षोंके कठिन परिश्रमद्वारा इस महान् ग्रन्थका आठ भागोंमें प्रणयन किया था एवं श्री भारतधर्म महामण्डलके शास्त्र-प्रकाशविभागद्वारा उनका प्रकाशन भी कराया था। पूज्यपाद श्रीजी महाराजकी असाधारण प्रतिभा, अगाध ज्ञान, अलौकिक कार्य-पटुता एवं सनातन धर्मके मौलिक तत्त्वोंके प्रचारकी अहर्निश चिन्तासे इस अद्वितीय ग्रन्थकी रचना सम्भव हो सकी। पूज्यपादकी इस अलौकिक देनके लिये मानवजाति सदा उन लोकोत्तर महापुरुषकी ऋणी रहेगी।

धर्मकल्पद्रुमका यह चतुर्थ खण्ड अनेक वर्षों पहले समाप्त हो गया था, परन्तु आर्थिक कठिनाइयोंसे इसका चौथा संस्करण नहीं प्रकाशित किया जा सका था। किन्तु इसकी माँग बराबर आती रही है, अतः धार्मिक जगत्को धर्मकल्पद्रुमके चतुर्थ खण्डका यह चौथा संस्करण देते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

इस समय अध्यात्मवाद एवं भौतिकवादमें भीषण संघर्ष छिड़ा हुआ है एवं आज अध्यात्मवादपर भौतिकवाद विजय पाना चाहता है, मानवताको दानवता निगल जाना चाहती है। केवल इन्द्रिय सुखकी लिप्सा तथा उसकी प्राप्तिके लिये मनुष्योंके जीवनके सारे प्रयत्न एवं प्रयास हो रहे हैं, फलतः भय, आतङ्क, उद्वेग, अशान्ति एवं दुःखकी वृद्धि होती जा रही है, क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान कृष्णचन्द्रने कहा है कि—

ब्रह्मणोहि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

अर्थात् अमृत अव्यय ब्रह्म तथा शाश्वत धर्म एवं ऐकान्तिक सुखका भी प्रतिष्ठा-स्थान मैं ही हूँ। इससे यह निश्चय सिद्ध होता है कि, अध्यात्मवादको त्यागकर मानव-जाति कभी भी सुख-शान्तिकी अधिकारी हो नहीं सकती है।

हमारे परम कारुणिक त्रिकालदर्शी महर्षियोंका विविधरूपमें सारा उद्योग मानव-जातिको उसी नित्य सुख-शान्तिकी ओर उन्मुख करनेकेलिये होता था। श्रीभारतधर्म

महामण्डलके विविध कार्य-विभागोंद्वारा इसी दिशामें मानव-जातिको अग्रसर करनेके प्रयत्न उसके बासठ वर्षोंके जीवन-कालमें होते आये हैं। श्रीमहामण्डलके संस्थापक पूज्यपादने प्रायः दो सौ ग्रन्थोंका प्रणयन किया, जिनमें स्कूल कालेजोंके बालक-बालिकाओंकी धर्म-शिक्षाकेलिये अनेक ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। अतः मनुष्य मात्रका यह पवित्र कर्तव्य है कि, श्रीमहामण्डलके इस पुनीत कार्योंमें सहयोग एवं सहायता करके मानव-जातिको पतनके गर्तमें गिरनेसे बचावें। इन धार्मिक ग्रन्थोंके अधिकाधिक प्रचारसे ही पृथ्वीमें विश्वबन्धुत्वकी भावना जाग्रत होकर मनुष्य-जाति स्थायी शान्ति-सुखको प्राप्त कर सकती है।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके संस्थापक और संचालक भगवत पूज्यपाद श्री ११०८ महर्षि स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजका श्रीअमरनाथ तीर्थदर्शनके अभिप्रायसे काश्मीर राज्यमें सन् १९१२ में पदार्पण हुआ था। वहाँ से लौटते समय श्रीजीका रावलपिण्डीकी सनातनधर्म सभामें ठहरना हुआ था। उस समय रावलपिण्डी सनातनधर्मसभाके सुयोग्य मन्त्री महाशयने श्रीजीसे विनीत प्रार्थना की थी कि, यद्यपि हमारे वेद और शास्त्रोंमें सनातनका रहस्य सब कुछ वर्णित है, परन्तु वर्त्तमान समयके देश-काल और पात्रके अनुसार एक ऐसा वृहत् धर्मसम्बन्धी कोष-ग्रन्थ श्रीभारतधर्ममहामण्डलके द्वारा प्रकाशित होना चाहिये, जिससे सब सनातनधर्मावलम्बी सरलतासे सनातनधर्मके निगूढ़ रहस्योंको एकही पुस्तकसे हृदयंगम कर सकें।

उन धार्मिक सज्जनकी सामयिक सात्विक प्रार्थनाको श्रीस्वामीजी महाराजने स्वीकार किया था और लाहौर पहुँचते ही इस ग्रन्थका प्रणयन श्रीजीने प्रारम्भ कर दिया था। तदनन्तर अपने शिष्योंको आज्ञा देकर इस ग्रन्थको पूर्ण कराया। पूज्यपाद श्रीजी कभी किसी ग्रन्थमें अपना नाम नहीं दिया करते थे, अतः इस वृहत् ग्रन्थोंमें भी अपने प्रिय शिष्य स्वामी दयानन्दजी महाराजका नाम दिया था। यह वृहत् धर्मकोष ग्रन्थ आठ वृहत् खण्डोंमें छप चुका है। यह चतुर्थ खण्डका चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हो रहा है, जिसकी विषयसूची आगेके पृष्ठोंमें द्रष्टव्य है।

यह महाग्रन्थ किसी पुस्तकका अनुवाद नहीं है, सब बड़े-बड़े विषयोंको श्रीजीने स्वयं लिखवानेका कष्ट किया था और अन्यान्य विषयोंको अपने इङ्गितसे शिष्योंकेद्वारा लिखवाया था। सुतरां सनातनधर्मावलम्बियोंकेलिये और हिन्दी साहित्य जगत्की पुष्टिके लिये श्रीधर्मकल्पद्रुम यथार्थमें ही धर्मकल्पद्रुम है इसमें सन्देह नहीं। यह सब विद्वानोंको मानना पड़ेगा कि, भारतवर्षकी राष्ट्रीय भाषा हिन्दीमें इतना बड़ा धार्मिक मौलिक ग्रन्थ अबतक कोई भी नहीं प्रकाशित हुआ है।

पूज्यपाद श्रीस्वामीजी महाराजके द्वारा अथवा उनकी सहायतासे अनेक लुप्त दार्शनिक एवं योग सम्बन्धी ग्रन्थों और शास्त्रोंका उद्धार हुआ है तथा अनेक मौलिक ग्रन्थ तथा टीकाग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। उनका कुछ दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। वेदके कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डके दो दर्शन-शास्त्रोंका उद्धार हुआ है, जिनका प्रकाशन संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषामें भाष्यों-सहित हो चुका है। अन्यान्य सब वैदिक दर्शन शास्त्रोंपर वर्त्तमान देश-काल-पात्रके उपयोगी भाष्यग्रन्थ रचित होकर प्रकाशित हो रहे हैं। अनेक उपनिषद् और संहिता-ग्रन्थ और गीताआदि शास्त्र हिन्दी अनुवाद

और त्रिभावात्मक टीकाके साथ प्रकाशित हुए हैं। स्कूल और कालेजोंमें बालक और बालिकाओंको धार्मिक शिक्षा देनेके शुभ लक्ष्यसे अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जगद्गुरु भारतखण्ड अपनी आध्यात्म ज्योतिसे सदा जगत्को आलोकित करता आया है, जिसका दिग्दर्शन भगवान् मनुने इन शब्दोंमें किया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥

अर्थात् इसी देशमें उत्पन्न हुए पूर्वजोंसे पृथिवीकी समस्त मानवजातिने अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा प्राप्त की है। भगवान् मनुके इन शब्दोंसे भारतके सच्चे स्वरूप एवं गौरव-गरिमाका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। आज धर्म-शिक्षाके अभावसे अपने साहित्य, पुराण, इतिहास, दर्शनआदि ग्रन्थोंके पठन-पाठनके अभावसे भारत अपने उस स्वरूपको भूल-सा गया है। अतः धर्मकल्पद्रुम जैसे धार्मिक विश्वकोष जिसमें सनातनधर्म-सम्बन्धी सभी आवश्यक विषयोंका समयानुकूल सरल भाषामें सुन्दर सरस विवेचन है, प्रत्येक व्यक्तिको अपने पास अवश्य रखना चाहिये एवं इसका अध्ययन एवं अनुशीलन करना चाहिये। ऐसा होनेपर ही श्रीमहामण्डलका यह प्रयास सफल होगा। श्रीभारत धर्ममहामण्डलके द्वारा सनातनधर्म जगत् और हिन्दी साहित्य जगत्में जितना अधिक कार्य हुआ है और हो रहा है वह इस समय अतुलनीय है।

काशीधाम
अक्षय तृतीया
सम्वत् २०२०

देवीनारायण (एडवोकेट)
जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म महामण्डल

विषय-सूची

चतुर्थ समुल्लास

वैराग्य और साधन—

पंचम समुल्लास

आत्मतत्त्व—

ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम

चतुर्थ खण्ड

चतुर्थ समुल्लास

हठयोग

चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा आत्माकी प्राप्तिके लिये करने योग्य द्वितीय श्रेणीकी क्रियाओंका नाम हठयोग है। यह विषय स्मरण रखने योग्य है, कि मन्त्र, हठ, लय, राज इन चारों प्रकारके योगोंके भीतर जितने प्रकारकी क्रियाएँ बताई गई हैं, उनमेंसे अधिकांश क्रियाएँ गुप्त और गुरुमुखसे जानने योग्य होनेके कारण प्रकाशित शास्त्रीय ग्रन्थोंमें उनकी पूरी विधियाँ नहीं मिल सकती हैं और शास्त्रोंमें कहीं-कहीं जो कुछ क्रियाएँ वर्णित देखनेमें भी आती हैं, उनमेंसे बहुतसे वर्णन असम्पूर्ण रक्खे गये हैं, क्योंकि क्रियाको गुप्त न रखनेसे पूर्ण फलकी प्राप्ति नहीं होती है और अनधिकारीके लिये बुद्धिभेद भी होता है। वे सब क्रियाएँ जब गुरुदेवके द्वारा प्राप्त हो जाती हैं, तभी पूर्ण स्वरूपमें परिज्ञात होकर पूर्ण फल प्रदान कर सकती हैं। यह बात पहले ही कही गई है, कि श्रीभगवान् पतञ्जलिकृत योगदर्शनमें जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्ग योगके लक्षण बताये गये हैं, ये ही आठ अङ्ग चतुर्विध योग-विधियोंके मूलरूप हैं। केवल क्रियाराज्यमें सुविधाके लिये कहीं-कहीं अङ्गोंकी वृद्धि या अल्पता देखनेमें आती है। जहाँपर अङ्गोंकी वृद्धि है वहाँ उन्हीं आठ अङ्गोंके आश्रयपर ही वृद्धि की गई है और जहाँ ह्रास है वहाँ एक अङ्गमें दूसरेका अन्तर्भाव किया गया है, ऐसा समझना चाहिये। योगके अष्टाङ्गोंका वर्णन केवल योगदर्शनमें ही नहीं, अधिकन्तु श्रुतिमें भी कई स्थानोंमें इसका वर्णन साक्षात् या परोक्ष रूपसे किया गया है, यथाः—

"सत्यं ब्रह्मणि ब्रह्म तपसि"

"तेन सत्येन क्रतुरस्मि"

"अस्तेयसत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च"

"एतत्त्रयं शिक्षेदमं दानं दयामिति"

"क्षमा सत्यं दमस्त्रयो धर्मस्कन्धाः"

"यत्तपोदानमार्जवमहिंसा" इत्यादि।

इन अनेक वाक्योंके द्वारा श्रुतिमें यमनियमरूपी योगाङ्गोंका उल्लेख किया गया है।

"तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम्"

"आसन पद्मकं बध्वा"

इस श्रुतिमें आसनका भी प्रमाण मिलता है। श्वेताश्वतर-उपनिषद्में आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणाके विषयमें सुन्दर प्रमाण मिलता है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि॥
प्राणान् प्रपीड्येह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः॥
समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्॥
नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशिनाम्।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥
पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते।
न तस्य रोगो न जरा न दुःखं प्राप्तस्य योगाग्निसमं शरीरम्॥
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धं शुभं मूत्रपूरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति॥

गला और मस्तक विशिष्ट शरीरको समभावमें स्थापित करके तथा मनके साथ अन्यान्य इन्द्रियोंको हृदयस्थित ब्रह्ममें निविष्ट करके प्रणवरूप बेड़ा (भेलक) की सहायतासे उपासक संसारसमुद्रको पार होंगे। साधक सचेष्ट होकर प्राणायामके द्वारा प्राणवायुको पीड़ित करके श्वास-प्रश्वासकी क्रिया करेंगे और प्रमादशून्य होकर दुष्टाश्वयुक्त रथकी तरह मनको स्थिर कर लेंगे। समतल, पवित्र, कङ्कर, बालू या वह्निशून्य, शब्द, जल और आश्रय द्वारा चित्तके अनुकूल, चक्षुके सन्तोषजनक तथा गुहा आदिकी नाईं वायुप्रवाहशून्य और आश्रययुक्त स्थानमें मनको योगनिविष्ट करना चाहिये। ब्रह्मदर्शनके पहले योगीको निम्नलिखित वस्तुएँ देखनेमें आती हैं, यथा—कभी कोहा, कभी धूम,

या कभी कभी सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत्, स्फटिक या चन्द्रकी तरह दृश्य देखनेमें आते हैं। पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चतत्त्वोंके गुण योगीको प्रत्यक्ष होने लगते हैं, जिससे उनका शरीर योगाग्निसे निर्मल होकर रोग, जरा और दुःखसे मुक्त हो जाता है। उस समय योगीका शरीर लघु, रोगरहित, सुन्दर वर्ण और सुगन्धयुक्त हो जाता है। वे निर्लोभ, सुस्वर और स्वल्प मूत्रपुरीषयुक्त होते हैं। यही योगीका प्रथम योगलक्षण है।

इन श्रुतियोंमें वक्षस्थल, मस्तक और ग्रीवायुक्त शरीरको जो समान रखनेको कहा है, इससे आसन-क्रियाका निर्देश है, क्योंकि योगदर्शनमें—

"स्थिरसुखमासनं"

इस सूत्रके द्वारा समतायुक्त और सुखकर आसन होता है, ऐसा बताया गया है। कैवल्योपनिषद्में:—

"विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरः शरीरः"

एकान्तस्थानमें शुचि और ग्रीवा, शिर और शरीरको समान रखकर सुखासनस्थ होना चाहिये, ऐसा कहकर आसनकी विधि बताई गई है। पूर्वोक्त श्रुतिमें प्राणको पीड़न करनेकी विधि है। कोहा, धूम, अर्क, अनल, खद्योत, विद्युत्, शशि आदि ज्योतिर्दर्शनद्वारा धारणाभूमिके फलकी सूचना की गई है, जिसमें इस प्रकारकी ज्योतियोंका दर्शन होता है। 'इन्द्रियोंको मनके साथ हृदयस्थित परमात्मामें स्थापन करना चाहिये और मनको धारण करना चाहिये, इस प्रकार कहकर प्रत्याहार और धारणाकी विधि बताई गई है।

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्"

उन्होंने ध्यानयोगके द्वारा स्वगुणप्रधान परमात्मशक्तिका दर्शन लाभ किया, इस श्रुतिके द्वारा श्वेताश्वतर उपनिषद्में ध्यानकी महिमा बताई गई है।

"समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्"

समाधिके द्वारा निर्मल और आत्मामें विलीन चित्तमें जो आनन्द होता है, इस प्रकार कहकर श्रुतिमें समाधिकी महिमा बताई है। इस प्रकारसे समस्त श्रुतिमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन देखनेमें आता है। श्रीभगवान्ने अर्जुनको उपदेश करते समय गीतामें तथा महाभारतीय अश्वमेध पर्वके अन्तर्गत अनु-गीतामें भी योग सम्बन्धीय अनेक बातें बताई हैं। नादविन्दु, ध्यानविन्दु, योगोपनिषद्, कैवल्योपनिषद् आदि अनेक उपनिषदोंमें योगका वर्णन है। पद्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण, सौरपुराण आदि पौराणिक ग्रन्थोंमें योगका प्रचुर वर्णन है। महाभारतके शान्तिपर्व और अनुशासनपर्वमें योग द्वारा प्राप्त सिद्धियोंका भी वर्णन देखनेमें आता है, यथा—शान्तिपर्वमें :—

सुलभा त्वस्य धर्मेषु मुक्तो नेति ससंशया।
सत्वं सत्वेन योगज्ञा प्रविवेश महीपतेः॥

सुलभा नाम्नी भिक्षुकीने राजर्षि जनक मुक्त हैं या नहीं, इस बातकी परीक्षाके लिये योगबलसे अपनी बुद्धिके द्वारा जनककी बुद्धिमें प्रवेश किया। इसी प्रकार अनुशासनपर्वमें :—

नेत्राभ्यां नेत्रयोरस्या रश्मिं संयोज्य रश्मिभिः।
विवेश विपुलः कायमाकाशं पवनो यथा॥

गुरुपत्नीकी सतीत्वरक्षाके लिये विपुलनामक ऋषिने अपनी नेत्ररश्मिके द्वारा गुरुपत्नीकी नेत्ररश्मिको संयुक्त करके जिस प्रकार पवन आकाशमें प्रवेश करता है उस प्रकारसे गुरुपत्नीके शरीरमें प्रवेश किया। इस प्रकार अनेक योगसिद्धियोंके वर्णन महाभारतमें मिलते हैं। शिवसंहिता, रुद्रयामल, ब्रह्मयामल आदि अनेक तन्त्रग्रन्थोंमें तथा घेरण्डसंहिता, गोरक्षसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि अनेक आधुनिक योगशास्त्रीय ग्रन्थोंमें भी योगक्रियाओंका वर्णन देखनेमें आता है, परन्तु उन सब ग्रन्थोंके देखनेपर भी गुरुमुखसे योगविद्याके जाननेकी आवश्यकता रह जाती है, क्योंकि जो विद्या साधन सम्बन्धकी होती है वह सिद्ध गुरुसे ही प्राप्त हो सकती है, पुस्तकोंसे उसका पूर्ण ज्ञानलाभ कभी नहीं हो सकता है इसलिये हठयोग, लययोग और राजयोग-के क्रियासिद्धांशका रहस्य श्रीमद्गुरुदेवकृपा तथा उल्लिखित योगशास्त्रकी सहायतासे जो कुछ प्राप्त हो सका है सो क्रमशः नीचे बताया जाता है।

प्रकृत विषय हठयोगका है।

"हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः"

हठयोगके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध और शान्तिलाभ होता है इत्यादि प्रमाणोंके द्वारा श्रुतिने हठयोगका समर्थन किया है। हठयोगप्रवर्त्तक निम्नलिखित महर्षियोंके नाम योगशास्त्रमें मिलते हैं, यथा :—

मार्कण्डेयो भरद्वाजो मरीचिरथ जैमिनिः।
पराशरो भृगुश्चापि विश्वामित्रादयस्तथा॥

एषां पूज्याङ्घ्रिपद्मानामृषीणां कृपयाऽनिशम्।
हठयोगविकाशो वै जगत्यत्र विजृम्भते॥

मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु और विश्वामित्र आदि पूज्यपाद महर्षियोंकी कृपासे संसारमें युग-युगमें हठयोगका विकाश होता गया है। हठयोगके लक्षणके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणाऽपाननादविन्दुजीवात्मपरमात्मनाम् ।
मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ॥
आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
योगानलेन संदह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ॥
हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम् ।
दृढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद्योगयुजं पुनः ॥
स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः ।
कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ॥
यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः ।
योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्तितः ॥

प्राण, अपान, नाद, विन्दु, जीवात्मा और परमात्माके मेलसे उत्पन्न होनेके कारण स्थूल शरीरका नाम घट है। जलके मध्यस्थित आमकुम्भकी तरह शरीररूपी यह घट सदाही जीर्ण रहा करता है इसलिये योगरूपी अनलके द्वारा दग्ध करके इस घटकी शुद्धि करनी चाहिये। जीर्णभावयुक्त स्थूलशरीरको हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्मशरीरको भी योगानुकूल किया जाता है। स्थूलशरीर सूक्ष्मशरीरका ही परिणाममात्र है इसलिये जिस प्रकार ककारादि वर्णोंके अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्रज्ञान लाभ होता है उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंके द्वारा प्रथमतः स्थूलशरीरको वशमें लाकर क्रमशः सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य स्थापनपूर्वक चित्त-वृत्तिका निरोध किया जा सकता है उन साधनोंकी हठयोग संज्ञा होती है।

सांख्यविज्ञानके अनुसार जैसा कि पहले कहा गया है सृष्टिको चौबीस तत्त्वोंमें विभक्त किया गया है। उन्हीं चौबीस तत्त्वात्मक यह प्राकृतिक जगत् है और पुरुष इनसे पृथक् एक पचीसवाँ तत्त्व है—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः
प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिद्रियं
तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः ॥

चौबीस तत्त्वोंमेंसे मूल प्रकृति, अहंतत्त्व, मन और रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द, ये पंच तन्मात्राएँ, चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वक्, ये पंच ज्ञानेन्द्रिय और वाक्, पाणि, पाद. पायु और उपस्थ, इस प्रकार उन्नीस तत्त्वात्मक यह सूक्ष्म शरीर है और पृथिवी जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों स्थूलभूतमिलित पंचतत्त्वात्मक स्थूल शरीर है। पुरुषरूपी पचीसवाँ तत्त्व इन स्थूल-सूक्ष्मशरीरोंका द्रष्टामात्र है, वह इनसे निर्लिप्त रहता है।

सनातनधर्मके शास्त्रोंमें मृत्यु कहकर कोई विशेष अवस्था मानी नहीं गई है। पंचतत्त्वात्मक स्थूलदेहको उन्नीस तत्त्वात्मक सूक्ष्मदेह जब त्याग करके दूसरे स्थूलदेहको धारण करता है तब वही त्याग और ग्रहणकी सन्धि मनुष्य-लोकमें मृत्युके नामसे कही जाती है। जीवका जब निर्दिष्ट कर्म्मोंका भोग हो जाता है अर्थात् जिन संस्कारोंके कारण प्रथम जीवको वर्त्तमान स्थूलदेह धारण करना पड़ा था, जब उन संस्कारजन्य कर्म्मोंका भोग हो जाता है, तब उसमें अन्य कर्मोंके भोगका अवसर उपस्थित होता है। उन्हीं नूतन रूपसे अंकुरित कर्मोंके भोगके लिये पुराने वस्त्रको छोड़कर नवीन वस्त्र धारणकी नाईं जीवको एक स्थूलदेहको छोड़कर दूसरा स्थूलदेह धारण करना पड़ता है, यथा—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥

(गीता)

"जीवापेतं किल इदं म्रियते न जीवो म्रियते" इति श्रुतौ ।

सूक्ष्मशरीरके उस प्रथम देहको त्याग करके जानेसे उक्त त्याग किये हुए देहकी "मृत्यु हुई" ऐसा लोग समझते हैं। वस्तुतः जीवकी मृत्यु नहीं है। केवल जीव वार-वार स्थूलदेह को परिवर्त्तन करता हुआ आवागमन चक्रमें घूमा करता है।

"तत्तीव्रवेगात् स्थूलम्" इति महर्षिभरद्वाज-सूत्रम् ।
येन येन यथा यद्यत्पुरा कर्म समीहितम् ॥
तत्तदेकतरो भुङ्क्ते नित्यं हि विहितात्मना ।
यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ॥
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ इति स्मृतेः ॥

जब देखा जाता है कि सूक्ष्मशरीरके तीव्र संस्कारसे उत्पन्न हुए कर्मोंके भोगके आश्रयरूपी जीवका स्थूलशरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्मशरीरके भावके अनुरूप ही स्थूलशरीरका संगठन होता है और सूक्ष्मशरीर और स्थूलशरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या संदेह है कि स्थूलशरीरके कार्योंके द्वारा सूक्ष्मशरीरपर आधिपत्य नहीं किया जा सकता है? फलतः अधिकारी-विशेषके लिये स्थूलशरीरप्रधान योगक्रियाओंका आविष्कार योगशास्त्रमें किया गया है जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्थामें स्थूलशरीरकी क्रियाओंका साधन करता हुआ स्थूलशरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्तिको अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्मशरीरको वशमें लाकर चित्तवृत्तिनिरोधके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार करनेमें समर्थ होता है। इसी योगप्रणालीको हठयोग कहते हैं।

मन्त्रयोगसे हठयोग-साधनमें कुछ विशेषता है। मन्त्रयोग-साधनमें बहिराचारोंके साथ अधिक सम्बन्ध है, शरीरसे बहिःपदार्थोंके साथ घनिष्ठता रक्खी गई है और मन्त्रयोगके साथ जिस प्रकार वर्णधर्म, आश्रमधर्म, पुरुषधर्म, नारीधर्म, आर्यधर्म, अनार्यधर्म, आदि विशेष धर्मोंसे विशेष-विशेष सम्बन्ध है, हठयोग-क्रियाकी प्रणालीमें ऐसा कोई सम्बन्ध देखनेमें नहीं आता है। यद्यपि हठयोगमें पात्रापात्रका विचार रक्खा गया है, परन्तु वह विचार जगत्-सम्बन्धसे नहीं है, शरीर-सम्बन्धसे है। मन्त्रयोगके अनुसार किसी पुरुषको जो मन्त्र उपदेश किया जायगा, किसी स्त्रीको उस मन्त्रका उपदेश कहीं-कहीं नहीं देनेकी भी आज्ञा पाई जाती है, ब्राह्मणको जिस मन्त्रका उपदेश हो सकता है शूद्रके लिये उसकी मनाई हो जायगी। इस प्रकार मन्त्रयोगमें बहिर्जगत्के साथ सम्बन्धकी समताकी रक्षा करके उपदेशादि देनेकी विधि मिलती है। हठयोगमें अधिकारीके शारीरिक तारतम्य और अधिकारमात्रको देखकर दीक्षा देनेकी विधि मिलती है। शरीर अकर्मण्य होनेसे उसको साधनोपयोगी बना लेनेकी कोई व्यवस्था मन्त्रयोगमें कुछ विशेषरूपसे नहीं है, परन्तु हठयोगमें अकर्मण्य शरीरको योग-साधनोपयोगी कर लेनेकी और श्लेष्मादि अपवित्रताको दूर करके शरीरको पवित्र बना लेनेकी बहुतसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगमें जिस प्रकार भावपूर्ण स्थूल ध्यानकी विधि है, हठयोगमें ज्योतिःकल्पनारूप ज्योतिर्ध्यान करनेकी विधि रक्खी गई है। अन्तर्जगत्के पवित्र भावोंको आश्रय करके जिस प्रकार देवदेवियोंके ध्यानके लिये मन्त्रयोगमें उपदेश है उसी प्रकार परमात्माको सब ज्योतियोंका ज्योतिःस्वरूप जानकर उनके ज्योतिर्मय रूपकी कल्पनापूर्वक ध्यान अभ्यास करनेकी व्यवस्था हठयोगमें है। मन्त्रयोग-समाधिमें नामरूपोंकी सहायतासे समाधि-लाभ करनेकी साधन-प्रणाली वर्णित है और हठयोगमें वायु-निरोधके द्वारा मनका निरोध करके समाधि-लाभ करनेकी विधि है। मन्त्रयोगसमाधिको महाभाव और हठयोगसमाधिको महाबोध समाधि कहा जाता है। अस्तु, मन्त्रयोगी यदि हठयोगकी सहायता ले तो उससे उसे जिस प्रकारकी सुविधा हो सकती है उसी प्रकार हठयोगी भी यदि मन्त्रयोग प्रणालीसे कुछ कुछ सहायता ले तो हठयोगीको भी उन्नति लाभ करनेमें बहुत कुछ सुविधा मिलेगी।

योगाचार्य महर्षियोंने कहा है कि अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन भावत्रयोंके अनुसार मन, वायु, और वीर्य, ये तीनों ही एक हैं इसीलिये मनको वशीभूत करनेसे वीर्य और वायु आपसे आप वशीभूत हो जाते हैं। वायुको वशीभूत करनेसे मन और वीर्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं और सुकौशलपूर्ण क्रियाओं द्वारा वीर्यको वशीभूत करके ऊर्द्ध्वरेता हो जानेसे मन और प्राणवायु अनायास उस योगीके वशमें आ जाते हैं। राजयोगमें बुद्धिसे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाओंसे अधिक सम्बन्ध रक्खा गया है और मन्त्र, हठ और लय, इन तीन

प्रकारकी योगप्रणालियोंमें मन, वायु तथा वीर्य, इन तीनोंका सम्बन्ध अधिकरूपसे है। इनमेंसे लययोगमें मनकी क्रियाका आधिक्य और मन्त्र तथा हठयोगमें वायुधारण तथा रेतोधारण सम्बन्धी क्रियाओंकी अधिकता देखी जाती है। शास्त्रोंमें मन्त्रयोगीके लिए ब्रह्मचर्यरक्षा और रेतोधारणकी विशेष आवश्यकता वर्णन की गई है और हठयोगीके लिये वे सब तो चाहिये, उपरान्त प्राणायामसिद्धि और वायुनिरोधके लिये विशेष व्यवस्था रक्खी गई है, जो नीचे क्रमशः बतायी जायगी।

अब हठयोगके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयाम ।
ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि, हठयोगके ये सात अङ्ग हैं। इन सब अङ्गोंके क्रमानुसार साधन द्वारा क्या-क्या फलप्राप्ति होती है सो योगशास्त्रमें वर्णित है—

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥

षट्कर्म द्वारा शरीर-शोधन, आसनके द्वारा दृढ़ता, मुद्राके द्वारा स्थिरता, प्रत्याहारसे धीरता, प्राणायाम-साधन द्वारा लाघव, ध्यान द्वारा आत्माका प्रत्यक्ष और समाधि द्वारा निर्लिप्तता तथा मुक्तिलाभ अवश्य होता है। इन सब मानसिक और आध्यात्मिक लाभोंके सिवाय हठयोगके प्रत्येक अङ्ग और उपाङ्गके साधन द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य-विषयक भी विशेष लाभ होता है जो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। अब इन अङ्गोंका वर्णन संक्षेपसे किया जाता है। हठयोगका प्रथम अङ्ग षट्कर्म साधन है जिसके लिये योगशास्त्रमें लिखा है :—

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी, त्राटक तथा कपालभाति, षट्कर्मके ये छः साधन हैं। धौतिके विषयमें कहा है—

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्तु निर्मलम् ॥

अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन, इन चार प्रकारकी धौतियोंके द्वारा शरीरको निर्मल करें। पुनः अन्तर्धौति भी चार प्रकारकी है, यथा—

वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम् ।
घटनिर्मलतार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥

वातसार, वारिसार, वह्निसार तथा वहिष्कृत, ये चार प्रकारकी अन्तर्धौति होती हैं जिनसे शरीर निर्मल होता है। वातसारका लक्षण, यथा—

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥

होठोंको काकचञ्चुकी तरह बनाकर धीरे-धीरे वायुपान करके उस वायुको उदरके भीतर चालित करें और पश्चात् मुखके द्वारा शनैः शनैः उस वायुका रेचन करें। यह क्रिया अग्निवर्द्धक तथा सर्वरोगक्षयकारक है। वारिसारका लक्षण, यथा—

आकण्ठं पूरयेद्वारि वस्त्रेण च पिबेच्छनैः ।
चालयेदुगुदमार्गेण चोदराद्रेचयेदधः ॥

वस्त्रके द्वारा छानकर धीरे-धीरे जल कण्ठ पर्यन्त भर लेवें और पश्चात् उस जलको पीकर गुदामार्गसे उसे रेचन कर देवे। इस क्रियासे देह निर्मल तथा देववत् देहकी प्राप्ति होती है। अग्निसारका लक्षण, यथा—

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत् ।
अग्निसारमियं धौतिर्योगिनां योगसिद्धिदा ॥
उदरामयकं हत्वा जठराग्निं विवर्धयेत् ।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ॥

नाभिग्रन्थिको खींचकर शतवार मेरुदण्डके साथ मिलाया जाय इससे योगियोंकी योगसिद्धिप्रद अग्निसार क्रिया होती है। अग्निसार धौतिके द्वारा उदरामय नष्ट होकर जठराग्नि बढ़ती है। यह परम गोपनीय और देवताओंको भी दुर्लभ है। बहिष्कृत धौतिका लक्षण, यथा—

काकीमुद्रां साधयित्वा पूरयेन्मरुतोदरम् ।
धारयेदर्धयामं तु चालयेद्गुदवर्त्मना ॥

काकीमुद्राके द्वारा उदरमें वायु भर लेवे और अर्द्धप्रहर तक उस वायुको उदरमें धारण करके पश्चात् गुदामार्गसे उसे रेचन कर देवे। अन्तर्धौतिके बाद दन्तधौति है, जिसके पाँच भेद हैं, यथा—

दन्तस्य चैव जिह्वाया मूलं रन्ध्रं च कर्णयोः ।
कपालरन्ध्रं पञ्चैते दन्तधौतिर्विधीयते ॥

दन्तमूल, जिह्वामूल, दोनों कर्णरन्ध्र, तथा कपालरन्ध्र इन पाँच स्थानोंके शोधनसे दन्तधौति क्रिया होती है।

हृद्धौति तीन प्रकारकी है, यथा—योगशास्त्रोंमें—

हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद्दण्डं वमनवाससा।

हृद्धौति तीन प्रकारकी होती है, यथा—दण्डधौति, वमनधौति और वासोधौति। दण्डधौतिका लक्षण, यथा—

रम्भाहरिद्रयोर्दण्डं वेत्रदण्डं तथैव च।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः॥

रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड अथवा वेत्रदण्डको हृदयके बीचमें चालित करके पुनः धीरे-धीरे निकाल लेनेसे दण्डधौतिका साधन होता है। इससे कफ पित्त नाश और हृदयका रोग दूर होता है। वमन धौतिका लक्षण, यथा—

भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधीः।
ऊर्द्ध्वां दृष्टिं क्षणं कृत्वा तज्जलं वामयेत्पुनः॥

बुद्धिमान् साधक भोजनके अन्तमें आकण्ठ जल पीकर क्षण काल ऊर्द्ध्वदृष्टि रहकर पुनः उस जलको मुँहसे निकाल देवे इससे कफ तथा पित्तका नाश होता है। वासोधौतिका लक्षण, यथा—

चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेदेतत्प्रोच्यते धौतिकर्मकम्॥

चार अंगुल चौड़ा सूक्ष्म वस्त्र धीरे-धीरे ग्रास करके पुनः उसे बाहर निकाल देनेसे वासोधौति क्रिया होती है। इससे गुल्म, ज्वर, कफ, पित्त, प्लीहा, कुष्ट आदिका नाश, आरोग्य और बलकी पुष्टि होती है। मूल शोधनका लक्षण, यथा—

पित्तमूलस्य दण्डेन मध्यमाऽङ्गुलिनाऽपि वा।
यत्नेन क्षालयेद्गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः॥
वारयेत्कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च वन्हिमण्डलदीपनम्॥

हरिद्रामूलक अथवा मध्यम अंगुली द्वारा जलके साथ यत्नपूर्वक गुह्यस्थानको पुनः पुनः प्रक्षालन करना उचित है। इससे कोष्टबद्धता और आमका अजीर्ण नष्ट होता है। कान्ति, पुष्टि तथा जठराग्निकी वृद्धि होती है। षट्कर्मान्तर्गत द्वितीय क्रियाका नाम वस्ति है जिसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिर्वै द्विविधा स्मृता।
जलवस्तिं जले कुर्याच्छुष्कवस्तिं सदा क्षितौ॥

जलवस्ति तथा शुष्कवस्ति, दो तरहकी वस्ति-क्रियायें हैं। इनमेंसे जलवस्तिका साधन जलमें और शुष्कवस्तिका साधन स्थलमें हुआ करता है। जलवस्तिका लक्षण, यथा—

नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम्।
आकुञ्चनं प्रसारं च जलवस्तिं समाचरेत्॥

नाभिमग्न जलमें अवस्थित होकर उत्कटासन द्वारा गुह्यदेशके आकुञ्चन तथा प्रसारण करनेसे जलवस्ति साधन होता है। इसी प्रकारसे स्थलपर शुष्कवस्ति हुआ करती है। इससे प्रमेह, उदावर्त्त और क्रूर वायुका नाश होकर कामदेवके समान शरीर होता है। षट्कर्मान्तर्गत तीसरे कर्मका नाम नेतियोग है। इसके लिये योगशास्त्रमें प्रमाण है—

वितस्तिमात्रं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयत्पश्चात्प्रोच्यते नेतिकर्म तत्॥
साधनान्नेतिकार्यस्य खेचरी सिद्धिमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥

आधा हाथ परिमाण सूक्ष्म सूत्र नासिकाके बीचमें प्रवेश करके तत्पश्चात् उसे मुख द्वारा निकलनेसे नेतिकर्मका साधन होता है। नेतिकर्मके साधनसे खेचरी मुद्रामें सहायता होती है, कफदोष नाश और दिव्यदृष्टि लाभ हो जाता है। षट्कर्मान्तर्गत चौथे कर्मका नाम लौलिकी योग है जिसका लक्षण निम्नलिखित है—

अमन्दवेगैस्तुन्दन्तु भ्रामयेदुभपार्श्वयोः।
सर्वरोगान्निहन्तीह देहानलविवर्द्धनम्॥

प्रवल वेगसे पेटको दोनों पार्श्वमें घुमानेसे लौलिकी साधन होता है जिससे सर्वरोग नाश और देहानलकी वृद्धि होती है। षट्कर्मान्तर्गत पञ्चम कर्मका नाम त्राटक है जिसका यह लक्षण है—

निमेषोन्मेषकौ त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि मुञ्चन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः॥
एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥

जब तक दोनों नेत्रोंसे अश्रुपात न हो तब तक निमेष उन्मेष त्यागपूर्वक किसी सूक्ष्म वस्तुपर दृष्टि स्थिर रखनेका नाम त्राटक है। त्राटक योगके अभ्यास द्वारा शाम्भवीमुद्राकी सहायता होती है, नेत्ररोग नाश और दिव्यदृष्टि उत्पन्न होती है। षट्कर्मान्तर्गत षष्ठ क्रियाका नाम कपालभाति है, यथा—

वातक्रमव्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात्कफदोषं निवारयेत् ॥

वातक्रम, व्युत्क्रम तथा शीत्क्रम, यह तीन तरहकी कपालभाति होती है जिससे कफदोष निवारण होता है। वातक्रम कपालभाति का लक्षण, यथा—

इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत्पिङ्गलाख्यया।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥
पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु चालयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥

वाम नासिका द्वारा वायु पूरक करके दक्षिण नासिका द्वारा रेचन किया जाय और इसी प्रकारसे दक्षिण नासा द्वारा पूरक करके वाम द्वारा रेचन करनेसे वातक्रम कपालभातिका साधन होता है। इसमें पूरक रेचकमें वल प्रयोग नहीं करना चाहिये परन्तु धीरे-धीरे करना चाहिये इससे कफदोप नाश होता है। व्युत्क्रम कपालभातिका लक्षण, यथा—

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥

नासिकाद्वय द्वारा जल आकर्षण करके मुखद्वारा निर्गत किया जाय और पुनः मुखद्वारा जल ग्रहण करके नासिका द्वारा रेचन किया जाय। ऐसा करनेसे व्युत्क्रम कपालभातिका साधन होता है जिससे श्लेष्मा दोप दूर होता है। शीत्क्रम कपालभातिका लक्षण, यथा—

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरेचयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥

मुख द्वारा शीत्कारपूर्वक वायु ग्रहण करके नासिका द्वारा निकाल देनेसे शीत्क्रम कपालभातिका साधन होता है। इस क्रियाके द्वारा साधकका शरीर कामदेवके समान होता है। देह स्वच्छन्द, कफ नाश तथा जरा नाश होता है।

यह हम पहले ही कह चुके हैं कि स्थूलशरीरपर आधिपत्य जमाकर सूक्ष्मशरीरकी सहायतासे चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी शैलीको हठयोग कहते हैं। सुतरां स्थूलशरीरको शुद्ध करनेकी जो क्रियाएँ हैं वे ही हठयोगमें प्रथम स्थानीय हो सकती हैं। इसी कारण षट्कर्मको हठयोगमें सबसे पहला स्थान दिया गया है।

हठयोगके द्वितीय अङ्गका नाम आसन है। आसनके लक्षणके विषयमें हठयोगशास्त्रमें लिखा है—

अभ्यासाद्यस्य देहोऽयं योगौपयिकतां व्रजेत्।
मनश्च स्थिरतामेति प्रोच्यते तदिहासनम् ॥

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवयोनयः ।
चतुरशीतिलक्षाणि शिवेन कथितानि तु ॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम् ।
आसनानि त्रयस्त्रिंशन्मर्त्यलोके शुभानि वै ॥

जिसके अभ्याससे शरीर योगोपयुक्त तथा मन स्थिर हो जाता है उसका नाम आसन है। जगत्‌में जितनी जीवयोनियाँ हैं उतने ही आसन हैं, महादेवजीने पुराकालमें चौरासी लाख आसनोंका वर्णन किया था; उनमेंसे चौरासी आसन विशेष हैं और मर्त्यलोकमें तैंतीस आसन मङ्गलजनक हैं। इन तैंतीसोंके नाम, यथा—

सिद्धं च स्वस्तिकं पद्मं बद्धपद्मं च भद्रकम् ।
मुक्तं वज्रं च सिंहं च गोमुखं वीरमेव च ॥
धनुर्मृतं तथा गुप्तं मात्स्यं मत्स्येन्द्रमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा ॥
मायूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं माण्डूकं गरुडं वृषम् ॥
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजङ्गं योगमासनम् ।
आसनानि त्रयस्त्रिंशत् सिद्धिदानीति निश्चितम् ॥

सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिंहासन, गोमुखासन, वीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येंद्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, संकटासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, कूर्मासन, उत्तानकूर्मासन, उत्तानमण्डूकासन, वृक्षासन, मण्डूकासन, गरुडासन, वृषासन, शलभासन, मकरासन, उष्ट्रासन, भुजङ्गासन और योगासन, ये तैंतीस सिद्धिदायक आसन हैं। कैसे देशमें आसन करके साधन करना चाहिये इसके विषयमें योगशास्त्रका उपदेश है कि सुराज्य, सुधार्मिक, सुभिक्ष और उपद्रवरहित देशमें शिला तथा अग्नि जलसे अलग रहकर एकान्तस्थानमें छोटी सी कुटी बनाकर उसके बीचमें बैठकर योगसाधन करना चाहिये। साधनगृहका द्वार छोटा होना चाहिये, उसमें कोई गर्त नहीं होना चाहिये, बहुत ऊँचा या बहुत नीचा नहीं होना चाहिये, उसमें मकड़ीका जाला वगैरह नहीं होना चाहिये, वह गोमयसे लीपा हुआ तथा कीटोंसे रहित होना चाहिये। इस प्रकारके स्थानमें चित्तको अन्यान्य चिन्ताओंसे रहित करके गुरूपदेशानुसार आसन बाँधकर साधन करना योगीका कर्त्तव्य है। अब नीचे कुछ प्रधान प्रधान आसनोंका वर्णन किया जाता है।

सिद्धासन—वशीकृतेन्द्रियग्रामो वामगुल्फेन गुह्यकम् ।
दक्षिणेन च लिङ्गस्य मूलमापीडयेत्ततः ॥

मेरुदण्डमृजू कुर्वन्नास्यते यत्सुखासनम् ।
सिद्धासनमिति प्रोक्तं योगसिद्धिकरं परम् ॥

जितेन्द्रिय साधक जब वामगुल्फ द्वारा गुदाको और दक्षिण गुल्फ द्वारा लिङ्ग-मूलको दबाकर मेरुदण्ड सीधा करता हुआ सुखसे बैठे तब वह सिद्धासन कहा जाता है। यह आसन योगमें सिद्धिदायी है।

स्वस्तिकासन—जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥

दोनों जानू और उरुके बीचमें दोनों चरणतल रखकर ऋजुकाय हो बैठनेका नाम स्वस्तिकासन है।

पद्मासन—दक्षिणं चरणं वामे दक्षिणोरौ च सव्यकम् ।
अक्लेशमासनं यद्धि पद्मासनमितीरितम् ॥

क्लेशरहित होकर बैठते हुए दक्षिण पैर वाम उरुके ऊपर और वाम पैर दक्षिण उरुके ऊपर रखकर जो सुगम आसन होता है उसे पद्मासन कहते हैं।

बद्धपद्मासन—वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशनं सुखकरं पद्मासनं प्रोच्यते ॥

दक्षिण पाद वाम उरुके ऊपर और वामपाद दक्षिण उरुके ऊपर स्थापन करके करद्वय द्वारा पीठसे घुमाकर चरणोंकी वृद्ध अंगुलि धारण करके चिबुकको वक्षःस्थलपर स्थापन करके नासाग्र भाग दर्शन करनेसे बद्धपद्मासन हुआ करता है इस आसनके द्वारा अनेक व्याधियोंका नाश होता है।

भद्रासन—गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
पादाङ्गुष्ठौ कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥
जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥

दोनों गुल्फ वृषणके नीचे विपरीत भावसे स्थापन करके पृष्ठसे करद्वय चलाकर दोनों चरणोंकी वृद्धांगुलि धारणपूर्वक जालन्धर बन्ध करते हुए नासिकाके अग्रभागका दर्शन करनेसे भद्रासन हुआ करता है जिसके अभ्याससे सकल रोगोंकी शान्ति होती है।

मुक्तासन—पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
समकायशिरोग्रीवं मुक्तासनमुदाहृतम् ॥

वाम गुल्फ पायुमूलमें रखकर उसके ऊपर दक्षिण गुल्फ स्थापित करके शरीर, मस्तक और ग्रीवा समभावमें रखनेसे मुक्तासन होता है।

गोमुखासन—पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठं पार्श्वे निवेशयेत्।
स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृतिं॥

पृथिवीके ऊपर दोनों चरणोंको स्थापन करके पीठके दोनों ओर निकालते हुए गोमुखकी नाईं आसन करके स्थिरकाय होकर बैठनेसे गोमुखासन कहाता है।

धनुरासन—प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ करौ च पृष्ठे धृतपादयुग्मौ।
कृत्वा धनुस्तुल्यविवर्त्तिताङ्गं निगद्यते वै धनुरासनं तत्॥

दोनों चरणोंको पृथिवीपर दण्डवत् सीधा रखकर पीठकी ओरसे दोनों हाथ चलाकर चरणयुगलको धारण करके देहको धनुषाकार करनेसे धनुरासन होता है।

शवासन—उत्तानं शववद्भूमौ शयानं तु शवासनम्।
शवासनं श्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम्॥

मृत मनुष्यकी नाईं पृथिवीपर शयन करनेसे मृतासन या शवासन कहाता है। शवासन श्रमनाश और चित्तके विश्रान्तिके लिये हितकर है।

पश्चिमोत्तानासन—प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
संन्यस्य भालं चितियुग्ममध्ये।
यत्नेन पादौ विधृतौ कराभ्या-
मुत्तानपश्चासनमेतदाहुः॥

पदद्वयको पृथिवीपर दण्डवत् सीधे रखकर, करद्वय द्वारा यत्नपूर्वक चरणद्वयको धारण करके जंघाओंके बीचमें सिर रखनेसे पश्चिमोत्तान आसन होता है।

मयूरासन—धरामवष्टभ्य करद्वयेन
तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वम्।
उच्चासने दण्डवदुत्थितः खे
मायूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम्॥

हथेलीसे पृथिवीका आश्रय करके कोणीद्वयके ऊपर नाभिका उभय पार्श्व स्थापनपूर्वक चरणद्वय पीछेकी ओर उठाकर दण्डवत् हो शून्यमें अवस्थित रहनेसे मयूरासन हुआ करता है। इस आसनके अभ्याससे अधिक भोजन भी पच जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, विषदोष तकका नाश होता है और गुल्म ज्वर आदि अनेक व्याधियोंकी शान्ति होती है।

कुक्कुटासन—पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ।
कूर्पराभ्यां समासीन उच्चस्थः कुक्कुटासनम्॥

पद्मासनमें बैठकर दोनों करोंको जानु और उरुके बीचमेंसे पृथिवीपर स्थापन करके उसीपर कोणियोंके द्वारा ऊँचा होकर स्थिर रहनेसे कुक्कुटासन होता है।

कूर्मासन--गुल्फौ च वृषणस्याऽधो व्युत्क्रमेण समाहितौ।
ऋजुकायशिरोग्रीवं कूर्मासनमितीरितम्॥

वृषणके नीचे गुल्फद्वयको विपरीत भावसे स्थापन करके मस्तक, ग्रीवा और शरीरको ऋजु भावसे रखनेपर कूर्मासन होता है।

मकरासन--अधस्तु शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ।
शिरश्च धृत्वा करदण्डयुग्मे
देहाग्निकारं मकरासनं स्यात्॥

अधोमुख होकर पृथिवीपर वक्षःस्थल स्थापनकर शयन करके पादद्वय विस्तार करते हुए करदण्डयुगलके बीचमें मस्तकको रखनेसे मकरासन होता है। इससे देहाग्नि बढ़ती है।

योगासन--उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम्॥
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने॥

चरणद्वयको उत्तान करके जानुद्वयके ऊपर स्थापन करते हुए करद्वयको उत्तान भावसे आसनपर रखकर पूरक द्वारा वायु आकर्षणपूर्वक नासाग्र अवलोकन करनेसे योगासन हुआ करता है, जो योगियोंके योगसाधनमें परमोपकारी है।

योगिराज महर्षि पतञ्जलिने स्थिरसुख उत्पन्नकारी शारीरिक क्रियाको आसन करके वर्णन किया है। अतः आसन द्वारा शरीरकी दृढ़ता स्थायी होने पर तब उक्त आसनोंमें शरीरको रखनेसे स्थिर सुख उत्पन्न होकर चित्तवृत्तिनिरोधमें सहायता मिलती है। यही हठयोगके आसनोंकी असाधारण उपकारिता है।

हठयोगके तृतीय अङ्गका नाम मुद्रा है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

प्राणायामस्तथा प्रत्याहारा धारणध्यानके।
समाधिः साधनाङ्गानामेषां सिद्धौ हि या हिता॥
साहाय्यमादधातीह सुकौशलभरा क्रिया।
मुद्रा सा प्रोच्यते धीरैर्योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥
सहायिका भवेन्मुद्रा सर्वाङ्गानां हि काचन।
काचिच्च तत्तदङ्गानामुपकारं करोति वै॥

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ॥
विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी ।
ताड़ागी चैव माण्डूकी शाम्भवी पञ्चधारणा ॥
अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी ।
पञ्चविंशतिमुद्राः स्युः सिद्धिदा योगिनां सदा ॥

जिन क्रियाओंके द्वारा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि रूपी साधनाङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है ऐसी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको मुद्रा कहते हैं। कोई मुद्रा इन सब अङ्गोंकी सहायता करती है और कोई-कोई इनमेंसे विशेष अङ्गोंकी सहायता करती है। महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा, जलन्धर-बन्धमुद्रा, मूलबन्धमुद्रा, महाबन्धमुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, विपरीतकरणीमुद्रा, योनिमुद्रा, वज्रोलीमुद्रा, शक्तिचालिनीमुद्रा, ताड़ागीमुद्रा, माण्डूकीमुद्रा, शाम्भवीमुद्रा, पञ्चधारणामुद्रा, अश्विनीमुद्रा, पाशिनीमुद्रा, काकीमुद्रा, मातङ्गीमुद्रा और भुजङ्गिनी-मुद्रा, ये पचीस मुद्राएँ हैं; इनके साधनसे योगियोंको योगसिद्धि प्राप्त होती है। अब इन पचीसोंमेंसे कुछ-कुछ प्रधान मुद्राओंका वर्णन किया जाता है।

महामुद्रा—पायुमूले वामगुल्फं सम्पीड्य च यथाक्रमम् ।
दक्षपादं प्रसार्याऽथ करधार्यपदांगुली ॥
कण्ठसंकोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यं निरीक्षयेत् ।
ततः शनैः शनैरेवं रेचयेत्तं न वेगतः ॥
अनुसृत्य गुरोर्वाक्यं जानुस्थापितमस्तकः ।
वामेन दक्षिणेनापि कृत्वोभाभ्यां पुनस्तथा ॥
नाशयेत्सर्वरोगांश्च महामुद्रासुसाधनात् ।
सिद्धिदा योगमार्गस्य वदन्तीह पुराविदः ॥

वामगुल्फको पायुमूलमें लगाकर और दक्षिणपादको दण्डवत् फैलाकर दोनों हाथोंसे पादांगुलि धारणकर कुम्भक करके कण्ठ सङ्कोच करते हुए भ्रूमध्यका दर्शन करे और तदनन्तर धीरे-धीरे वायुका रेचन करे। गुरुवाक्यानुसार जानुमें मस्तक रखकर दक्षिण गुल्फ और वामपादके द्वारा पूर्ववत् करे और पश्चात् दोनों पादको दण्डवत् फैलाकर ऐसा ही करे। इस प्रकार करनेसे महामुद्राका साधन होता है जो सर्वरोगनाशक तथा योगमार्गमें सिद्धिप्रद है।

उड्डीयानबन्ध—उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।
उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥

उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥

उदरको पश्चिमतानयुक्त करके नाभिको आकुञ्चित करनेसे उड्डीयानबन्ध होता है। गगनचारी पक्षियोंकी मुद्रापर उड्डीयानबन्धकी क्रिया बताई गई है। यह बन्ध, मृत्युरूपी मातङ्गके लिये सिंहरूप है।

जालन्धरबन्ध—कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ॥

कण्ठदेशको संकुचित करके हृदयपर चिबुक स्थापन करनेसे जालन्धरबन्ध होता है। इसके द्वारा और सोलह प्रकारके बन्धोंमें सहायता मिलती है।

मूलबन्ध—पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते ॥

वामगुल्फको गुह्यदेशमें और दक्षिणगुल्फको लिङ्गमूलपर दृढ़बन्धके साथ रखकर नाभिग्रन्थिको संकुचित करते हुए मेरुदण्डमें दबाकर गुह्य और लिङ्गमूलको आकुञ्चन करनेसे मूलबन्ध मुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरानाशिनी, वायु-सिद्धिदायिनी तथा मुक्तिदात्री है।

महाबन्ध—वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत्।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥
शनैः सञ्चालयेत्पार्ष्णिं योनिमाकुञ्चयेच्छनैः।
जालन्धरे धृतप्राणो महाबन्धो निगद्यते ॥

वामगुल्फके द्वारा पायुमूलको निरुद्ध करके, दक्षिणगुल्फके द्वारा यत्नपूर्वक वामगुल्फको दबाकर जालन्धरबन्धके द्वारा प्राणवायुको धारण करके शनैः शनैः गुह्यदेशको सञ्चालन और लिङ्गको आकुञ्चित करनेसे महाबन्धमुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा जरामरणनाशिनी तथा सर्वकामनासाधयित्री है।

खेचरीमुद्रा—जिह्वाध नाडीं संछिन्ना रसनां चालयेत्सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लौहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये यदा भवति खेचरी ॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैरेव प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥

भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।
मुद्रामिमां साधयितुं जिह्वानियमनं पुरः॥
प्रधानं तद्धि भवति जिह्वायाश्छेदनं विना।
जिह्वाचालनतालव्यक्रिययाऽपि च सिध्यति॥
प्रच्छन्नेनं क्रिया बोध्या तन्त्रशास्त्रेषु नित्यशः॥

जिह्वाके नीचेकी नाड़ीको छेदन करके जिह्वाकी चालना करना चाहिये और नवनीतके द्वारा दोहन और लौहयन्त्रके द्वारा आकर्षण करना चाहिये। इस प्रकार नित्य अभ्यास करनेसे जिह्वा लम्बी हो जायगी और भ्रूद्वयके बीच तक चली जायगी। उस समय जिह्वाको धीरे-धीरे तालुके बीचमें प्रवेश कराकर वहाँपर कपालकुहरमें विपरीत भावसे स्थापन करके भ्रूमध्यमें दृष्टिस्थापन करनेसे खेचरी मुद्राका साधन होता है। खेचरी मुद्राके साधनके लिये जिह्वाको नियमित करना प्रथम और प्रधान कार्य है सो आवश्यक होनेपर विना छेदनके भी हो सकता है। यह कार्य जिह्वा-चालनरूप तालव्य क्रियासे भी हो सकता है। तालव्य क्रिया अति गुप्त और केवल योगिराज गुरुदेवके मुखसे ही सीखने योग्य है। योगशास्त्रमें खेचरी मुद्राके अपूर्व फल वर्णित किये गये हैं, यथा—खेचरी साधनसे मूर्छा, क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मृत्युभय आदि दूर होकर योगीको दिव्यदेह प्राप्त होता है। खेचरी मुद्राके साधकको अग्नि दग्ध नहीं कर सकती है, वायु शुष्क नहीं कर सकता है, जल गला नहीं सकता है और सर्प दंशन नहीं कर सकता है। खेचरी मुद्रासे देह अपूर्व लावण्ययुक्त हो जाती है और इसकी सिद्धिसे समाधिकी सिद्धि हुआ करती है। कपाल और मुखके सम्मेलन-से रसनामें अद्भुत रसोंकी उत्पत्ति होती है जिसको खेचरीसाधक अनुभव कर सकते हैं। उनकी जिह्वामें यथाक्रम लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दधि, तक्र, द्राक्षा और अमृत रसका आस्वादन होता है जिससे क्षुधानाश और अपूर्व आनन्दकी प्राप्ति होती है।

विपरीतकरणीमुद्रा—नाभिमूले वसेत्सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते सूर्यस्ततो मृत्युवशो नरः॥
निपुणं चन्द्रनाड्या वै पीयते यदि सा सुधा।
कर्हिचिन्नहि तस्याऽस्ति भीतिर्मृत्योर्हि योगिनः॥
ऊर्द्ध्वं च योजयेत्सूर्यं चन्द्रश्चाऽधः समानयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मं समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरो भूत्वा विपरीतकरी मता॥

नाभिमूलमें सूर्यनाड़ी और तालुमूलमें चन्द्रनाड़ी विद्यमान है। सहस्रदल

कमलसे जो पीयूषधारा निकलती है उसे सूर्यनाड़ी ग्रास कर लेती है इसलिये जीव मृत्युमुखमें पतित होता है। यदि सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा चन्द्रनाड़ीसे वह अमृत पान किया जाय तो कदापि मृत्युका भय योगीको नहीं हो सकता है। इसलिये विपरीत-करणीमुद्राके द्वारा योगीको उचित है कि सूर्यनाड़ीको उद्र्ध्वमें और चन्द्रनाड़ीको अधोभागमें लावे। यह मुद्रा बहुत गुप्त है। मस्तकको पृथिवीपर स्थापन करके करद्वयका आधार करते हुए पदयुगलको ऊद्र्ध्वदिशामें उठाकर कुम्भक द्वारा वायु-निरोध करने से विपरीतकरणीमुद्रा हुआ करती है।

योनिमुद्रा—सिद्धासनं समासाद्य कर्णाक्षिनासिकामुखम्।
अङ्गुष्ठतर्ज्जनीमध्याऽनामिकाभिश्च धारयेत्॥
काक्या प्राणं समाकृष्य अपाने योजयेत्ततः।
षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंस मनुना सुधीः॥
चैतन्यमानयेद्देवीं निद्रिता या भुजङ्गिनी।
जीवेन सहितां शक्तिं समुत्थाप्य शिरोऽम्बुजे॥
स्वयं शक्तिमयो भूत्वा शिवेन योजयेत् स्वकम्।
नाना सुखं विहारं च चिन्तयेत्परमं सुखम्॥
शिवशक्तिसमायोगादेकान्तं भुवि भावयेत्।
आनन्दमानसो भूत्वा अहं ब्रह्मेति चिन्तयेत्॥

सिद्धासनमें उपवेशन करके कर्णद्वय वृद्धाङ्गुष्ठद्वय द्वारा, नेत्रयुगल तर्जनीद्वय द्वारा, नासिकाद्वय मध्यमाद्वय द्वारा और मुख अनामिकाद्वय द्वारा निरुद्ध करके काकी मुद्रा द्वारा प्राणवायु आकर्षणपूर्वक अपान वायुके साथ मिलाते हुए शरीरस्थ षट्चक्रोंमें मन ले जाकर 'हुँ' और 'हंस' इन दोनों मन्त्रोंके जप द्वारा देवी-कुलकुण्डलिनीको जगाते हुए जीवात्माके साथ मिलाकर उनको सहस्रदल कमलमें ले जाकर जब साधक ऐसा ध्यान करे, कि मैं शक्तिमय होकर सहस्रारस्थित शिवके साथ मिलित हो परमा-नन्दमें विहार कर रहा हूँ, शिवशक्ति-संयोगसे मैं अद्वितीय आनदरूप ब्रह्म हूँ, तब योनिमुद्राका साधन होता है। यह मुद्रा अति गोपनीय है और इसके साधनसे सकल महापाप भी नष्ट होकर योगीको समाधिकी प्राप्ति होती है।

शक्तिचालिनीमुद्रा—मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाऽऽकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवः पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगविधेरपि॥
उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुञ्चिकया हठात्।

कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत् ॥
नाभिं संवेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः ।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥
वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥
एवमम्बरयोगं च कटिसूत्रेण कल्पयेत् ॥
भस्मना गात्रमालिप्य सिद्धासनमथाचरेत् ।
नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ॥
तावदाकुञ्चयेद्गुह्यं शनैरश्विनिमुद्रया ।
यावद्वायुः सुषुम्नायां न प्रकाशमवाप्नुयात् ॥
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी ।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ॥
योनिमुद्रा न सिध्येद्वै शक्तिचालनमन्तरा ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत् ॥

परमदेवता कुलकुण्डलिनी शक्ति साढ़े तीन फेर लगाकर भुजङ्गाकृति हो मूलाधार पद्ममें स्थित है। वह शक्ति जब तक निद्रिता रहती है, तब तक कोटि-कोटि योगक्रिया करनेसे भी जीवको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती और वह पशुवत् अज्ञानी रहता है। जिस प्रकार कुञ्चिका द्वारा द्वार उद्घाटन किया जाता है, उसी प्रकार कुलकुण्डलिनी शक्तिके जगानेसे ब्रह्मद्वार अपने आप ही खुल जाता है और इस प्रकारसे जीवको ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वस्त्र द्वारा नाभिदेशको वेष्टनपूर्वक गोपनीय गृहमें आसनस्थित होकर शक्तिचालिनी मुद्राका अभ्यास करना उचित है, परन्तु नग्नावस्थामें रहकर खुले हुए स्थानमें कदापि यह साधन न किया जाय। वितस्तिपरिमित लम्बे और चार अंगुल चौड़े सुकोमल, धवल और सूक्ष्म वस्त्र द्वारा नाभिको वेष्टन करके उस वस्त्रको कटि-सूत्र द्वारा सम्बद्ध किया जाय। तत्पश्चात् भस्म द्वारा समस्त शरीर लेपनपूर्वक सिद्धासनपर बैठकर प्राणवायुको नासिका द्वारा आकर्षण करके बलपूर्वक अपानवायुके साथ संयुक्त किया जाय और जब तक वायु सुषुम्ना नाड़ीके भीतर जाकर प्रकाशित न हो, तबतक अश्विनी मुद्रा द्वारा शनैः शनैः गुह्य-देशको आकुञ्चित करना उचित है। इस प्रकारसे निःश्वास रोध करके कुम्भक द्वारा वायुनिरोध करनेसे भुजङ्गाकारा कुण्डलिनी शक्ति जाग्रता होकर ऊपरकी ओर चलने लगती है और पीछे सहस्रदल कमलमें पहुँचकर शिवसंयोगिनी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्राके बिना योनिमुद्रामें पूर्ण सिद्धि नहीं होती है।

इस कारण आगे इस मुद्राका अभ्यास करके तत्पश्चात् योनिमुद्रा अभ्यास करने योग्य है। जो योगी प्रतिदिन इस मुद्राका अभ्यास करते हैं, अष्टसिद्धियाँ उनके करतलगत हो जाती हैं और उनको विग्रहसिद्धिकी प्राप्ति होकर उनके सब रोगोंकी शान्ति हो जाती है।

ताड़ागी मुद्रा—उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा चैव तड़ागवत्।
तड़ागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

पश्चिमोत्तान आसनपर बैठकर उदरको तड़ागाकृति करके कुम्भक करनेसे ताड़ागी मुद्रा हुआ करती है। यह एक प्रधान मुद्रा है, जिसके द्वारा जरा और मृत्यु नष्ट होती है।

शाम्भवी मुद्रा—नेत्रान्तरं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत्।
सा भवेच्छाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥

भ्रूद्वयके मध्यस्थानमें दृष्टि रखकर एकान्तमना हो परमात्माके निरीक्षण करनेसे शाम्भवी मुद्रा होती है, जो सब शास्त्रमें गुप्त है। इसके साधनसे शिवभावप्राप्ति होती है।

पञ्चधारणा मुद्रा—कथिता शाम्भवी मुद्रा शृणुष्व पञ्चधारणाम्।
धारणां वै समासाद्य किन्न सिध्यति भूतले॥
अनेन नरदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम्।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा॥

शाम्भवी मुद्राके वर्णनके बाद पञ्चधारणा मुद्रा कही जाती है। धारणा-सिद्धि होनेसे संसारमें क्या नहीं सिद्ध होता है? इससे नरदेहमें ही स्वर्गमें गमनागमन, मनोगति और खेचरत्व प्राप्त होता है।

पार्थिवीधारणामुद्रा—यत्तत्त्वं हरितालवर्णसदृशं भौमं लकाराऽन्वितम्,
वेदास्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थायि तत्।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्यादधोधारणाम्॥

पृथिवी तत्त्वका वर्ण हरितालकी नाईं, इसका बीज लकार, आकृति चतुष्कोणविशिष्ट और देवता ब्रह्मा है। योगप्रभावसे इस पृथिवी तत्त्वको हृदयके बीच में प्रकाशित करके चित्तके साथ प्राणवायुको आकर्षणपूर्वक पाँच घण्टे तक धारण करनेसे पृथिवीधारणा हुआ करती है, जिसका दूसरा नाम अधोधारणा है। इसके अभ्याससे योगी पृथिवीको जय कर सकता है।

आम्भसीधारणामुद्रा—शङ्खेन्दुप्रतिभं च कुन्दधवलं तत्त्वं किलालं शुभं,
तत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना।

प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा दुःसहपापतापहरणी स्यादाम्भसी धारणा ॥
आम्भसीं परमां मुद्रां यो जानाति स योगवित् ।
गम्भीरेऽपि जले घोरे मरणं तस्य नो भवेत् ॥

जलतत्त्वका वर्ण शंख, शशी और कुन्दवत् धवल है। इसकी आकृति चन्द्रवत्, बीज वकार और देवता विष्णु हैं। योगप्रभावसे हृदयके बीचमें जलतत्त्वका उदय करके चित्तके साथ प्राणवायुको आकर्षण करके पाँच घण्टे तक कुम्भक करनेसे आम्भसीधारणा होता है। इस मुद्राके अभ्याससे कठिन पाप और ताप दूर होता है। आम्भसीमुद्राके ज्ञाता योगी गम्भीर जलमें पतित होनेपर भी नहीं डूबते।

आग्नेयीधारणामुद्रा—यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणाऽन्वितं,
तत्त्वं तेजसमाप्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत्सिद्धिदम् ।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा कालगभीरभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥
प्रदीप्ते ज्वलिते वह्नौ संपतेद्यदि साधकः ।
एतन्मुद्राप्रसादेन स जीवति न मृत्युभाक् ॥

नाभिस्थल अग्नितत्त्वका स्थान है, इसका वर्ण इन्द्रगोप कीटकी नाईं, बीज रकार, आकृति त्रिकोण और देवता रुद्र हैं। यह तत्त्व तेजःपुञ्ज दीप्तिमान् और सिद्धिदायक है। योगाभ्यास द्वारा अग्नितत्त्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो पाँच घण्टे तक कुम्भक द्वारा प्राणवायुको धारण करनेसे आग्नेयीधारणा हुआ करती है। इसके अभ्याससे संसारभय दूर होता है और यदि साधक प्रदीप्त वह्निके बीचमें पतित हो, तो भी इस मुद्राके प्रभावसे उसको कदापि मृत्यु ग्रास नहीं कर सकती।

वायवीधारणामुद्रा—यद्भिन्नाऽञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं धूम्राऽवभासं परं,
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरो देवता।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥
इयं तु धारणामुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
वायुना म्रियते नाऽपि खे गतेश्च प्रदायिनी ॥

वायुतत्त्वका वर्ण मर्दित अञ्जनकी नाईं और धूम्रकी नाईं कृष्णवर्ण, बीज यकार और देवता ईश्वर हैं। यह तत्त्व सत्त्वगुणमय है। योगाभ्यास द्वारा इस तत्त्वका उदय करके एकाग्रचित्त हो कुम्भक द्वारा पाँच घण्टे तक प्राणवायुको धारण करनेसे वायवीधारणा सिद्ध होती है। इस मुद्राके साधनसे जरामृत्यु नाश होता

है, इसमें सिद्धिप्राप्त साधक वायुसे कदापि मृत्युको प्राप्त नहीं होते हैं और उनमें आकाशमार्गमें विचरण करनेकी शक्ति हो जाती है।

आकाशीधारणामुद्रा—यत्सिन्धौ वरशुद्धवारिसदृशं व्योमं परं भासितं,
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकाराऽन्वितम्।
प्राणांस्तत्र विलीय पञ्चघटिकाश्चित्ताऽन्वितं धारये-
देषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणाम्॥
आकाशीधारणामुद्रां यो वेत्ति स च योगवित्।
न मृत्युर्जायते तस्य प्रलयेऽपि न सीदति॥

आकाशतत्त्वका वर्ण विशुद्ध सागर वारिकी नाईं, बीज हकार और देवता सदाशिव हैं। योगसाधन द्वारा इस तत्त्वको उदित करके एकाग्रचित्त हो प्राणवायु आकर्षणपूर्वक पाँच घण्टे तक कुम्भक करनेसे आकाशधारणाकी सिद्धि होती है। यह धारणा मुक्तिद्वारका उद्घाटन करती है। इसको जो जानते हैं, वे ही परम योगवेत्ता हैं, उनको मृत्यु कदापि ग्रास नहीं करती है और प्रलयकालमें भी वे जीवित रह सकते हैं।

अश्विनीमुद्रा—आकुञ्चयेद् गुदद्वारं भूयोभूयः प्रकाशयेत्।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिबोधनकारिणी॥

गुह्यद्वारको पुनः पुनः आकुञ्चन और प्रसारण करनेसे अश्विनी मुद्राका साधन होता है, जो शक्तिबोधनकारिणी है। इस मुद्राके द्वारा सर्वरोग नाश, बल और पुष्टि तथा अकाल मृत्युनाश होता है।

काकीमुद्रा—काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः।
काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी॥

काकचञ्चुवत् मुँह करके धीरे-धीरे वायुपान करनेसे काकीमुद्रा होती है जो समस्त रोगोंको नष्ट करती है।

मातङ्गिनीमुद्रा—कण्ठमग्ने जले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्पुनर्वक्त्रेण चाऽहरेत्॥
नासाभ्यां रेचयेत्पश्चात्कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

आकण्ठ जलमें अवस्थित होकर दोनों नाकसे जल उठाकर मुखसे निकाल देवे और पुनः मुखसे जल लेकर नाकसे रेचन करे, इस प्रकार पुनः पुनः करने पर मातङ्गिनीमुद्राका साधन होता है, जो जरा और मृत्युकी नाशकारिणी है।

भुजङ्गिनीमुद्रा—वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्याऽनिलं कण्ठेन यत्पिबेत्।
सा भवेद् भुजगी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी॥

मुखको किञ्चित् फैलाकर कण्ठके द्वारा वायुपान करनेसे भुजङ्गिनी मुद्राका साधन होता है जो जरा और मृत्यु का नाश करनेवाली है।

पंचविंश मुद्राओंमेंसे कुछ मुद्राओंका वर्णन किया गया। अन्यान्य मुद्राएँ यथा—वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदिका लक्षण योगिराज गुरुदेवसे ज्ञातव्य है।

मुद्राओंके साधन द्वारा योगमार्गमें अग्रसर होनेवाले साधकोंको अनेक लाभ प्राप्त होते हैं। मुद्राओंके द्वारा प्राणायाम सिद्धिकी सहायता, प्रत्याहारमें सहायता, धारणामें सहायता और बिन्दुध्यानमें सहायता इस प्रकारसे अनेक क्रियाओंमें सहायता प्राप्त होती है। प्रथमतः प्राणायामकी सिद्धिमें मुद्राएँ विशेषरूपसे सहायक होती हैं और प्रत्याहार उत्पन्न करके धारणामें विशेष सहायक होती हैं। इसी कारण मुद्रा द्वारा स्थिरता उत्पन्न होती है ऐसा कहा गया है।

हठयोगके चतुर्थ अङ्गका नाम प्रत्याहार है। षट् कर्म, आसन तथा मुद्राके साधनोंमें सिद्धि प्राप्त करके गुरुआज्ञानुसार साधक प्रत्याहारका साधन करेंगे, जिसके फलसे शीघ्र ही प्रकृतिजय तथा कामादि रिपुओंका नाश हो जायगा।

श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

चञ्चल मन जहाँ जहाँ पर भागने लगता है उन सभी स्थानोंसे मनको हटाकर आत्मामें ही संयत करे। यही प्रत्याहारकी क्रिया है। तदनुसार हठयोग शास्त्रमें लिखा है—

यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनः स्पर्शयोगतः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
सुगन्धे वापि दुर्गन्धे घ्राणेषु जायते मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥
मधुराम्लकतिक्तादि रसं याति यदा मनः।
तस्मात्प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत्॥

जहाँ जहाँपर दृष्टि जाती है, वहाँ मन भी जाता है। इसलिये प्रत्याहार द्वारा मनको वहाँसे हटाकर आत्मामें वशीभूत करे। शीत हो या उष्ण मन स्पर्शयोगसे विषयमें सम्बद्ध होता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें संयत करे। सुगन्ध हो अथवा दुर्गन्ध मन घ्राणेन्द्रियके योगसे विषयमें बद्ध हो जाता है, इसलिये मनको विषयसे हटाकर आत्मामें एकाग्र करे। मधुर, अम्ल, तिक्त आदि रसोंमें

रसनेन्द्रियकी सहायतासे मन जाता रहता है, इसलिये वहाँसे मनको हटाकर आत्मामें केन्द्रीभूत करे। यही सब प्रत्याहारकी क्रियाएँ हैं।

जब योगी बहिर्जगत्‌की आसक्तिको छिन्न करके अन्तर्जगत्‌में प्रवेश करनेमें समर्थ होने लगता है, तभी प्रत्याहारकी सिद्धि उत्पन्न होती है और इसी कारण प्रत्याहारके द्वारा आध्यात्मिक धैर्य उत्पन्न होता है और इसी समयसे योगीको अन्य प्रकारकी दैवी सिद्धियोंके प्राप्त करनेकी सम्भावना रहती है।

प्रसङ्गोपात्त सिद्धियोंका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्रमें लिखा है—

चतुर्विधाः सिद्धयः स्युः प्राप्या या योगवित्तमैः।
आध्यात्मिकी चाऽधिदैवी सहजा चाऽधिभौतिकी॥
मन्त्रौषधितपोभिश्च प्राप्यन्ते सिद्धयोऽखिलाः।
स्वरोदयेनापि तथा संयमेनेति निश्चयः॥
इत्थं चतुर्विधा भेदाः सिद्धेः प्रोक्ता मनीषिभिः।
भौमस्थूलपदार्थानां सिद्धिः स्यादाऽऽधिभौतिकी॥
दैवशक्तिसमापत्तिर्यत्र सा चाऽऽधिदैविकी।
आध्यात्मिकी च विज्ञेयाः प्रज्ञासम्बद्धसिद्धयः॥
उन्नतश्चाधिकारोऽस्याः परमः प्रोच्यते बुधैः।
आविर्भावो हि वेदानां जायते यत्र निश्चितम्॥
सहजाः सिद्धयः प्रोक्ता जीवन्मुक्तस्य सिद्धयः।
सिद्धेर्हि बहवो भेदा विनिर्दिष्टा महर्षिभिः॥

योगियोंको प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ चार प्रकारकी होती हैं, यथा—अध्यात्मसिद्धि, अधिदैवसिद्धि, अधिभूतसिद्धि और सहजसिद्धि। वे सब सिद्धियाँ मन्त्र, औषधि, तप, स्वरोदय और संयमशक्ति द्वारा प्राप्त होती हैं। सिद्धिके पूर्वोक्त चार भेद इस प्रकारके हैं, यथा—भौतिक स्थूल पदार्थोंकी प्राप्ति आधिभौतिकसिद्धि कहाती है, दैवी शक्तियोंकी प्राप्ति अधिदैवसिद्धि है। प्रज्ञासे युक्त सिद्धियाँ आध्यात्मिक हैं, इसका अधिकार बहुत उन्नत है और वेदका आविर्भाव इसी अवस्थामें होता है। जीवन्मुक्त महात्माओंको जगत्कल्याण साधनके लिये जो सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं, उनका नाम सहजसिद्धि है। महर्षियोंने सिद्धिके अनेक भेद बताये हैं। अब नीचे सिद्धियोंके भेद निर्देश किये जाते हैं—

प्रतिभा प्रथमा सिद्धिर्द्वितीया श्रवणा स्मृता।
तृतीया वेदना चैव तुरीया चेह दर्शना॥
आस्वादा पञ्चमी प्रोक्ता वार्त्ता वै षष्ठिका स्मृता।

बुद्धिर्विवेचना वेद्या बुध्यते बुद्धिरुच्यते ॥
प्रतिभा प्रतिभावृत्तिः प्रतिभाव इति स्थितिः ।
सूक्ष्मे व्यवहितेऽतीते विप्रकृष्टे त्वनागते ॥
सर्वत्र सर्वदा ज्ञानं प्रतिभानुक्रमेण तु ।
श्रवणा सर्वशब्दानामप्रयत्नेन योगिनः ॥
ह्रस्वदीर्घप्लुतादीनां गुह्यानां श्रवणादपि ।
स्पर्शस्याऽधिगमो यस्तु वेदना तूपपादिता ॥
दर्शना दिव्यरूपाणां दर्शनं चाऽप्रयत्नतः ।
संविद्दिव्यरसे तस्मिन्नास्वादो ह्यप्रयत्नतः ॥
वार्त्ता च दिव्यगन्धानां तन्मात्रा बुद्धिसंविदा ।
विन्दन्ते योगिनस्तस्मादाब्रह्मभुवनं ध्रुवम् ॥

प्रतिभा, श्रवणा, वेदना, दर्शना, आस्वादा और वार्त्ता सिद्धियोंके छः भेद हैं। वेद्यवस्तुका ज्ञान विचार द्वारा जिससे हो उसे बुद्धि कहते हैं, परन्तु प्रतिभा उस बुद्धिको कहते हैं, जिसके द्वारा विना विवेचन किये ही केवल दर्शनमात्रसे वेद्यवस्तुका ज्ञान हो जाय। सूक्ष्म, व्यवहित, अतीत, विप्रकृष्ट और भविष्यद् वस्तुका ज्ञान प्रतिभासे होता है। जिस अवस्थामें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और गुप्त आदि शब्दोंका श्रवण योगीको विना प्रयत्नसे होने लगे, उस सिद्धिका नाम श्रवणा है। सकल वस्तुओंके अनायास स्पर्शज्ञानका नाम वेदना है। अनायास दिव्य-रूपोंके दर्शनका नाम दर्शना है। विना प्रयत्नके जब दिव्यरसोंका आस्वादन होने लगे, तब उसे आस्वादा कहते हैं और जब दिव्यगन्धोंका अनुभव योगीको होने लग जाय तो उसको वार्त्ता कहते हैं। इस अवस्थामें योगीको सकल ब्रह्माण्डका ज्ञान हो जाता है। सिद्धियोंके विषयमें और भी लिखा है—

समाधिबुद्धिः प्राकाश्यं येन याति निरन्तरम् ।
स संयमो मुख्यतमः प्रोच्यते कृतबुद्धिभिः ॥
यदृच्छाचारिताप्राप्तिः संयमस्य विवृद्धितः ।
कुत्र संयमतः सिद्धिः प्राप्यते का हि योगिभिः ॥
विज्ञेयमेतद्गुरुभिर्योगमार्गविशारदैः ।
संयमः प्राप्यते धीरैः समाधावेव केवलम् ॥
शक्तयोऽन्याः प्रपद्यन्ते पूर्वभूमौ मनीषिभिः ।
हठयोगिषु मुख्या स्यात्तपःशक्तिश्च साऽऽप्यते ॥

प्रत्याहारे शुभकराः सिद्धयो हि सुखावहाः ।
तथापि सर्वथा हेया आत्मप्राप्तिमभीप्सुभिः ॥
न ताभिर्मोह आप्येत स्वात्मोन्नतिनिरीक्षकाः ॥

संयमके द्वारा समाधि-विषयिणी बुद्धिका प्रकाश होता है। संयम ही मुख्य है। संयमशक्तिकी वृद्धि द्वारा योगी जो चाहे सो कर सकता है। कहाँ-कहाँ संयम करनेसे क्या-क्या सिद्धि प्राप्त होती है सो योगिराज श्रीगुरुदेवसे जानने योग्य है। संयमशक्ति समाधिभूमिमें प्राप्त होती है; परन्तु अन्यान्य शक्तियाँ पहलेकी भूमियोंमें भी प्राप्त हो सकती हैं। हठयोगियोंमें तपःशक्तिकी प्रधानता है सो प्रत्याहारभूमिमें ही प्राप्त हो सकती है। सिद्धियाँ परम सुखकर होनेपर भी सर्वथा निन्दनीय और हेय हैं। आत्मोन्नतिके इच्छुक योगी वैराग्यकी सहायतासे उनमें विमोहित न हों ऐसा ही योगानुशासन है, क्योंकि स्थूलजगत्की रजतकाञ्चनादि स्थूल सम्पत्तियोंकी तरह सिद्धियाँ भी सूक्ष्मजगत्की सम्पत्तिविशेष हैं। अतः इनमें फँस जानेपर विषयबद्ध जीवोंकी तरह सिद्धिरूप सूक्ष्मविषयबद्ध योगी परमात्माके राज्यमें अग्रसर नहीं हो सकते हैं। उनकी सारी उन्नतियोंका पथ रुद्ध हो जाता है और पतनकी भी सम्भावना हो जाती है। इसलिये श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है—

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

सिद्धियाँ समाधि दशाके लिए विघ्न मात्र हैं परन्तु व्युत्थान दशामें हितकर हैं; क्योंकि व्युत्थान दशामें सिद्धियोंका चमत्कार देखनेसे साधकके हृदयमें दैवजगत्के प्रति विश्वास दृढ़ होता है और साधनमार्गमें रुचि बढ़ती है। जिस प्रकार बालकको मिठाईका लोभ देकर पढ़नेमें रुचि बढ़ाई जाती है उसी प्रकार साधनमार्गमें प्राथमिक दशाके साधकोंके लिए सिद्धिका लोभ साधनमार्गमें प्रवृत्ति उत्पन्न करनेवाला है। इसका इतना ही प्रयोजन हृदयङ्गम करके मुमुक्षु साधकको विचलित और मोहग्रस्त नहीं होना चाहिये और अनायासप्राप्त सिद्धियोंके प्रति उपेक्षा करके आध्यात्मिक मार्गमें धीरताके साथ पुरुषार्थपरायण होना चाहिये।

हठयोगके पञ्चम अङ्गका नाम प्राणायाम है, जिसके विषयमें योगशास्त्रमें वर्णन है—

प्रधानशक्तयः प्राणास्ते वै संसाररक्षकाः ।
वशीकृतेषु प्राणेषु जीयते सर्वमेव हि ॥
प्राणास्तु द्विविधा ज्ञेयाः स्थूलसूक्ष्मप्रभेदतः ।
यया जयः स्यात्प्राणानां प्राणायामः स चोच्यते ॥
मन्त्रे स्याद्धारणा मुख्या त्रिभेदास्तु जपक्रियाः ।
हठे वायुप्रधाना वै प्रोक्ता प्राणजपक्रिया ॥

मनःप्रधाना भवति साध्या सूक्ष्मक्रिया लये ।
सा च वायुप्रधाना हि सर्वश्रेयस्करी मता ॥
आदौ स्थानं तथा कालं मिताऽऽहारं ततः परम् ।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात् प्राणायामे च साधयेत् ॥

प्राण ही महाशक्ति हैं, प्राण ही जगत्के रक्षक हैं, प्राणके वशीभूत करनेसे सब कुछ जय हो जाता है । स्थूल सूक्ष्म भेदसे प्राणके दो भेद हैं । प्राण जय करनेवाली क्रियाको प्राणायाम कहते हैं । मन्त्रयोगमें प्राणजय क्रिया धारणाप्रधान है । हठयोगमें वायुप्रधान है और लययोगमें जो सूक्ष्म प्राणजय क्रिया होती है वह मनःप्रधान है । वायुप्रधान प्राणजय क्रिया ही सर्वहितकर है । अब प्राणायामका वर्णन किया जाता है । प्राणायाम साधनके लिये चार बातोंकी आवश्यकता है । यथा— प्रथम उपयुक्त स्थान, द्वितीय नियमित समय, तृतीय मिताहार और चतुर्थ नाड़ीशुद्धि । हठयोगशास्त्रमें आठ प्रकारके प्राणायाम बताये गये हैं । यथा—

सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाऽष्टकुम्भकाः ॥

सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली, ये आठ प्राणायाम हैं । अब इन प्राणायामोंके पृथक् पृथक् लक्षण बताये जाते हैं ।

सहितप्राणायाम—सहितो द्विविधः प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः ।
सगर्भो बीजसहितो निगर्भो बीजवर्जितः ॥
प्राणायामं सगर्भं च प्रथमं कथयामि ते ।
सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखो वाऽप्युदङ्मुखः ॥
ध्यायेद् विधिं रजोरूपं रक्तवर्णमवर्णकम् ।
इडया पूरयेद्वायुं मात्राषोडशकैः सुधीः ॥
पूरकान्ते कुम्भकाग्रे उड्डीयानं समाचरेत् ।
हरिं सत्वमयं ध्यात्वा उकारं कृष्णवर्णकम् ॥
चतुःषष्ट्या मात्रया वै कुम्भकेनैव धारयेत् ।
तमोमयं शिवं ध्यात्वा मकारं शुक्लवर्णकम् ॥
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद् विधिना पुनः ।
पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य कुम्भकेनैव धारयेत् ॥
इडया रेचयेत्पश्चात्तद्बीजेन क्रमेण तु ।
अनुलोमविलोमेन वारं वारं च साधयेत् ॥

पूरकान्ते कुम्भकान्ते धृतनासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठाऽनामिकाऽङ्गुष्ठैस्तर्जनीमध्यमे विना ॥
प्राणायामो निगर्भस्तु विना बीजेन जायते ।
एकादिशतपर्यन्तं पूरकुम्भकरेचनम् ॥
उत्तमा विंशतिर्मात्रा मध्या षोडशमात्रिका ।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामास्त्रिधा स्मृताः ॥
अधमाज्जायते स्वेदो मेरुकम्पश्च मध्यमात् ।
उत्तमाच्च क्षितित्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम् ॥
प्राणायामात्खेचरत्वं प्राणायामाद्रुजाक्षयः ।
प्राणायामाच्छक्तिबोधः प्राणायामान्मनोन्मनी ॥
आनन्दो जायते चित्ते प्राणायामी सुखी भवेत् ॥

सहित प्राणायाम दो प्रकारका होता है। यथा—सगर्भ और निगर्भ। जो प्राणायाम बीजमन्त्र सहित किया जाय उसको सगर्भ और जो बीजमन्त्ररहित हो उसे निगर्भ कहते हैं। अब सगर्भ प्राणायामकी विधि बताई जाती है। पूर्व या उत्तर दिशामें मुख करके सुखकर आसन पर बैठकर ब्रह्माका ध्यान करे। वह रक्त वर्ण, अकाररूपी और रजोरूप हैं। तत्पश्चात् 'अँ' इस बीजमन्त्रको षोडश वार जप-द्वारा वाम नासिकासे वायुपूरण करे, कुम्भक करनेके पहले और वायुपूरण करनेके पश्चात् उड्डीयानबन्धका आचरण करना उचित है। तदनन्तर सत्त्वगुणयुक्त उकार-रूपी कृष्णवर्ण हरिके ध्यानपूर्वक 'उँ' बीजको चौसठ वार जपपूर्वक कुम्भकद्वारा वायुको धारण करना उचित है। तत्पश्चात् तमोगुण मकाररूपी श्वेतवर्ण शिवका ध्यानपूर्वक 'मँ' बीजको द्वात्रिंशत् वार जप करते हुए दक्षिण नासिका द्वारा वायु रेचन कर दिया जाय। पुनः ऊपर लिखी हुई रीतिपर बीजमन्त्र जप द्वारा यथासंख्या और क्रमसे दक्षिण नासिका द्वारा वायुपूरण करके कुम्भक करते हुए वाम नासिका द्वारा वायुरेचन कर दिया जाय। इस प्रकार तीन आवृत्तिमें एक प्राणायाम होता है। इसी रीतिपर अनुलोम-विलोम द्वारा पुनः-पुनः प्राणायाम अनुष्ठान करने योग्य है। वायुपूरणके अन्तमें और कुम्भक शेषपर्यन्त तर्ज्जनी, मध्यमाके बिना कनिष्ठा, अनामिका और अङ्गुष्ठा, इन तीन अङ्गुलियोंके द्वारा नासापुटद्वय धारण किया जाय। जो प्राणायाम बीजमन्त्र जप किये बिना साधन किया जाता है उसे निगर्भ प्राणायाम कहते हैं। पूरक, कुम्भक और रेचक, इन तीनों अङ्गोंसे समन्वित प्राणायामकी विधिका क्रम एक संख्यासे लेकर शत संख्या तक है। मात्राके अनुसार प्राणायाम साधनके तीन भेद हैं, यथा—विंशति मात्रा साधन, षोडश मात्रा साधन और द्वादश मात्रा साधन। विंशति मात्रा उत्तम, षोडश मात्रा मध्यम और द्वादश मात्रा अधम है। अधममात्राकी सिद्धिसे शरीरमें स्वेदनिर्गम, मध्यममात्राकी सिद्धिसे मेरुदण्ड

कम्पन और उत्तममात्राकी सिद्धिसे भूमि त्यागकर शून्यमार्गमें उत्थान होता है। प्राणायाम साधनसे खेचरत्वप्राप्ति, आकाशमें उत्थान, सब रोगोंका नाश, शक्तिबोधन, मनोन्मनी और चित्तमें परमानन्द प्राप्ति होती है।

सूर्यभेदीप्राणायाम—कथितः सहितः कुम्भः सूर्यभेदनकं शृणु।
पूरयेत्सूर्यनाड्या च यथाशक्त्यनिलं बहिः॥
धारयेद्बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरैः।
यावत्स्विन्नाः केशनखास्तावत्कुर्वन्तु कुम्भकम्॥
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः॥
हृदि प्राणो वहेन्नित्यमपानो गुदमण्डले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः॥
व्यानो व्याप्य शरीरं तु प्रधानाः पञ्चवायवः।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्या पञ्चवायवः॥
तेषामपि च पञ्चानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उद्गारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः॥
कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे।
न जहाति मृते क्वाऽपि सर्वव्यापी धनञ्जयः॥
नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम्।
क्षुत्तृषं कृकरश्चैव चतुर्थं च विजृम्भणम्॥
भवेद्धनञ्जयाच्छब्दः क्षणमात्रं न निःसरेत्॥
सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत्।
इडया रेचयेत्पश्चाद्धैर्येणाऽखण्डवेगतः॥
पुनः सूर्येण चाऽकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि।
रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः॥
बोधयेत्कुण्डलीं शक्तिं देहवह्निं विवर्धयेत्।
इति ते कथितं चण्ड! सूर्यभेदनमुत्तमम्॥

सहित प्राणायाम कहा गया। अब सूर्यभेदी प्राणायाम कहा जाता है। सबसे पहले जालन्धरबन्ध मुद्राका अनुष्ठान करके दक्षिण नासिका द्वारा वायुपूरण करते हुए यत्नपूर्वक कुम्भक द्वारा वायुको धारण किये रहे और जबतक नख और केश द्वारा स्वेदनिर्गम न हो तब तक कुम्भक ही किया जाय। प्राण, अपान, समान,

उदान और व्यान, ये पञ्चवायु अन्तरस्थ और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय, ये पञ्चवायु बहिःस्थित हैं। प्राण हृदयमें, अपान गुह्यमें, समान नाभिमें, उदान कण्ठमें और व्यान समस्त शरीरमें व्याप्त है। ये पाँच अन्तरके वायु हैं। बहिःस्थ पाँच वायुओंमेंसे नागवायु उद्गारमें, कूर्मवायु उन्मीलनमें, कृकरवायु क्षुत्कारमें, देवदत्तवायु जृम्भणमें और धनञ्जयवायु देहत्याग होनेपर भी शरीरमें स्थित रहता है। नागवायु चैतन्य प्राप्त कराता है, कूर्मवायु निमेषण करता है, कृकरवायु क्षुधा और तृष्णा को बढ़ाता है, देवदत्तवायु जृम्भण कार्य कराता है और धनञ्जय वायुके द्वारा शब्दकी उत्पत्ति होती है और यह कदापि शरीरको त्याग नहीं करता है। सूर्यभेदी प्राणायाम करते समय उल्लिखित प्राणादि वायुसमूहको पिङ्गला नाडी द्वारा विभिन्न करके मूल देशसे समानवायुको उठाया जाय, तदनन्तर धैर्यपूर्वक वेगसे वाम नासिका द्वारा रेचनकर दिया जाय। पुनरपि दक्षिण नासापुट द्वारा वायुपूरण करके सुषुम्नामें कुम्भक करके वाम नासापुट द्वारा रेचन कर दिया जाय। इसी प्रकार पुनः पुनः करनेसे सूर्यभेदी कुम्भक हुआ करता है। यह प्राणायाम जरा और मृत्युका नाश करनेवाला है। इसके द्वारा कुण्डलिनी शक्ति प्रबुद्ध होती है और देहस्थ अग्निकी वृद्धि हो जाती है।

उज्जायीप्राणायाम—नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य वायुं वक्त्रे च धारयेत्॥
मुखं प्रक्षाल्य संवन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः॥
उज्जायीकुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः॥
नश्यन्ति सकला रोगाः साधनादस्य निश्चितम्॥

बहिःस्थित वायु नासिका द्वारा आकर्षण करके और अन्तःस्थ वायुको हृदय और गलदेश द्वारा आकर्षण करके मुखमें कुम्भक द्वारा धारण किया जाय। तदनन्तर मुखप्रक्षालनपूर्वक जालन्धरमुद्राका अनुष्ठान किया जाय, इस प्रकार निज शक्तिके अनुसार वायुको धारण करनेसे उज्जायी प्राणायामका साधन हुआ करता है। इसके साधनसे सर्वकार्यसिद्धि होती है, जरामृत्युनाश तथा सकल रोगोंकी शान्ति होती है।

शीतलीप्राणायाम—जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥
सर्वदा साधयेद् योगी शीतली कुम्भकं चरेत्।
सर्वे रोगा विनश्यन्ति योगसिद्धिश्च जायते॥

जिह्वा द्वारा आकर्षण पूर्वक धीरे धीरे उदरमें पूर्ण करके थोड़ी देर कुम्भक

करके नासिका द्वारा उसे रेचन कर देवे। यही शीतली प्राणायाम कहलाता है जिसके सर्वदा साधनसे सकल रोगनाश और योगसिद्धि प्राप्त होती है।

भस्त्रिकाप्राणायाम—भस्त्रेव लोहकाराणां संभ्रमेत् क्रमशो यथा।
तथा वायुं च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः॥
एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि॥
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः।
न च रोगा न च क्लेश आरोग्यं च दिने दिने॥

लोहारोंके भस्त्रिका यन्त्रके द्वारा जिस प्रकार वायु-आकर्षण किया जाता है उसी प्रकार नासिका द्वारा वायु आकर्षणपूर्वक शनैः शनैः उदरमें भरे। इस प्रकार बीस दफे करके पश्चात् कुम्भक द्वारा वायु धारण करते हुए भस्त्रिका यन्त्रके द्वारा वायुनिर्गमकी तरह उदरस्थ वायुको नासिका द्वारा निकाल देवे। ऐसा करनेसे भस्त्रिका प्राणायाम होता है। यह कुम्भक यथानियम तीन बार आचरण करने योग्य है। इसके साधन किसी प्रकारका रोग या क्लेश साधकके शरीरमें नहीं होता है और दिन-दिन आरोग्यता बढ़ती जाती है।

भ्रामरीप्राणायाम—अर्द्धरात्रे गते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात्पूरककुम्भकम्॥
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
प्रथमं झिंझिनादं च वंशीनादं ततः परम्॥
मेघझर्झरभृङ्गौघघण्टाकांस्यं ततः परम्।
तूरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानकदुन्दुभिः॥
एवं नानाविधो नादः श्रूयेताभ्यसनाद्ध्रुवम्।
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति यद्विष्णोः परमं पदम्॥
भ्रामरीसिद्धिमापन्नः समाधेः सिद्धिमाप्नुयात्।

अर्द्धरात्रि बीत जानेके बाद जीव-जंतुओंके शब्दसे वर्जित स्थान पर योगी हस्त द्वारा कानोंको बन्द करके पूरक और कुम्भकका अनुष्ठान करे। इस प्रकार कुम्भकके द्वारा साधकके दक्षिण कर्णमें शरीरके भीतरसे उत्पन्न नाना प्रकारके शब्द सुनाई देते हैं। प्रथम झिल्लीरव, तदनन्तर वंशीरव, तदनन्तर क्रमशः मेघध्वनि, झर्झरी वाद्यध्वनि, भ्रमर गुनगुन ध्वनि सुनाई देती है। पश्चात् घंटा, कांस्य, तूरी, भेरी,

मृदङ्ग, आनकदुन्दुभि आदि शब्द श्रुतिगोचर होते हैं। इस प्रकार अभ्यास करते-करते निश्चय ही नानाविध शब्द सुननेमें आते हैं और पीछेसे अनाहत शब्दकी प्रतिध्वनि सुननेमें आती है। तत्पश्चात् साधक ध्वनिके अन्तर्गत ज्योति और ज्योतिके अन्तर्गत परब्रह्ममें मन लय करता हुआ परम पदमें मनको विलीन कर देता है। इस प्रकारसे भ्रामरी सिद्धि द्वारा समाधिलाभ होता है।

मूर्च्छाप्राणायाम—सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनो भ्रूयुगलान्तरम् ॥
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।
आत्मना मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥
एवं नानाविधानन्दो जायतेऽभ्यासतः स्फुटम्।
एवमभ्यासयोगेन समाधेः सिद्धिमाप्नुयात् ॥

सुखसे कुम्भकका अनुष्ठान करते हुए मनको विषयोंसे हटाकर भ्रू-युगलके मध्यमें स्थिर करके मनकी लयावस्था उत्पन्न करनेसे मूर्च्छा प्राणायामका साधन होता है। इस साधन के द्वारा निश्चय ही योगानन्दका उदय, अभ्यास परिपाकके साथ नाना प्रकारके आनन्दकी उत्पत्ति और समाधिसिद्धि प्राप्त होती है।

केवलीप्राणायाम—भुजङ्गिन्याः श्वासवशादजपा जायते ननु।
हङ्कारेण बहिर्याति सःकारेण विशेत्पुनः ॥
षट्शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशतिम्।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा ॥
मूलाधारे यथा हंसस्तथा हि हृदिपङ्कजे।
तथा नासापुटद्वन्द्वे त्रिभिर्हंससमागमः ॥
षण्णवत्यङ्गुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्।
देहाद्बहिर्गतो वायुः स्वभावाद्द्वादशाङ्गुलिः ॥
गायने षोडशाङ्गुल्यो भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशाङ्गुलिः पान्थे निद्रायां त्रिंशदङ्गुलिः ॥
मैथुने षड्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम्।
स्वभावेऽस्य गते न्यूनं परमायुः प्रवर्द्धते ॥
आयुःक्षयोऽधिके प्रोक्तो मारुते चान्तराद्गते।
तस्मात्प्राणे स्थिते देहे मरणं नैव जायते ॥
वायुना घटसम्बन्धे भवेत्केवलकुम्भकम्।
यावज्जीवं जपेन्मन्त्रमजपाख्यं यथाविधि ॥

केवली चाऽजपा सङ्ख्या द्विगुणा च मनोन्मनी।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ॥
कुम्भकस्य न काठिन्यमक्रमौ पूररेचकौ।
विद्यते यत्र सा ज्ञेया सुसाध्या केवली क्रिया ॥
वशीभवत्सु प्राणेषु गुरूणामुपदेशतः।
अवाप्यन्ते क्रियाः सर्वा नियम्याः प्राणवायवः ॥
आदौ प्राणक्रिया तस्मात्संयम्या भवति ध्रुवम्।
अस्याः समुन्नताऽवस्थां प्राप्य सा साध्यते स्वतः ॥
मनोऽपनीय विषयाद्भ्रूमध्ये तन्निवेशयेत्।
प्राणापाननिरोधेन जायते केवलीक्रिया ॥
समाधिदश्च त्रिविधांस्तापान्नाशयति ध्रुवम्।
सिद्धेऽस्मिन्योगयुक्तानामप्राप्यं नैव किञ्चन ॥

भुजङ्गिनीके श्वाससे अर्थात् कुण्डलिनी शक्तिके प्रभावसे जीव सदा अजपा जप करता है, जिसमें श्वास निकलते समय 'हं' और प्रवेश करते समय 'सः' मन्त्र उच्चारण होकर अजपा जप होता है। हंस अर्थात् 'सोऽहं' नामक अजपा गायत्रीका जप जीव दिवारात्रि २१६०० बार करता रहता है। मूलाधार पद्म, हृदयपद्म और नासापुटद्वय इन तीनोंके द्वारा यह जप होता है। कर्मायतन यह शरीर ९६ अंगुली परिमित है। देहसे वहिर्गत वायुकी स्वाभाविक गति १२ अंगुलि है, गायनमें १६ अंगुलि, भोजनमें २० अंगुलि, रास्ता चलनेमें २४ अंगुलि, निद्रामें ३० अंगुलि और मैथुन में ३६ अंगुलि श्वासकी गति होती है। व्यायाममें इससे भी अधिक गति होती है। इस स्वाभाविक गतिके ह्रास होनेसे आयुवृद्धि और स्वाभाविक गतिके बढ़ जानेसे आयुका ह्रास होता है। जब तक शरीरके भीतर प्राण स्थित रहता है तबतक मृत्यु नहीं होती है। जीव देह धारण करके जबतक जीवित रहता है तबतक वह परिमित संख्याके अनुसार अजपा जप करता रहता है। देहके बीचमें प्राणवायु का धारण करना ही केवली कुम्भक कहाता है। केवली कुम्भक साधन जितना अधिक होता है उतनी ही मनकी लयावस्था हुआ करती है। नासापुट द्वारा वायु आकर्षणपूर्वक केवली कुम्भक किया जाता है। केवलीकी क्रिया सहज कहाती है क्योंकि उसमें रेचक पूरकका कोई क्रम नहीं है और न कुम्भककी कठिनता है। प्राण-पर कुछ आधिपत्य हो जानेसे श्रीगुरूपदेश द्वारा इसकी क्रिया प्राप्त होती है। प्रथम अवस्थामें प्राणवायुको नियमित करके प्राणकी क्रिया संयमित करनी पड़ती है और इसकी उन्नत अवस्थामें स्वतः ही इसका साधन होता है। इन्द्रियविषयोंसे मनको हटाकर भ्रू-युगलके बीचमें मनको स्थापित करते हुए अपान और प्राण दोनोंकी गति

रुद्ध करनेके उपायसे केवली प्राणायामकी क्रिया होती है। केवली प्राणायाम समाधि-प्रद और त्रितापनाशक है। इसकी सिद्धिमें योगीको कुछ भी अभाव नहीं रहता।

हठयोगमें प्राणायामको सर्वोत्कृष्ट साधन करके माना गया है। हठयोगका ज्योतिर्ध्यान और हठयोगकी महाबोध समाधि दोनोंमें ही प्राणजयका साक्षात् सम्बन्ध करनेसे प्राणायामकी इस प्रकार मुख्यता हठयोगमें मानी गई है। प्राणायाम सिद्धि द्वारा प्राणजय होकर मनोवृत्तिका निग्रह शीघ्र हो जाता है।

हठयोगके षष्ठ अङ्गका नाम ध्यान है। इसके विषयमें योगशास्त्र में लिखा है—

मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगः पृथक् पृथक्।
स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानन्तु त्रिविधं विदुः॥
स्थूलं मूर्त्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं भवेत्।
विन्दुं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता॥
स्थूलध्यानं हि मन्त्रस्य विविधं परिकीर्त्तितम्।
उपासनां पञ्चविधामनुसृत्य महर्षिभिः॥
एकं वै ज्योतिषो ध्यानमधिकारस्य भेदतः।
साधकानां विनिर्दिष्टं त्रिविधं ध्यानधाम वै॥
ध्यानं यद्‌ब्रह्मणस्तेजोमयं दीपस्फुलिङ्गकम्।
ज्योतिर्ध्यानं हि भवति प्रकृतेः पुरुषस्य च॥
अहं ममेतिवत्तौ चाऽभिन्नौ हि परिकीर्त्तितौ।
ध्यानं वै ब्रह्मणस्तेजोमयं रूपं प्रकल्पयेत्॥
ज्योतिर्ध्यानं भवेत्तद्धि प्राप्यं गुरुकृपावशात्।
नाभिहृद्भ्रूयुगान्याहुर्ध्यानस्थानं मनीषिणः॥
ध्यानस्थानं विनिर्णीतं साधकस्याधिकारतः।
आधारपद्ममपरं ध्यानस्थानं चतुर्थकम्॥
केचिन्निरूपयन्तीह योगतत्त्वविशारदाः।
सिद्धे ध्याने हि प्रत्यक्षोभवत्यात्मा विशेषतः॥

मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगमें पृथक्-पृथक् स्थूल ध्यान, ज्योतिर्ध्यान और विन्दुध्यान ये तीन प्रकार के ध्यान नियत किये गये हैं। इनमेंसे मूर्त्तिमान् इष्टदेव-मूर्त्तिका जो ध्यान है वह स्थूल ध्यान, जिसके द्वारा तेजोमय ब्रह्मका ध्यान होता है वह ज्योतिर्ध्यान और विन्दुमय ब्रह्म और कुण्डलिनी शक्तिका जो ध्यान किया जाता है वह विन्दुध्यान कहाता है। मन्त्रयोगोक्त स्थूलध्यानके भेद पञ्चोपासनाके अनुसार अनेक हैं, परन्तु हठयोगके ज्योतिर्ध्यानकी शैली एक ही है। केवल ध्यानस्थान

साधकके अधिकार-भेदसे तीन हैं। दीपकलिकावत् तेजोमय ब्रह्मध्यानको ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। वह प्रकृतिध्यान भी है और ब्रह्मध्यान भी है क्योंकि 'मैं और मेरा' जैसा ब्रह्म और प्रकृतिमें अभेद है। ब्रह्मके तेजोमयरूप कल्पना द्वारा ज्योतिर्ध्यानकी विधि गुरुदेवसे प्राप्त करने योग्य है। नाभि, हृदय तथा भ्रू-युगल ये तीनों स्थान ज्योतिर्ध्यानके लिये निर्दिष्ट हैं। साधकके अधिकारभेदसे ही ऐसा निर्देश है। कोई कोई योगवित् आधार पद्मरूपी चतुर्थ स्थानका भी निर्देश करते हैं। ज्योतिर्ध्यानकी सिद्धावस्थामें आत्माका प्रत्यक्ष होता है।

हठयोगके अन्तिम अर्थात् सप्तम अङ्गका नाम समाधि है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है—

समाधिर्मन्त्रयोगस्य महाभाव इतीरितः।
हठस्य च महाबोधः समाधिस्तेन सिध्यति ॥
प्राणायामस्य सिद्ध्या वै जीयन्ते प्राणवायवः।
ततोऽधिगम्यते शक्तिः पूर्णा कुम्भकसाधने ॥
समाधिर्हठयोगस्य त्वरितं प्राप्यते ततः।
शुक्रं वायुर्मनश्चैते स्थूलकारणसूक्ष्मतः।
अभिन्नास्तत्र प्राधान्यं वायोरेव विदुर्बुधाः ॥
शक्तिस्वरूपकत्वाद्धि तन्निरोधान्मनोजयः।
तस्मान्मनोजयाच्चैव समाधिः समवाप्यते।
प्राणायामे तथा ध्याने सिद्धे वै सोऽधिगम्यते ॥
प्राणायामस्योपदेशः कतमायाऽधिकारिणे।
प्रदत्तः कीदृशश्चैव महाबोधप्रदायकः ॥
एतत्सर्वं हि विज्ञेयं योगज्ञाद्गुरुदेवतः।
योगक्रियायाः परमं समाधिः फलमिष्यते ॥
शरीरतो मनः सम्यगपनीय विजित्य तत्।
स्वस्वरूपोपलब्धिर्हि समाधिरिति चोच्यते ॥
अद्वितीयमहं ब्रह्म सच्चिदानन्दरूपधृक्।
नित्यमुक्तोऽस्मीति सदा समाधावनुभूयते ॥

मन्त्रयोगकी समाधिको महाभाव और हठयोगकी समाधिको महाबोध कहते हैं। प्राणायाम-सिद्धिके द्वारा वायुजय हो जानेपर कुम्भक करनेकी पूर्ण शक्ति प्राप्त होनेसे हठयोग समाधि लाभ होता है। वीर्य, वायु और मन ये तीनों स्थूल, सूक्ष्म

और कारण सम्बन्धसे एक ही हैं। इन तीनोंमें वायु ही प्रधान है क्योंकि वायु शक्ति-रूप है। वायुके निरोध द्वारा मनका निरोध हो जाता है इसलिये वायुके निरोधसे मनोलय और मनोलयसे समाधिकी प्राप्ति होती है। प्राणायाम और ध्यानकी सिद्धिके साथही समाधिदशाका उदय होता है। किस अधिकारीको किस प्रकार प्रणायामका उपदेश करनेसे महाबोध समाधिकी प्राप्ति होगी सो योगचतुष्टयतत्वज्ञ गुरुदेवसे ही प्राप्तव्य है। समाधिही योगसाधनका परम फल है। शरीरसे मनको पृथक् करके उसका लय करते हुए स्वरूपोपलब्धिका नाम समाधि है। समाधि दशामें मनका लय हो जाता है और "मैं ही अद्वितीय ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप तथा नित्यमुक्त हूँ" ऐसा अनुभव होता है। यही हठयोगकी समाधि और अन्तिम साधन है।

सप्ताङ्गसे युक्त हठयोग साधनका यही संक्षिप्त वर्णन है जिसको श्रीगुरुदेवकी आज्ञानुसार जानकर साधन करनेसे साधक समाधिसिद्धि लाभ करके दुस्तर भव-सिन्धुके पार जा सकते हैं।

चतुर्थ समुल्लासका तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

—:॰:—

लययोग

चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा आत्मसाक्षात्कार लाभके लिये निर्दिष्ट क्रियाओंका नाम योग है। यौगिक क्रियासिद्धांशमें लययोग तृतीयस्थानीय है और इस कारण मन्त्र और हठयोगसे सूक्ष्मविज्ञानयुक्त है। वेदमें भी :—

"तस्मिन्नेव लयं यान्ति" "ते लयं यान्ति तत्रैव"

इत्यादि वचनोंके द्वारा, लययोगकी पुष्टि की गई है। अब नीचे अङ्गानुक्रमसे लययोगकी विधियाँ बताई जाती हैं। योगशास्त्रमें लययोगके प्रवर्तक निम्नलिखित ऋषियोंके नाम पाये जाते हैं, यथा:—

अङ्गिरा याज्ञवल्क्यश्च कपिलश्च पतञ्जलिः।
वशिष्ठः कश्यपो वेदव्यासाद्याः परमर्षयः॥
यत्कृपातः समुद्भूतो लययोगो हितप्रदः।

अङ्गिरा, याज्ञवल्क्य, कपिल, पतञ्जलि, वशिष्ठ, कश्यप और वेदव्यास आदि पूज्यचरण महर्षियोंकी कृपासे परम मङ्गलकर तथा मन वाणीसे अगोचर ब्रह्मपद प्राप्तिका कारण लययोगसिद्धान्त संसारमें प्रकट हुआ है। योगशास्त्रोंमें लययोगका निम्नलिखित लक्षण बताया गया है:—

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात्।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते॥
ऋषिदेवौ च पितरौ नित्यं प्रकृतिपूरुषौ।
तिष्ठन्ति पिण्डे ब्रह्माण्डे ग्रहनक्षत्रराशयः॥
पिण्डज्ञानेन ब्रह्माण्डज्ञानं भवति निश्चितम्।
गुरूपदेशतः पिण्डज्ञानमाप्य यथायथम्॥
ततो निपुणया युक्त्या पुरुषे प्रकृतेर्लयः।
लययोगाभिधेयः स्यात् प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः॥
आधारपद्मे प्रकृतिः सुप्ता कुण्डलिनी स्थिता।
सहस्रारे स्थितो नित्यं पुरुषश्चोपगीयते॥
प्रसुप्तायां कुण्डलिन्यां बाह्यसृष्टिः प्रजायते।
योगाङ्गैस्ताम्प्रबोध्यैव यदा तस्मिन्विलोपयेत्॥
कृतकृत्योभवत्येव सदा योगपरो नरः।
पुराविदो वदन्तीमं लययोगं सुखावहम्॥

प्रकृतिपुरुषात्मक शृङ्गारसे उत्पन्न हुए ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनों एक ही हैं। समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे ब्रह्माण्ड और पिण्ड एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं। सुतरां ऋषि, देवता, पितर्, ग्रह, नक्षत्र, राशि, प्रकृति, पुरुष सबका स्थान समान रूपसे ब्रह्माण्ड और पिण्डमें है। पिण्ड ज्ञानसे ब्रह्माण्ड ज्ञान हो सकता है। श्रीगुरूपदेश द्वारा सब शक्ति सहित पिण्डका ज्ञान लाभ करके तदनन्तर सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा प्रकृतिको पुरुषमें लय करनेसे योग होता है। पुरुषका स्थान सहस्रारमें है और कुलकुण्डलिनी नाम्नी महाशक्ति आधारपद्ममें प्रसुप्ता हो रही है। उनके सुप्त रहनेसे ही बहिर्मुखी सृष्टिक्रिया होती है। योगाङ्ग द्वारा उनको जाग्रत करके पुरुषके पास ले जाकर लय कर देनेसे योगी कृतकृत्य होता है, इसीका नाम लययोग है।

अब लययोगके अङ्गोंका वर्णन किया जाता है, योगशास्त्रमें इसके नौ अङ्ग बताये गये हैं। यथा:—

अङ्गानि लययोगस्य नवैवेति पुराविदः।
यमश्च नियमश्चैव स्थूलसूक्ष्मक्रिये तथा॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानश्चापि लयक्रिया।
समाधिश्च नवाङ्गानि लययोगस्य निश्चितम्॥
स्थूलदेहप्रधाना वै क्रिया स्थूलाभिधीयते।
वायुप्रधाना सूक्ष्मा स्याद्ध्यानं बिन्दुमयं भवेत्॥
ध्यानमेतद्धि परमं लययोगसहायकम्।
लययोगानुकूला हि सूक्ष्मा या लभ्यते क्रिया॥
जीवन्मुक्तोपदेशेन प्रोक्ता सा हि लयक्रिया।
लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली॥
प्रबुद्ध्य तस्मिन्पुरुषे लीयते नात्र संशयः।
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः॥
लयक्रियायाः संसिद्धो लयबोधः प्रजायते।
समाधिर्येन निरतः कृतकृत्यो हि साधकः॥

योगतत्त्वज्ञ महर्षियोंने लययोगके नव अङ्ग वर्णन किये हैं। यम, नियम, स्थूलक्रिया, सूक्ष्मक्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि ये नव अंग लययोगके हैं। स्थूलशरीरप्रधान स्थूलक्रिया है और वायुप्रधान क्रियाको सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। विन्दुमय प्रकृतिपुरुषात्मक ध्यानको विन्दुध्यान कहते हैं, यह ध्यान लय-योगका परम सहायक है। लययोगानुकूल अति सूक्ष्म सर्वोत्तम क्रिया जो केवल जीवन्मुक्त योगियोंके उपदेशसे ही प्राप्त होती है ऐसी सर्वोन्नत क्रियाको लयक्रिया कहते हैं। लयक्रियाओंके साधन द्वारा प्रसुप्ता महाशक्ति प्रबुद्ध होकर ब्रह्ममें लय

होती है। इनकी सहायतासे जीव शिवत्वको प्राप्त होता है। लय क्रियाकी सिद्धिसे महालयरूपी समाधिकी उपलब्धि होती है, जिससे साधक कृतकृत्य हो जाता है।

अब इन अङ्गोंका पृथक् पृथक् वर्णन किया जाता है। लययोगके प्रथम अङ्गका नाम यम है, जिसका लक्षण यह है:–

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचन्त्वेते यमा दश॥

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ये दश यम हैं।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।
अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः॥

मानसिक और वाचनिक तथा कर्मसे किसी समयमें भी किसी प्राणीको दुःख न देना यह अहिंसा है।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं न यथार्थाभिभाषणम्।

जिस वचनसे प्राणियोंका हित हो उसे सत्य कहते हैं। केवल यथार्थ बोलना ही सत्य नहीं है।

कर्मणा मनसा वाचा परद्रव्येषु निस्पृहा।
अस्तेयमिति सम्प्रोक्तमृषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

कर्म, मन और वचनसे दूसरेके धनमें अभिलाषा न होनेको ही महर्षिगण अस्तेय कहते हैं।

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वथा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥
ब्रह्मचर्याश्रमस्थानां यतीनां नैष्ठिकस्य च।
ब्रह्मचर्यं च तत्प्रोक्तं तथैवारण्यवासिनाम्॥
ऋतावृतौ स्वदारेषु सङ्गतिर्या विधानतः।
ब्रह्मचर्यं तदप्युक्तं गृहस्थाश्रमवासिनाम्॥

मन, वाणी तथा कर्मसे भी सब अवस्था, सब समय और सब कालमें मैथुन त्याग करनेको ब्रह्मचर्य कहते हैं। ब्रह्मचारी, संन्यासी, नैष्ठिक और वानप्रस्थोंका यही ब्रह्मचर्य है। गृहस्थका ब्रह्मचर्य ऋतुकालमें स्वस्त्रीसे विधिपूर्वक सङ्गति करनेसे होता है।

सर्वदा सर्वभूतेषु सर्वथानुग्रहस्पृहा।
कर्मणा मनसा वाचा दया सम्प्रोच्यते बुधैः॥

मन, वाणी और कर्मके द्वारा सर्वदा सकल प्रकारसे सकल भूतोंमें अनुग्रहस्पृहाका नाम दया है।

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा एकरूपत्वमार्जवम्।

प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिमें एक रूप रहना आर्जव है।

प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्त्वं यच्छरीरिणाम्।
क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः॥

प्रिय और अप्रिय विषयमें जो मनुष्योंकी एक भावसे स्थिति है उसको वेदवादी विद्वान्गण क्षमा कहते हैं।

अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चापि सम्पदि।
भूयः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं धृतिः॥

अर्थके नाश होनेपर, बान्धवोंसे वियोग होनेपर, सम्पत्ति अथवा विपत्तिके समयमें भी चित्तको दृढ़ रखना धृति है।

अष्टौ ग्रासा मुनेर्भक्ष्या षोडशारण्यवासिनाम्।
द्वात्रिंशद्धि गृहस्थानां यथेष्टं ब्रह्मचारिणाम्॥
तेषामयं मिताहारस्त्वन्येषामल्पभोजनम्।

मुनिको आठ ग्रास भोजन करना चाहिये। अरण्यवासी वानप्रस्थको षोडश ग्रास, गृहस्थको बत्तीस ग्रास और ब्रह्मचारीको इच्छाके अनुरूप भोजन करना चाहिये, यह उनका मिताहार कहाता है और अन्य लोगोंका अल्प भोजन ही मिताहार है।

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तथा।
मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनःशुद्धिस्तथान्तरम्॥
मनः शुद्धिस्तु विज्ञेया धर्मेणाध्यात्मविद्यया।
अध्यात्मविद्या धर्मश्च पित्राचार्येण चाप्यते॥

बाह्य और आभ्यन्तर भेदसे शौच दो प्रकारका होता है। मृत्तिका और जलसे बाह्यशुद्धि होती है। आभ्यन्तर शुचि मनको शुद्ध करना है। अध्यात्म विद्या और धर्म-साधनसे मनकी शुद्धि होती है। अध्यात्म विद्या और धर्म, पिता तथा आचार्य द्वारा प्राप्त होते हैं।

लययोगके द्वितीय अङ्गका नाम नियम है। इसका निम्नलिखित लक्षण योग-शास्त्रमें बताया गया है।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणश्चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥

तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत, ये नियम हैं।

लययोगके तृतीय अङ्गका नाम स्थूल क्रिया है, जिसमें आसन मुद्रादि सम्मिलित हैं। आसनके विषयमें कहा है:—

आसनाभ्यासतः कायोऽनुकूलः साधनस्य वै।
आसनानि त्रयस्त्रिंशद्धठयोगे भवन्ति हि॥
आसनान्यत्र त्रीण्येव प्रोक्तं हि परमर्षिभिः।
पद्मासनं स्वस्तिकं च सिद्धासनमथापि वा॥

आसनके साधन द्वारा शरीर योगसाधनानुकूल बन जाता है। हठयोगमें प्रधानतः तैंतीस आसन हैं, वे सब ही हठयोगमें सहायक हैं; परन्तु लययोगके आचार्योंने केवल तीन आसन लययोग सहायक समझे हैं। स्वस्तिकासन, पद्मासन और सिद्धासन। इन आसनोंका वर्णन हठयोगके अध्यायमें पहले ही किया गया है।

मुद्राके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है: —

योगकौशलपूर्णा या स्थूलकायपरा क्रिया।
मुद्रा निर्दिश्यते सा वै योगशास्त्रविशारदैः॥
साधने हठयोगस्य विहिताः पञ्चविंशतिः।
मुद्रा महर्षिभिर्नाम हठयोगविशारदैः॥
अष्टौ मुद्रा विधीयन्ते लययोगे महर्षिभिः।
ज्ञेया वै शाम्भवी मुद्रा प्रत्याहारस्य सिद्धये॥
पञ्चमुद्रा विनिर्दिष्टा पञ्चधारणसिद्धये।
ध्यानस्य सिद्धये शक्तिचालिनी चाथ योनिका॥

योगके सुकौशलसे पूर्ण स्थूलशरीरप्रधान क्रियाको मुद्रा कहते हैं। हठयोगके ज्ञाता महर्षियोंने पच्चीस प्रकारकी मुद्राओंका हठयोगके लिये विधान किया है; परन्तु लययोगतत्त्वदर्शी महर्षियोंने लययोगसिद्धिके अर्थ केवल आठ मुद्राओंका विधान किया है। प्रत्याहारसिद्धिके लिये शाम्भवीमुद्रा, धारणासिद्धिके लिये पञ्चधारणकी पाँच मुद्रा और ध्यानसिद्धिके लिये शक्तिचालिनी और योनिमुद्रा। इन मुद्राओंके लक्षण हठयोगके प्रबन्धमें पहिले ही बताये गये हैं।

लययोगके चतुर्थ अङ्गका नाम सूक्ष्मक्रिया है, जिसमें प्राणायाम आदि विविध क्रियाएँ सम्मिलित हैं।

कार्यकारणसम्बन्धात्प्राणः स्थूलो मरुत्तथा।
अभिन्नौ वायुमुख्या या क्रिया सूक्ष्माभिधीयते॥

अन्तर्भवन्तौ सूक्ष्मायां प्राणायामस्वरोदयौ ।
वर्णितावृषिभिर्नूनं लययोगविशारदैः ॥

प्राण और स्थूलवायु यह कार्यकारण सम्बन्धसे एक ही हैं। वायुप्रधान क्रियाको सूक्ष्म कहते हैं। सूक्ष्म क्रियामें प्राणायाम और स्वरोदय अन्तर्गत हैं, ऐसा लययोगाचार्य महर्षियोंने वर्णन किया है। लययोगके लिये केवल एकही प्राणायाम कहा गया है, यथा :—

लययोगोपयोगाय प्राणायामस्तु केवली ।
प्रोच्यते तीर्णसंसारसागरैः परमर्षिभिः ॥
स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कार्यौ नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥
यः साधकः केवलकुम्भकस्याभ्यासं करोतीह स एव योगी ।
न विद्यते किञ्चिदसाध्यमत्र धन्यस्य योगिप्रवरस्य तस्य ॥
प्राणायामे साधितेऽस्मिन्साधकैस्त्वनुभूयते ।
प्रत्याहारो धारणा च समाधिर्ध्यानमेव च ॥

लययोगके उपयोगी प्राणायामको केवली प्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियोंके विषयको मनसे हटाकर भ्रूयुगलके मध्यमें चक्षु स्थिर करके नासिका और आभ्यन्तरचारी प्राण और अपानको समभावमें परिणत करनेसे केवली प्राणायामका साधन होता है। जो साधक केवली प्राणायामका साधन करते हैं वेही यथार्थमें योगी हैं। केवली प्राणायामके साधनसे साधकको इस संसारमें कुछ भी असाध्य नहीं रहता है। इस प्राणायामके साधनको करते हुए तत्कालमें क्रमशः प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि भूमियोंका अनुभव हो सकता है।

अब स्वरोदय नामक सूक्ष्म क्रियाका वर्णन किया जाता है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है :—

प्राणा मरुन्मनश्चैते कार्यकारणरूपतः ।
अभिन्नाश्च जिते वायौ जिताः प्राणाः मनस्तथा ॥
प्राणवायुं विनिर्जित्य महाप्राणमनोजयः ।
तत्त्वज्ञानोपलब्धिश्चेत्युच्यते हि स्वरोदयः ॥
वैचित्र्यात्सूक्ष्मशक्तेर्हि स्वरोदयक्रियाफले ।
अनन्तेऽपि हितार्थाय योगिनां किञ्चिदुच्यते ॥
स्वरज्ञानात्परं मित्रं स्वरज्ञानात्परं धनम् ।
स्वरज्ञानात्परं गुह्यं न वा दृष्टं न वा श्रुतम् ॥

शत्रुं हन्यात्स्वरबलैस्तथा मित्रसमागमः ।
लक्ष्मीप्राप्तिः स्वरबलैः कीर्तिः स्वरबलैस्तथा ॥
कन्याप्राप्तिः स्वरबलैस्तद्बलैः राजदर्शनम् ।
स्वरबलैर्देवतासिद्धिस्तद्बलैः क्षितिपो वशः ॥
स्वरैः संलभ्यते देशो भोज्यं स्वरबलैस्तथा ।
लघुदीर्घं स्वरबलैर्मलं चैव निवार्यते ॥
इदं स्वरोदयं शास्त्रं सर्वशास्त्रोत्तमोत्तमम् ।
आत्मघटप्रकाशार्थं प्रदीपकलिकोपमम् ॥

प्राणवायु, प्राण और मन ये तीनों कार्यकारण सम्बन्धसे एक ही होनेसे प्राणवायु जय द्वारा महाप्राण जय और मनोजय हो सकता है। प्राणवायुको जय करके महाप्राण जय, मनोजय और तत्त्वज्ञान लाभ करनेको स्वरोदय कहते हैं। सूक्ष्म शक्तिके वैचित्र्यके कारण स्वरोदयकी क्रिया और फल दोनों अनन्त हैं; तथापि योगियोंके दिग्दर्शनार्थ कुछ कहा जाता है। स्वरज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बन्धु, स्वरज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ धन और स्वरज्ञानकी अपेक्षा परम गोपनीय पदार्थ कोई भी देखनेमें अथवा सुननेमें नहीं आता। शत्रुविनाश, बन्धुसमागम, लक्ष्मीप्राप्ति, कीर्तिसञ्चय, कन्यालाभ, राजदर्शन, राजवशीकरण, देवतासिद्धि, लघुता अथवा दीर्घताप्राप्ति, देशभ्रमण, खाद्यद्रव्यप्राप्ति और मलनिवारण इत्यादि सभी कार्य स्वर विज्ञान के बलसे सिद्ध हो सकते हैं। यह स्वरोदयशास्त्र सब शास्त्रोंकी अपेक्षा श्रेष्ठतर है। गृह अवलोकन करनेके निमित्त जिस प्रकार दीपशिखाका प्रयोजन होता है, उसी प्रकार आत्मप्रकाशके निमित्त स्वरोदय शास्त्र जाननेकी आवश्यकता होती है। प्राण, अपान आदि दशविध वायुके भेद तथा स्थानके विषयमें पहिले ही हठ-योग प्रकरणमें कहा गया है। योगशास्त्रमें लिखा है:—

एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवरूपिणः ।
प्रकटं प्राणसंचारं लक्षयेद्देहमध्यतः ॥
इडापिङ्गलासुषुम्नानाडीभिस्तिसृभिर्बुधः ।
अनेन लक्षयेद्योगी चैकचित्तः समाहितः ॥
सर्वमेव विजानीयान्मार्गतश्चन्द्रसूर्ययोः ।
चन्द्रं पिबति सूर्येण सूर्यं पिबति चन्द्रतः ॥
अन्योन्यं कालभावेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ।
एतज्जानाति यो योगी एतत्पठति नित्यशः ॥
सर्वदुःखविनिर्मुक्तो लभते वाञ्छितं फलम् ॥

जीवगणके जीवन स्वरूपी ये सब वायु नाड़ियों में भ्रमण कर रहे हैं। पिङ्गला, इड़ा और सुषुम्ना, इन तीन नाड़ियों द्वारा स्वरोदयतत्त्ववेत्ता पण्डितगण शरीरमें भ्रमण करते हुए इन वायुओं की क्रियाओंका अनुभव किया करते हैं। इसके द्वारा योगी एकाग्रचित और समाधियुक्त होकर चन्द्र और सूर्यपथ अर्थात् इड़ा और पिङ्गलाके वहनकालको लक्ष्य करके सारे पदार्थोंको जान सकते हैं। जो साधक इड़ा नाड़ीको पिङ्गलामें और पिङ्गला नाड़ीको इड़ामें ला सकते हैं और चन्द्ररश्मि द्वारा सूर्यरश्मि और सूर्यरश्मि द्वारा चन्द्ररश्मि ग्रहण कर सकते हैं वे योगी जबतक चन्द्र और तारागणका अस्तित्त्व है, तबतक जीवित रह सकते हैं। जो योगी नाड़ी-सञ्चालन क्रिया जानते हैं और स्वरज्ञान शास्त्रका नित्य अध्ययन करते हैं वे सब प्रकार के दुःख अर्थात् त्रितापसे बच जाते हैं और अभिलषित फलकी प्राप्ति कर सकते हैं। अब तत्त्वों का विचार किया जाता है। योगशास्त्रमें लिखा है:—

पञ्चतत्त्वाद्भवेत्सृष्टिस्तत्त्वे तत्त्वं विलीयते।
पञ्चतत्त्वं परं तत्त्वं तत्त्वातीतं निरञ्जनम् ॥
तत्त्वानां नाम विज्ञेयं सिद्धियोगेन योगिनाम्।
भूतानां दुष्टचिह्नानि जानन्ति हि स्वरोत्तमात् ॥
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च।
पञ्चभूतात्मकं सर्वं यो जानाति स पूजितः ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पाँचों तत्त्वोंसे समस्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि हुई है और प्रलयकालमें इन्हीं पाँचों तत्त्वोंमें यावन्मात्र पदार्थ लयको प्राप्त होंगे। इन पाँचों तत्त्वोंके परे जो परमतत्त्व है वे ही निरञ्जन ब्रह्म हैं। स्वरशास्त्रवेत्ता योगी तत्त्वसिद्धिसे तत्त्वोंके नाम और भूतोंके भले-बुरे चिन्ह जान सकते हैं। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, और आकाश, इन पञ्चभूतोंसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है। इस कारण इन तत्त्वोंका जाननेवाला योगी ही जगत्में पूजनीय है।

सर्वलोकेषु जीवानां न देहे भिन्नतत्त्वकम्।
भूर्लोकात् सत्यपर्यन्तं नाडीभेदः पृथक् पृथक् ॥
वामे वा दक्षिणे वापि उदयाः पञ्च कीर्त्तिताः।
अष्टधा तत्त्वविज्ञानं शृणु वक्ष्यामि सुंदरि ! ॥
प्रथमे तत्त्वसंख्यायां द्वितीये श्वाससन्धिषु।
तृतीये स्वरचिन्हानि चतुर्थे स्थानमेव च ॥
पञ्चमे तस्य वर्णश्च षष्ठे तु प्राण एव च।
सप्तमे स्वादसंयुक्तिरष्टमे गतिलक्षणम् ॥

भूलोकसे लेकर सत्यलोक पर्यन्त जितने जीव हैं वे सभी पञ्चतत्त्वके अधीन हैं

और उनमें पृथक्-पृथक् नाड़ीभेद है। वामनासापुट अथवा दक्षिणनासापुटमें इन पाँचों तत्त्वोंका उदय हुआ करता है। तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके आठ उपाय हैं। प्रथम तत्त्वोंकी संख्या, द्वितीय श्वासोंकी सन्धि, तृतीय स्वरोंके चिह्न, चतुर्थ स्वरोंके स्थान, पंचम तत्त्वोंके वर्ण, षष्ठ उनके प्राण, सप्तम उनके स्वाद और अष्टम उनकी गति।

एतदष्टविधं प्राणं विषुवन्तं चराचरम्।
स्वरात्परतरं देवि! नान्यदस्त्यम्बुजानने!॥
निरीक्षितव्यं यत्नेन सदा प्रत्यूषकालतः।
कालस्य वञ्चनार्थाय कर्म कुर्वन्ति योगिनः॥
श्रुत्योरङ्गुष्ठकौ मध्याङ्गुलौ नासापुटद्वये।
वदनप्रान्तयोरन्ते तर्ज्जन्यौ तु दृगन्तयोः॥
अस्यान्तरं पार्थिवादि तत्वज्ञानं भवेत्क्रमात्।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्बिन्दुभिर्निरुपाधिकम्॥

ये अष्ट विध तत्त्वोंके लक्षण हैं। स्वरशास्त्रकी अपेक्षा और श्रेष्ठ शास्त्र कोई भी नहीं है। योगियोंको उचित है कि प्रभातकालमें इन तत्त्वोंके लक्षणोंका यत्नपूर्वक दर्शन करके कर्म आरम्भ करें जिसके द्वारा वे कालको जय कर सकेंगे। दोनों हाथोंके दोनों वृद्धाङ्गुष्ठ द्वारा दोनों कर्ण, दोनों मध्यमाङ्गुलि द्वारा दोनों नासापुट, दोनों अनामिका और दोनों कनिष्ठाङ्गुलि द्वारा मुख और दोनों तर्ज्जनी द्वारा चक्षु वन्द करके तत्त्वदर्शन करना उचित है। यदि पीत वर्ण दिखाई पड़े तो पृथिवीतत्त्व, श्वेत-वर्ण दिखाई पड़े तो जलतत्त्व, रक्तवर्ण दिखाई पड़े तो अग्नितत्त्व, श्यामवर्ण दिखाई पड़े तो वायुतत्त्व और बिन्दु-विन्दु विविध वर्ण दिखाई पड़े तो आकाशका तत्त्व जानना उचित है।

दर्पणेन समालोक्य श्वासं तत्र विनिक्षिपेत्।
आकारैस्तु विजानीयात् तत्त्वभेदं विचक्षणः॥
चतुरस्रं चार्द्धचन्द्रं त्रिकोणं वर्तुलं स्मृतम्।
बिन्दुभिस्तु नभो ज्ञेयमाकारैस्तत्त्वलक्षणम्॥
मध्ये पृथ्वी ह्यधश्चापश्चोर्द्ध्वं वहति चानलः।
तिर्यग्वायुप्रचारश्च नभो वहति सङ्क्रमे॥
माहेयं मधुरं स्वादु कषायं जलमेव च।
तिक्तं तेजश्च वाय्वम्लमाकाशं कटुकं तथा॥
अष्टाङ्गुलं वहेद्वायुरनलश्चतुरङ्गुलम्।
द्वादशाङ्गुलमाहेयं षोडशाङ्गुलवारुणम्॥

आपः श्वेताः क्षितिः पीता रक्तवर्णो हुताशनः ।
मारुतो नीलजीमूत आकाशं भूरिवर्णकम् ॥

दर्पणके ऊपर श्वास डालनेसे उसपर जो वाष्प लगेगा वह वाष्प यदि चतुष्कोण हो तो पृथ्वीतत्त्व, अर्ध चन्द्राकृति हो तो जलतत्त्व, त्रिकोण हो तो अग्नितत्त्व, गोल हो तो वायुतत्त्व, बिन्दुवत् हो तो आकाशतत्त्व समझना चाहिये । नासापुटके मध्यभागमें होकर यदि श्वास चले तो पृथिवीतत्त्व, अधोभागसे चले तो जलतत्त्व, ऊर्द्ध्वभाग होकर चले तो अग्नितत्त्व, पार्श्वदेश होकर चले तो वायुतत्त्व और नासापुटके भीतर घूमता हुआ चले तो आकाश तत्त्वोदय समझना चाहिये । पृथिवीतत्वोदयमें मिष्टरस, जलतत्त्वमें मिष्ट और कषाय, अग्नितत्त्वमें तिक्त, वायुतत्त्वमें अम्ल और आकाशतत्त्वमें कटुरसका अनुभव होता है । श्वास निकलते समय वायुवेग आठ अंगुल हो तो जलतत्त्व, चार हो तो अग्नितत्व, बारह हो तो पृथिवीतत्त्व, सोलह हो तो जलतत्त्व समझना चाहिये । जलतत्त्वका वर्ण श्वेत, आकाशतत्त्वका नानाविध, पृथिवीका पीत, अग्निका रक्त, वायुका नील मेघवत होता है ।

स्कन्धदेशे स्थितो वह्निर्नाभिमूले प्रभञ्जनः ।
जानुदेशे मही तोयं पादान्ते मस्तके नभः ॥
ऊर्द्ध्वं मृत्युरधः शान्तिस्तिर्यगुच्चाटनं तथा ।
मध्ये स्तम्भं विजानीयान्नभः सर्वत्र मध्यमम् ॥
पृथिव्यां स्थिरकर्माणि चरकर्माणि वारुणे ।
तेजसा समकार्याणि मारणोच्चाटनेऽनिले ॥
व्योम्नि किञ्चिन्न कर्त्तव्यं अभ्यसेद्योगसेवया ।
शून्यता सर्वकार्येषु नात्र कार्या विचारणा ॥
पृथ्वीजलाभ्यां सिद्धिः स्यान्मृत्युर्वह्नौ क्षयोऽनिले ।
निष्फलं सर्वमाकाशे ज्ञातव्यं तत्त्ववेदिभिः ॥

स्कन्धदेशमें अग्नितत्त्व, नाभिमूलमें वायुतत्त्व, जानुमें पृथिवीतत्त्व, चरणमें जलतत्त्व और मस्तकमें आकाशतत्त्व स्थित है । अग्नितत्त्वोदयमें मारण, जलतत्त्वोदयमें शान्तिकरण, वायुतत्त्वोदयमें उच्चाटन, पृथ्वीतत्त्वोदयमें स्तम्भन, आकाशतत्त्वोदयमें मध्यमकार्य करना चाहिये । पृथ्वीतत्त्वोदयमें स्थिरकार्य, जलतत्त्वोदयमें चरकार्य, अग्नितत्त्वोदयमें समकार्य, वायुतत्त्वोदयमें मारणोच्चाटनादि कार्य तथा आकाशतत्त्वोदयमें कुछ भी करना उचित नहीं है परन्तु इस तत्त्वके उदयमें योगसाधन करना उचित है । पृथ्वी और जलतत्त्वके उदयमें काम करनेसे सिद्धि प्राप्ति होगी, अग्नितत्त्वके उदयमें मृत्यु होगी, वायुतत्त्वोदयमें क्षय होगा और आकाशतत्त्वोदयमें सब वैषयिक कार्योंमें निष्फलता होगी ऐसा तत्वज्ञ पुरुषको स्मरण रखना उचित है ।

चिरलाभः क्षितौ ज्ञेयस्तत्क्षणात् तोयतत्त्वतः ।
हानिः स्याद्वह्नितोयाभ्यां नभसो निष्फलं भवेत् ॥
यः समीरः समरसः सर्वतत्त्वगुणावहः ।
अम्बरं तं विजानीयाद् योगिनां योगदायकम् ॥
वर्णाकारं स्वादुवाहं अव्यक्तं सर्वगामि च ।
मोक्षदं व्योमतत्त्वं हि सर्वकार्येषु निष्फलम् ॥
आपः पूर्वे पश्चिमे हि पृथ्वी तेजश्च दक्षिणे ।
वायुरुत्तरदिग्भागे मध्ये कोणे गतं नभः ॥

पृथ्वीतत्त्वोदयमें विलम्बसे लाभ, जलतत्त्वके उदयमें तुरन्त ही लाभ, वह्नि और वायुतत्त्वके उदयमें हानि और आकाशतत्त्व के उदय में विफलता लाभ हुआ करती है। सम्यक् प्रेरणाशील और समरस आकाशतत्त्वमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुतत्त्वोंका गुण वर्त्तमान रहता है। इस कारण इसके उदय-काल में योगियों को सिद्धि प्राप्त हुआ करती है। आकाशतत्त्व विविधवर्णाकार, कल्याणवाही, अव्यक्त और सर्वगामी है, यह तत्त्व मोक्षकार्य में फलदायक है, परन्तु वैषयिक कार्यों में निष्फलता देनेवाला है। पूर्वदिशा का अधिपति जलतत्त्व, पश्चिमका पृथ्वीतत्त्व, दक्षिणका अग्नितत्त्व, उत्तरका वायुतत्त्व और अग्नि, वायु, नैऋत, ईशान, ऊर्द्ध्व और अधः, इन दिशाओं का अधिपति आकाशतत्त्व है।

चन्द्रे पृथ्वीजले स्यातां सूर्ये अग्निर्यदा भवेत् ।
तदा सिद्धिर्न सन्देहः सौम्यासौम्येषु कर्मसु ॥
जीवितत्वे जये लाभे कृष्याञ्च धनकर्षणे।
मन्त्रार्थे युद्धप्रश्ने च गमनागमने तथा ॥
आयाति वारुणे तत्त्वे तत्रस्थोऽपि शुभं क्षितौ ।
प्रयाति वायुतोऽन्यत्रं हानिर्मृत्युर्नभोऽनले ॥
पृथिव्यां मूलचिन्ता स्याज्जीवस्य जलवातयोः ।
तेजसा धातुचिन्ता स्याच्छून्यमाकाशतो वदेत् ।
पृथिव्यां बहुपादाः स्युर्द्विपदास्तोयवायुतः ।
तेजसा च चतुष्पादा नभसा पादवर्जिताः ॥

इडा अर्थात् वामनासापुटमें वायु बहते समय यदि पृथ्वी और जलतत्त्व हो और पिङ्गला अर्थात् दक्षिण स्वर में यदि अग्नितत्त्व हो तो शुभ और क्रूर कर्ममें निश्चय करके सिद्धि लाभ होगी। जीना, विजय, लाभ, कृषिकार्य, धनोपार्जन, मन्त्र, अर्थ, युद्धका प्रश्न, गमन और आगमन आदि विषय पञ्चतत्त्वके

निर्णयसे कहे जा सकते हैं। जलतत्त्वोदय में प्रश्न करनेसे आगन्तुक आवेगा, पृथ्वीतत्त्वमें आगन्तुक उपस्थित है और शुभ समझने योग्य है। वायुतत्त्वमें और स्थानमें जाना समझा जाय और अग्नितत्त्व और आकाशतत्त्व में हानि और मृत्यु समझना उचित है। पृथ्वीतत्त्वोदय में मूलका प्रश्न, जल-वायुतत्त्वमें जीवका प्रश्न, अग्नितत्त्वमें धातुप्रश्न तथा आकाशतत्त्वमें शून्य समझना उचित है। पृथ्वीतत्त्वमें बहुपद, जल और वायुतत्त्वमें द्विपद, अग्नितत्त्व में चतुष्पद और आकाशतत्वमें पदहीन जीव समझना उचित है।

कुजो वह्नीरविः पृथ्वी शौरिरापः प्रकीर्त्तिताः।
वायुस्थानस्थितो राहुर्दक्षरन्ध्रप्रवाहकः॥
जले चन्द्रो बुधः पृथ्वी गुरुर्वातः सितोऽनलः।
वामनाड्यां स्थिताः सर्वे सर्वकार्येषु निश्चिताः॥
तुष्टिपुष्टि रतिः क्रीडा जयो हास्यं धराजले।
तेजो वायुश्च सुप्ताक्षः ज्वरकम्पः प्रवासिनः॥
गतायुर्मृत्युराकाशे चन्द्रावस्थाः प्रकीर्त्तिताः।
द्वादशैता प्रयत्नेन ज्ञातव्या देशिकोत्तमैः॥
पूर्वस्यां पश्चिमे याम्ये उत्तरायां यथाक्रमम्।
पृथिव्यादीनि भूतानि वलिष्ठानि विनिर्दिशेत्॥
पृथिव्यापस्तथातेजो वायुराकाशमेव च।
पंचभूतात्मको देहो ज्ञातव्यश्च वरानने॥
अस्थि मांसं त्वचा नाडी रोमं चैव तु पंचमम्।
पृथ्वी पञ्चगुणोपेता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥
शुक्रशोणितमज्जाश्च लाला मूत्रञ्च पंचमम्।
आपः पञ्चगुणाः प्रोक्ताः ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥
क्षुधा तृष्णा तथा निद्रा शान्तिरालस्यमेव च।
तेजः पञ्चगुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥

पिंगला नाड़ी अर्थात् दक्षिण नासापुटमें श्वास बहते समय अग्नितत्वका अधिपति मंगल, पृथ्वीतत्त्वका रवि, जलतत्त्वका शनि और वायुतत्वका राहु ग्रह समझना उचित है; परन्तु इड़ा अर्थात् वामनासामें वायु बहते समय जलतत्व-का चन्द्र, पृथ्वीतत्वका बुध, वायुतत्वका बृहस्पति और अग्नितत्वका अधिपति शुक्रग्रह समझना उचित है। ये सब ग्रह शुभकर हैं। इड़ानाड़ीमें वायु बहते समय पृथ्वी और जलतत्वका उदय होने से सन्तोष, पोषण, रति, केलि, जय, और हास्य समझना चाहिए। अग्नि और वायुतत्व होनेपर निद्रा और ज्वर-

कम्प और आकाशतत्व होनेपर आयुशेष और मृत्यु समझा जायगा। स्वरशास्त्र वेत्तागण इन द्वादश विषयोंसे परिज्ञात हों। पृथ्वीतत्वमें पूर्वदिशा, जलतत्वमें पश्चिमदिशा, अग्नितत्वमें दक्षिणदिशा, और वायुतत्वमें उत्तरदिशा समझना उचित है। हे भगवति! पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, इन पाँच भूतों से देह बना हुआ है। अस्थि, मांस, चर्म्म, नाड़ी और रोम पृथ्वीतत्वके ये पाँच गुण ब्रह्मज्ञानियोंने कहे हैं। शुक्र, रक्त, मज्जा, लाला और मूत्र जलतत्वके ये पाँच गुण ज्ञानियोंने कहे हैं। क्षुधा, पिपासा, निद्रा, शान्ति और आलस्य अग्नितत्वके ये पांच गुण ज्ञानवालोंने कहे हैं।

धारणं चालनं क्षेप्यं संकोचनप्रसारणे।
वायोः पंच गुणाः प्रोक्ता ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥
रागद्वेषौ तथा लज्जा भयं मोहञ्च पञ्चमः।
नभः पञ्च गुणाः प्रोक्ताः ब्रह्मज्ञानेन भाषितम्॥
पृथ्वी पलानि पञ्चाशच्चत्वारिंशदपांस्तथा।
तेजस्त्रिंशद्विजानीयाद्वायोर्विंशति दिङ्नभः॥
पार्थिवे चिरकालेन लाभश्चाऽप्सु क्षणाद्भवेत्।
जायते पवनात्स्वल्पा सिद्धिरग्नौ विनश्यति।
वह्निवाय्वोः कृते प्रश्ने लाभालाभौ वदेद्बुधः॥
परतो वारुणे लाभौ मेदिन्याञ्च स्थिरेण हि।
ज्ञातव्यं जीवने शून्यं सिद्धं व्योम्नि विनश्यति॥
पृथ्व्याः पंच अपा वेदाः पंच वायोश्च तेजसः।
नभसः केवलं चैकस्तत्वज्ञानमिदं भवेत्॥

धारण, चालन, क्षेपण, संकोचन और विस्तारण वायुतत्वके ये पाँच गुण ज्ञानी मनुष्योंने कहे हैं। राग, द्वेष, लज्जा, भय और मोह आकाशतत्वके ये पाँच गुण बुद्धिमानोंने कहे हैं। वाम अथवा दक्षिण नासापुटमें श्वास उदित होकर अढ़ाई घण्टे तक जब स्थित रहता है तब इस अढ़ाई घण्टेके बीचमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशतत्वका उदय हुआ करता है। उदय होनेकी रीति, यथा--पृथ्वीतत्व उदय होकर पचास पल, जलतत्व चालीस पल, अग्नि-तत्व तीस पल, वायुतत्व बीस पल और आकाशतत्व दश पल रहा करता है। पृथ्वीतत्वके समयमें प्रश्न होनेसे विलम्बसे लाभ, जलतत्वके समयमें उसी समय लाभ, वायुतत्वके समयमें अल्प लाभ और अग्नितत्वके समयमें प्राप्त लाभ भी नाशको प्राप्त हो जाता है। जलतत्वके उदयके समय प्रश्न होनेसे दूसरेके निकटसे लाभप्राप्ति हुआ करती है। पृथ्वीतत्त्वके उदयके समय निश्चित लाभ होता है, वायुतत्त्वके उदयके समय लाभ नहीं होता है और आकाशतत्त्वके

उदयके समय लाभकी सम्भावना रहनेपर भी नष्ट हो जाता है। पृथ्वीतत्वके पाँच गुण, जलतत्वके चार गुण, अग्नितत्वके तीन गुण, वायुतत्वके दो गुण और आकाशतत्वका केवल एक गुण है।

फूत्कारकृत्प्रस्फुटिता विदीर्णा पतिताधरा।
ददाति सर्वकार्येषु अवस्थासदृशं फलम् ॥
जन्मान्तरीयसंस्कारात्प्रसादादथवा गुरोः।
केषांचिज्जायते तत्वे वासना विमलात्मनाम् ॥
भरणी कृत्तिका पुष्यो मघा पूर्वा च फाल्गुनी।
पूर्वाभाद्रपदः स्वाती तेजस्तत्त्वमिति प्रिये ॥
विशाखोत्तरफाल्गुन्यौ हस्तश्चित्रा पुनर्वसुः।
अश्विनी मृगशीर्षा च वायुतत्त्वमुदाहृतम् ॥
पूर्वाषाढ़ा तथा श्लेषा मूलमार्द्रा च रोहिणी।
उत्तराभाद्रपदस्तोयतत्त्वं शतभिषा प्रिये ॥
धनिष्ठा रेवती ज्येष्ठाऽनुराधा श्रवणस्तथा।
अभिजिच्चोत्तराषाढ़ा पृथ्वीतत्त्वमुदाहृतम् ॥
तत्त्वज्ञानी नरो यत्र धनं नास्ति ततः परं।
तत्त्वज्ञानेन गमयेदनायासफलं भवेत् ॥

यदि किसी कारणसे इन सब तत्वोंका रङ्ग अच्छे प्रकारसे दिखाई न दे तो एक और प्रकार का उपाय हो सकता है; अर्थात् मुखमें जल भरकर फूत्कार द्वारा जलको ऊपरकी ओर उड़ानेसे जब वह जल नीचेकी ओर गिरने लगेगा, तब उसमें नाना प्रकारके वर्ण दिखाई देंगे; शरीर में उस समय जिस तत्त्वकी अधिकता होगी उसी तत्वका रङ्ग भी उस जलमें अधिक दिखाई देगा। और इस रीतिसे तत्व-अनुसन्धान होनेसे फलज्ञान हो सकता है। पूर्वजन्मके संस्कारसे अथवा श्रीगुरुदेवकी कृपासे किसी किसी विशुद्ध अन्तःकरण पुरुषको स्वरतत्वसाधन बहुत शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है। भरणी, कृत्तिका, पुष्य, मघा, पूर्वाफाल्गुनी, पूर्वाभाद्रपद और स्वाती, ये नक्षत्र अग्नितत्वके अधिपति हैं। विशाखा, उत्तराफाल्गुनी, हस्त, चित्रा, पुनर्वसु, अश्विनी और मृगशिरा, ये नक्षत्र-समूह वायुतत्वके अधिपति हैं। पूर्वाषाढ़ा, अश्लेषा, मूल, आर्द्रा, रोहिणी, उत्तराभाद्रपद और शतभिषा, ये सब नक्षत्र जलतत्वके अधिपति हैं। धनिष्ठा, रेवती, ज्येष्ठा, अनुराधा, श्रवण, अभिजित् और उत्तराषाढ़ा, ये नक्षत्र पृथिवीतत्वके अधिपति समझे जाते हैं। तत्वज्ञानी पण्डितगणकी अपेक्षा जगत्में और दुर्लभ कोई पदार्थ नहीं है। तत्वज्ञानके द्वारा सकल प्रकारके अभीष्ट पदार्थ विना परिश्रमके प्राप्त हुआ करते हैं और इससे जिस कार्य्यमें परिश्रम किया जाय उसीमें सिद्धिकी प्राप्ति हो सकती है।

योगशास्त्रीय प्रधान तीन नाड़ी—इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाके द्वारा श्वासगतिके भेदानुसार निम्नलिखित फलादि बनाये हैं।

इडा—चन्द्रसूर्ययोरभ्यासं ये कुर्वन्ति सदा नराः।
अतीतानागतज्ञानं तेषां हस्तगतं भवेत् ॥
स्थिरकर्म्मण्यलङ्कारे दूराध्वगमने तथा।
आश्रमे हर्म्यप्रासादे वस्तूनां सङ्ग्रहेऽपि च ॥
वापीकूपतडागादिप्रतिष्ठा स्तम्भदेवयोः।
यात्रादानविवाहे च वस्त्रालङ्कारभूषणे ॥
शान्तिकं पौष्टिकं चैव दिव्यौषधिरसायने।
स्वामिदर्शनमैत्रे च वाणिज्यधनसंग्रहे ॥
गृहप्रवेशे सेवायां कृष्यां बीजादिवापने।
शुभकर्म्मणि सन्धौ च निगमे च शुभः शशीः ॥

पिंगला—कठिनक्रूरविद्यायां पठने पाठने तथा।
शास्त्राभ्यासे च गमने मृगयापशुविक्रये ॥
गीताभ्यासे तन्त्रयन्त्रे दुर्गपर्वतरोहणे।
द्यूते चौर्ये गजाश्वादिरथवाहनसाधने ॥
व्यायामे मारणोच्चाटे षट्कर्म्मादिकसाधने।
यक्षिणीयक्षवेतालविश्वभूतादिसंग्रहे ॥
नदीजलौघतरणे भेषजे लिपिलेखने।
मारणे मोहने स्तम्भे विद्वेषोच्चाटने वशे ॥
खड्गहस्ते वैरियुद्धे भोगे वा राजदर्शने।
भोज्ये स्नाने च व्यवहारे क्रूरे दीप्ते रविः शुभः ॥

जो साधक सर्वदा चन्द्र और सूर्य अर्थात् इड़ा और पिङ्गलाका अभ्यास करते हैं, भूत और भविष्यत् कालज्ञान उनके करतलस्थ रहता है। स्थिर कार्य, अलङ्कार धारण, दूरपथ गमन, आश्रम प्रवेश, अट्टालिका निर्म्माण, राजमन्दिर निर्म्माण, द्रव्यसंग्रह, कूपतड़ागादि जलाशयखनन, देवस्तम्भादिप्रतिष्ठा, यात्रा, दान, विवाह, वस्त्रपरिधान, भूषण धारण, शान्तिकर्म्म, पौष्टिक कार्य, महौषधि सेवन, रसायन, स्वामिदर्शन, बन्धुत्व, वाणिज्य, अर्थसंग्रह, गृहप्रवेश, सेवाकार्य, कृषिकर्म, बीजवपन और नाना शुभकर्म, सन्धि स्थापना और बहिर्गमन, ये सब कार्य इड़ा नाड़ी अर्थात् वामनासापुटमें स्वर बहते समय करने से मङ्गल-दायक हुआ करते हैं। कठिन और क्रूरविद्या अध्ययन और अध्यापन, शास्त्रा-भ्यास, पशुविक्रय, मृगया, गीताभ्यास, यन्त्र, तन्त्र, दुर्ग अथवा पर्वत आरोहण,

द्यूत क्रीड़ा अथवा चौर्य, हस्ती घोड़ेके रथ आदि यानमें आरोहण अभ्यास, व्यामाम, मारण, उच्चाटन, स्तम्भन आदि षट्कर्म, यक्षिणी, यक्ष, वेताल, भूत, प्रेतादि सिद्धि, नदी पार होना, ओषधि सेवन, लिपिलेखन, मारण, मोहन, स्तम्भन, द्वेषण, उच्चाटन, वशीकरण, अस्त्रधारण, शत्रु, युद्ध, भोग, राजदर्शन, स्नान, व्यवहार, क्रूरकर्म दिव्यकर्म आदि कार्यमें पिंगला अर्थात् दक्षिण नासापुटमें श्वास चलते समय सिद्धि प्राप्त होती है।

सुषुम्ना—क्षणं वामे क्षणं दक्षे यदा वहति मारुतः।
सुषुम्ना सा च विज्ञेया सर्वकार्य्यहरा स्मृता॥
तस्यां नाड्यां स्थितो वह्निर्ज्वलन्तं कालरूपिणम्।
विषुवन्तं विजानीयात्सर्वकार्य्यविनाशनम्॥
पदानुक्रममुल्लङ्घ्य यस्य नाडीद्वयं वहेत्।
तदा तस्य विजानीयादशुभं समुपस्थितम्॥
जीविते मरणे प्रश्ने लाभालाभौ जयाजयौ।
विषुवे वैपरीत्यं स्यात् संस्मरेज्जगदीश्वरम्॥
ईश्वरस्मरणं कार्य्यं योगाभ्यासादिकर्मसु।
अन्यत्तत्र न कर्त्तव्यं जयलाभसुखार्थिभिः॥

सुषुम्ना नाड़ी के उदयकालमें कभी वाम कभी दक्षिणमें श्वास प्रवाहित होता है। यह नाड़ी कार्य्य-नाशिनी है। इस समय ज्वलन्त अग्नि कालरूपसे प्रवाहित हुआ करती है। इस कारण इस समयके किये हुए सब काम निष्फल हुआ करते हैं। जब श्वासका व्यक्तिक्रम होकर इडा और पिङ्गला दोनों नाड़ियोंमें श्वास वहता हो तब अमङ्गल होनेवाला है; ऐसा समझना उचित है। विषुव योग अर्थात् जिस समय दोनों नासिकाओंमें स्वर वहता हो तो उस समय यदि जीवन अथवा मृत्युलाभ अथवा अलाभ; जय अथवा पराजय विषयके प्रश्न हों तो विपरीत फल होगा ऐसा समझना उचित है। इस समय केवल परमेश्वरका स्मरण करना कर्त्तव्य है। जो मनुष्य जयलाभ और सुखकी इच्छा करते हों वे सुषुम्ना नाड़ी बहते समय कोई कार्य्य न करें किन्तु केवल योगाभ्यासादि कर्म और ईश्वर-उपासना करें।

वहन्नाडीस्थितो दूतो यत्पृच्छति शुभाशुभम्।
तत्सर्वं सिद्धिमायाति शून्ये शून्यं न संशयः॥
इडायाश्च प्रवाहेन सौम्यकार्याणि कारयेत्।
पिंगलायाः प्रवाहेन रौद्रकर्माणि कारयेत्॥
सुषुम्नायाः प्रवाहेन सिद्धिमुक्तिफलानि च।
चन्द्रः समस्तु विज्ञेयो रविस्तु विषमः सदा॥

चन्द्रः स्त्री पुरुषः सूर्य्यश्चन्द्रो गौरो रविः सितः ।
इडा पिंगला सुषुम्ना तिस्रो नाड्यः प्रकीर्त्तिताः ॥

आदौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे ।
प्रतिपन्नो दिनान्याहुस्त्रीणि त्रीणि क्रमोदये ॥
सार्द्धद्विघटिका ज्ञेयो शुक्ले कृष्णे शशी रविः ।
वहत्येकदिनेनैव यथा षष्ठीघटीक्रमात् ॥
वहेत्तावद्घटीमध्ये पंचतत्वानि निर्द्दिशेत् ।
प्रतिपन्नो दिनान्याहुर्विपरीते विपर्ययः ॥

जिस नासापुटमें स्वर प्रवाहित होता हो उसी दिक्की ओर यदि दूत खड़ा होकर शुभाशुभ प्रश्न जिज्ञासा करे तो कार्य्य सफल होगा और यदि शून्य दिक् की ओर खड़ा होकर प्रश्न करे तो निश्चय करके कार्य्य निष्फलताको प्राप्त होगा। इडा नाडीमें जब श्वास बहे तब शुभ कर्म, जब पिङ्गलामें बहे तब क्रूर कर्म और सुषुम्नामें जब बहे तब योगी को सिद्धि और मुक्तिप्रद कार्य्य करना उचित है। इडा सम है और पिङ्गला विषम है। इडा नाडी स्त्री और पिङ्गला नाडी पुरुष है। इडा नाडीका गौर वर्ण और पिङ्गला नाडीका शुक्ल वर्ण है। इडा, पिंगला सुषुम्ना ये तीन नाडियाँ इस प्रकारसे वर्णित की जाती हैं। शुक्ल पक्षमें चन्द्र नाडी और कृष्ण पक्षमें सूर्य्य नाडी प्रतिपद् तक तीन तीन दिन करके क्रमके अनुसार उदय हुआ करती हैं। अहोरात्र साठ घड़ी का हुआ करता है। उसमें जब शुक्ल पक्ष हो तो चन्द्र नाडी और कृष्ण पक्ष हो तो सूर्य्य नाडी ढ़ाई ढ़ाई घण्टोंके क्रमके अनुसार उदय हुआ करती है। इस प्रकार जल, वायु, अग्नि, पृथ्वी और आकाश, ये पञ्चतत्व सारे दिन रातमें इन साठ घड़ीके अन्तर्गत प्रति ढ़ाई घण्टेमें एक एक नासिकामें उदय हुआ करते हैं। इस प्रकारसे प्रतिपदादि तिथिमें यदि इस नियमके विपरीत हो तो उस समय विपरीत फल समझना उचित है।

शुक्लपक्षे वहेद्वामा कृष्णपक्षे च दक्षिणा ।
जानीयात्प्रतिपत्पूर्वं योगी तद्गतमानसः ॥

उत्तरश्चन्द्रमार्गेण सूर्येणास्तंगतो यदि ।
ददाति गुणसंघात विपरीते विपर्य्ययम् ॥

शशांकं चारयेद्रात्रौ दिवाचार्य्यो दिवाकरः ।
इत्यभ्यासे रतो योगी स योगी नात्र संशयः ॥

सूर्य्येण बध्यते सूर्य्यः चन्द्रश्चन्द्रेण बध्यते ।
यो जानाति क्रियामेतां त्रैलोक्यं जयति क्षणम् ॥

गुरुशुक्रबुधेन्दूनां वासरे वामनाडिका ।
सिद्धिदा सर्वकार्य्येषु शुक्लपक्षे विशेषतः ॥
अर्कांगारकशौरीणां वासरे दक्षनाडिका ।
स्मर्तव्या चरकार्य्येषु कृष्णपक्षे विशेषतः ॥
क्रमादेकैकनाड्यां तु तत्वानां पृथगुद्भवः ।
अहोरात्रस्य मध्ये तु ज्ञेया द्वादशसंक्रमाः ॥

शुक्लपक्षमें वामनाडी और कृष्णपक्षमें दक्षिण नाडी बहा करती है। वह प्रतिपदादि तिथिके पूर्वमें योगी एकाग्रचित्त होकर जान सकते हैं। तिथिके अनुसारसे वामनासापुटमें स्वरके उदय और दक्षिणनासापुटमें स्वरका अस्त होनेसे बहुत ही शुभ फल समझना उचित है; परन्तु यदि विपरीत हो तो विपरीत फल होगा इसमें सन्देह नहीं। रात्रिके समयमें इडा नाडीसे और दिनके समयमें पिंगला नाडीसे स्वर चालन करना उचित है। इस प्रकारसे जो मनुष्य स्वर चालन किया करते हैं वे योगी हैं इसमें सन्देह नहीं। दिनमें पिंगला नाडी बन्द कर वामनासा द्वारा स्वर चालन करें और रात्रिमें इडा नाडी बन्द करके दक्षिणनासा द्वारा स्वर चालन करें। इस प्रकारसे स्वर-चालनका अभ्यास और स्वर बदलनेकी रीतिका जो योगी अभ्यास कर लेते हैं वे क्षण कालमें त्रिभुवन को जय करनेमें समर्थ हुआ करते हैं। सोम, बुध, बृहस्पति और शुक्रवारमें इडा सब कामोंमें शुभफल प्रदान किया करती है। विशेषतः शुक्लपक्षमें इसके द्वारा कार्योंकी विशेष सिद्धि होती है। रवि, मंगल और शनिवार में पिंगला नाडी सब कार्योंमें सिद्धिदायिनी हुआ करती है और कृष्णपक्षमें इससे विशेष फलकी प्राप्ति हुआ करती है। क्रमके अनुसार एक नाडीमें पाँचों तत्वों का दृश्य पृथक् पृथक् हुआ करता है और दिन-रात्रिकी साठ घड़ीके मध्यमें द्वादशवार संचार होता है।

वृषकर्कटकन्याऽलिमृगमीननिशाकरः ।
मेषे सिंहे च धनुषि तुलायां मिथुने घटे ॥
उदयो दक्षिणे ज्ञेयः शुभाशुभविनिर्णयः ।
तिष्ठेत्पूर्वोत्तरे चन्द्रः सूर्य्यो दक्षिणपश्चिमे ॥
वामाचारप्रवाहेन न गच्छेत्पूर्वउत्तरे ।
दक्षनाडीप्रवाहे तु न गच्छेत् याम्यपश्चिमे ॥
दक्षिणे यदि वा वामे यत्र संक्रमते शिवः ।
तत्पादमग्रतः कृत्वा निःसरेन्निजमन्दिरात् ॥
चन्द्रः समस्तुकार्य्येषु रविस्तु विषमः सदा ।
पूर्णपादं पुरस्कृत्य यात्रा भवति सिद्धिदा ॥

गुरुर्बन्धुर्नृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः।
पूर्णाङ्गे खलु कर्त्तव्या कार्य्यासिद्धिर्मनीषिभिः॥

वृष, कर्कट, कन्या, वृश्चिक, मकर और मीन राशियोंमें इडा नाडी और मेष, सिंह, धन, तुला, मिथुन और कुम्भ राशिमें पिङ्गला नाडीका उदय देखकर शुभ और अशुभ फल निर्णय किया जा सकता है। पूर्व और उत्तर दिशा का अधिपति चन्द्र अर्थात् इडा नाडी और दक्षिण तथा पश्चिम दिशाका अधिपति सूर्य अर्थात् पिंगला नाडी है। इस कारण वामनासामें स्वर बहते समय दक्षिण और पश्चिम दिशामें यात्रा करना उचित है। यात्रा करते समय दक्षिण-नासापुटमें वायु बहनेसे दक्षिण पाद आगे बढ़ाकर और वाम नासिकामें स्वर बहते समय वामपाद आगे बढ़ाकर अपने गृहसे निकलना उचित है। द्रव्य-प्राप्ति के निमित्त यात्रा करते समय वामनासापुटमें श्वास देखकर निकले और क्रूर कार्य्यके निमित्त यात्रा करते समय दक्षिण नासापुटमें जब श्वास चले तब यात्रा करनेसे कार्य्योंकी अवश्य सिद्धि होती है। गुरु, बन्धु, राजा, मन्त्री और अन्यान्य अभीष्ट कार्य्यक्षम मनुष्योंके निकट कार्यसिद्धि यदि प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो जिस नासिकामें स्वर बहे उस नासिकाकी ओर विधान क्रमसे अवस्थित रह कर कार्य्य करनेसे सिद्धि प्राप्त हुआ करती है।

आसने शयने वापि पूर्णाङ्गे विनिवेशिताः।
वशीभवन्ति कामिन्यः कर्मणा नियमान्तरम्॥
अरिचोराधमाद्याश्च अन्ये उत्पातविग्रहाः।
कर्त्तव्या खलु रिक्ताङ्गे जयलाभसुखार्थिभिः॥
दूरदेशे विधातव्यं गमनं तुहिनद्युतौ।
अभ्यर्णदेशे दीप्ते तु तुरणाविति केचन॥
शून्यनाड्यां रिपुं जेतुं यत्पूर्वं प्रतिपादितम्।
जायते नान्यथा चैव यथा सर्वज्ञभाषितम्॥
अग्रतो वामिका श्रेष्ठा पृष्ठतो दक्षिणा शुभा।
वामे तु वामिका प्रोक्ता दक्षिणे दक्षिणा स्मृता॥
पुरो वामोर्द्ध्ववतश्चन्द्रो दक्षाधः पृष्ठतो रविः।
पूर्णरिक्तविवेकोऽयं ज्ञातव्यो दर्शकैः सदा॥
ऊर्ध्ववामाग्रतो दूतो ज्ञेयो वामपथि स्थितः।
पृष्ठदेशे तथाऽधस्तात् सूर्यवाहगतः शुभः॥

आसन, शयन कार्योंमें पूर्ण स्वरकी ओर विधानपूर्वक कार्य करनेसे कामिनी वशीभूत होती है और शत्रु, चोर, अधम कार्य, नाना उपद्रव कार्य

और युद्ध कार्य आदिमें जय लाभकी इच्छा रहनेसे बद्ध श्वासकी ओर रखकर कार्य करनेसे सफलता होती है। इडा नाडीमें दूर देश और पिङ्गला नाडीमें निकटवर्ती स्थानमें यात्रा करनेसे सफलता होती है। शत्रु-पराजय प्रभृति जो कुछ पूर्वमें कहा गया है वैसे क्रूर कार्य यदि शून्य नाडीमें किये जायँ तो मङ्गल होगा इसमें सन्देह नहीं और यही त्रिकालज्ञ पुरुषों की सम्मति है। वाम नासापुटमें वायु बहते समय सम्मुखमें रहकर यदि प्रश्न करे और दक्षिण नासिकामें वायु बहते समय यदि पीछेसे प्रश्न करे तो शुभ समझना उचित है और वामनासामें श्वास बहते समय वामदिक्में रहकर और दक्षिण नासामें श्वास बहते समय दक्षिण दिक्में रहकर प्रश्न करनेसे भी मंगल होगा। सम्मुख, वाम और ऊद्ध्‌र्व भागका अधिपति इडा नाडी; दक्षिण, अधः और पश्चिम भाग का अधिपति पिंगला नाडी है, ऐसा समझ कर साधक पूर्ण और शून्य नाडीका विचार कर लेवें। इडा नाडी बहते समय उद्‌र्ध्व, वाम और अग्र भागमें और पिंगला नाडी बहते समय पश्चात्, दक्षिण और अधोभागमें खड़ा होकर प्रश्न करे तो शुभ होगा।

विषमाङ्के दिवारात्रौ विषमाङ्के दिनाधिपः।
चन्द्रनेत्राग्नितत्त्वेषु वन्ध्या पुत्रमवाप्नुयात् ॥
पिङ्गलायां स्थितो जीवो वामे दूतश्च पृच्छति।
तथापि म्रियते रोगी यदि त्राता महेश्वरः॥
दक्षिणे न यदा वायुर्दुःखं रौद्राक्षरं वदेत्।
तदा जीवति जीवोसौ चन्द्रे समफलं भवेत् ॥
जीवाकारं च वा धृत्वा जीवाकारं विलोकयन्।
जीवस्थो जीवितं पृच्छेत्तस्माज्जीवन्ति ते ध्रुवम् ॥
आदौ शून्यगतं पृच्छेत्पश्चात्पूर्णो विशेद्यदि।
मूर्च्छितोऽपि ध्रुवं जीवेद्यदर्थं परिपृच्छति ॥
विपरीताक्षरं प्रश्ने रिक्तायां पृच्छको यदि।
विपर्ययश्चविज्ञेयो विषमस्योदये सति॥
ओंकारः सर्ववर्णानां ब्रह्माण्डे भास्करो यथा।
मर्त्यलोके तथा पूज्यः स्वरज्ञानी पुमानपि॥
एकाक्षरप्रदातारं नाडीभेदनिवेदकम्।
पृथिव्यां नास्ति तद्‌द्रव्यं यद्‌त्वा चानृणी भवेत् ॥

दिन अथवा रात्रिमें पिंगला नाडी बहते समय जब पृथ्वी, जल अथवा अग्नितत्त्वका उदय हो उस समय ऋतु-रक्षा करनेपर वन्ध्या नारीको भी पुत्र लाभ हुआ करता है। पिंगला अर्थात् दक्षिण नासारन्ध्रमें वायु बहते समय

पीछेकी ओरसे यदि प्रश्न करे तो साक्षात् महादेव जी त्राणकर्त्ता होनेपर भी रोगी रोगमुक्त नहीं होगा। दक्षिणनासामें श्वास बहते समय यदि विषम वर्णमें प्रश्न हो तो रोगी बहुत ही क्लेश पाकर आरोग्य लाभ करेगा और वाम-नासामें श्वास बहते समय यदि विषम अक्षरमें हो तो भी समान फल होगा। जिस दिक्में रहकर प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करे उस दिक्का नासारन्ध्र प्रश्न करनेसे पूर्व यदि शून्य हो और प्रश्न के पश्चात् ही यदि पूर्ण हो जाय तो रोगी मनुष्य मूर्छित हो जानेपर भी जीवित हो जायगा इसमें सन्देह नहीं। जिस दिक्का नासारन्ध्र श्वासशून्य हो उस दिक्में उपस्थित होकर यदि द्रष्टा विपरीत अर्थात् पिंगला नाडीमें सम और इडा नाडीमें विषम अक्षरसे प्रश्न करे तो विपरीत फल होगा और सुषुम्ना नाडी बहते समय प्रश्न करनेसे भी अशुभ फल हुआ करता है। अक्षर समूहोंमें जिस प्रकार ओंकार और ब्रह्माण्डमें जिस प्रकार सूर्य श्रेष्ठ है उसी प्रकार स्वरशास्त्रज्ञानी पण्डित पृथिवीमें पूजनीय हुआ करता है। स्वरशास्त्रशिक्षादाता गुरु जो नाडियोंके भेद शिष्यको सिखाते हैं पृथ्वीमें ऐसे कोई भी पदार्थ नहीं हैं जिनको देकर शिष्य गुरुदेवसे उऋण हो सकता हो।

इडा गंगेति विज्ञेया पिंगला यमुना नदी।
मध्ये सरस्वतीं विद्यात् प्रयागादि समन्ततः॥
कायनगरमध्ये तु मारुतः क्षितिपालकः।
भोजने वचने चैव गतिरष्टादशाङ्गुला॥
प्रवेशे दशभिः प्रोक्ता निर्गमे द्वादशाङ्गुला।
प्राणस्थे तु गतिर्देवि! स्वभावाद्द्वादशाङ्गुला॥
गमने च चतुर्विंशा नेत्रवेदास्तु धावने।
मैथुने पञ्चषष्ठी च शयने च शताङ्गुला॥
एकाङ्गुलकृते न्यूने प्राणे निष्कामता मता।
आनन्दस्तु द्वितीये स्यात्कविशक्तिस्तृतीयके॥
वाचः सिद्धिश्चतुर्थे तु दूरदृष्टिस्तु पंचमे।
षष्ठे त्वाकाशगमनं चण्डवेगश्च सप्तमे॥
अष्टमे सिद्धयश्चाष्टौ नवमे निधयो नव।
दशमे दशमूर्तिश्च छायानाशो दशैकके॥
द्वादशे हंसचारश्च गंगामृतरसं पिबेत्।
आनखाग्रे प्राणपूर्णे कस्य भक्ष्यं च भोजनम्॥
एवं प्राणविधिः प्रोक्तः सर्वकार्ये फलप्रदः।
ज्ञायते गुरुवाक्येन न विद्याशास्त्रकोटिभिः॥

इडा नाडी गङ्गा, पिंगला नाडी यमुना और इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी सरस्वती कही जाती है। ये तीनों नाडियाँ जहाँ पर मिलती हैं वही स्थान तीर्थराज प्रयाग कहाता है। श्रीमहादेव पार्वतीजीसे कहते हैं कि हे देवि! नगर-रूप इस शरीरमें राजारूप वायु विराजमान हो रहा है। भोजन और बात करनेमें श्वास की गति अष्टादश अंगुलि तक हुआ करती है। नासारन्ध्रमें श्वास-प्रवेश के समय वायुपरिमाण दश अंगुलि और निकलते समय प्राणवायु का परिमाण द्वादश अङ्गुलि हुआ करता है। प्राणस्थ वायु की स्वाभाविक गति द्वादश अङ्गुलि समझना उचित है, वह गमन करते समय चतुर्विंशति अङ्गुलि, धारण करनेमें त्रिचत्वारिंशत् अङ्गुलि, मैथुन करते समय पञ्चषष्ठि अङ्गुलि और शयन करते समय अर्थात् गम्भीर निद्रामें शत अङ्गुलि परिमाण हो जाती है। मनुष्यका जो स्वाभाविक द्वादश श्वास-प्रवाह है उसमें जो योगी स्वर-साधन द्वारा एक अङ्गुल कम करके एकादश अङ्गुल कर लेवे तो उसको निष्कामवृत्तिकी प्राप्ति हो जाती है। यदि दो अङ्गुल कम करके अपने श्वासको दश अङ्गुल परिमाण कर लेवे तो उसे आनन्दकी प्राप्ति हो जाती है। यदि तीन अङ्गुल कम करके अपने प्राण-वायुकी गतिको नौ अङ्गुल परिमाण कर लेवे तो उसको कवित्वशक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है। यदि चार अङ्गुल कम करके अपने प्राण वायु को आठ अंगुल पर घटा सके तो उसको वाक्‌सिद्धि हो जाती है। सात अंगुलपर घटानेसे दूर दृष्टि, छः पर आकाश-गमन और पाँच अंगुलपर द्रुतगतिकी प्राप्ति हो जाती है। यदि आठ अंगुल कम करके प्राणवायुको चार अङ्गुल परिमाण पर घटा सके तो योगीको अणिमा, लघिमा प्रभृति आठों सिद्धि-योंकी प्राप्ति हो जाती है। यदि नौ अङ्गुल घटाकर श्वासको तीन अङ्गुल पर परिणत कर सके तो साधकको नौ प्रकारकी निधियोंकी प्राप्ति हो जाती है। यदि दश अङ्गुल घटाकर प्राण के परिमाणको दो अङ्गुल कर लेवे तो महाशक्ति जगद्धात्री महामायाकी दशमूर्ति अथवा दश अवतारोंकी मूर्तियोंका दर्शन हुआ करता है। यदि एकादश अङ्गुल कम करके प्राण वायुके परिमाणको केवल एक अङ्गुलमें परिणत कर सके तो उस साधकके शरीरकी छायाका नाश होकर देवशरीरकी प्राप्ति हो जाती है और यदि द्वादश अङ्गुल अर्थात् श्वास शरीर-के अन्तर्गत ही प्रवाहित होता रहे तो उस श्रेष्ठ योगीको ब्रह्मसद्भावकी प्राप्ति हो जाती है अर्थात् उसका जीवात्मा ब्रह्ममें मिलकर मुक्ति पदको उदय होता है। उस समय वे साधक सदा ही ज्ञानगङ्गाके अमृत रसको पीते रहते हैं। उनके नखाग्र पर्यन्त सब शरीरमें प्राणवायु परिपूर्ण रहनेसे भोजनकी आवश्य-कता ही नहीं पड़ती। इस प्रकार सब कामोंमें फलप्रद प्राणसाधनाकी विधि कही गई जो अनन्त शास्त्रोंके पढ़नेसे भी प्राप्त नहीं हो सकती। केवल गुरु-मुखसे ही प्राप्त हो सकती है।

अध्यात्मसिद्धिश्च तथाधिभूतसिद्धिः परा स्यादधिदैवनाम्नी।
एवं चतस्रः किल सिद्धयः स्युः प्रोक्तास्तथान्या सहजा तुरीया।

आसां प्राप्त्यौपयिका यत्ना बहवो विनिर्दिष्टाः ।
मन्त्रस्तपः स्वराद्या प्राप्याः सर्वाः स्वरोदयेनैव ॥

सिद्धियाँ चार प्रकारकी होती हैं, यथा-अध्यात्म सिद्धि, अधिभूत सिद्धि, अधिदैव सिद्धि और सहज सिद्धि। इन सब सिद्धियोंके प्राप्त करनेके अनेक उपाय हैं, यथा—मन्त्र, स्वरसाधन, तप आदि, परन्तु स्वरोदयके द्वारा सब सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

तत्त्वज्ञानोपलब्धिश्च प्राणानां चैव निघ्नता ।
मनोजयश्च जायन्ते स्वरविज्ञानतः स्फुटम् ॥
तत्साधनक्रियाः पूर्वं सिद्धिप्राप्तिस्तथा ततः ।
अन्ये च विषया नूनं संक्षेपेणोपवर्णिताः ॥
प्राणान् संयम्य संप्राप्य तत्त्वज्ञानं हि योगिनः ।
स्वरोदयस्य साहाय्यात् प्राप्नुवन्ति यथेच्छताम् ॥
सर्वकार्य्यविधाने वै शक्तिमन्तोऽपि योगिनः ।
ज्ञानवैराग्यसाहाय्यान्न किञ्चिदपि कुर्वते ॥

प्राणवशीकरण, तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति और मनोजयका प्रधान कारणभूत स्वर विज्ञान, उसके साधनको रीति और उससे नाना सिद्धियोंकी प्राप्ति इत्यादि विषयोंका अति संक्षेप वर्णन ऊपर किया गया है। प्राणसंयम और तत्त्वज्ञान लाभ कर लेनेसे उस समय योगिराज स्वरोदय-विज्ञान की सहायतासे जो चाहें सो कर सकते हैं। शक्तिमान् योगिवर सब कुछ करने में समर्थ होने पर भी ज्ञान और वैराग्यकी सहायतासे इच्छारहित होते हैं।

लययोगके पञ्चम अंगका नाम प्रत्याहार है। इसके लक्षण और साधनके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन पाये जाते हैं—

यथा कूर्मो निजांगानि समाकुञ्च्य प्रयत्नतः ।
प्रापय्यादृश्यतां तेषां निश्चिन्तस्तिष्ठति ध्रुवम् ॥
इन्द्रियेभ्यः परावृत्य मनःशक्तिं तथा दृढम् ।
अन्तर्मुखविधानं यत्प्रत्याहारः प्रकथ्यते ॥
अन्तर्जगद्द्वारभूतः प्रत्याहारोऽस्ति तेन वै ।
अन्यान्युच्चैः साधनानि लभ्यन्त इति योगिभिः ॥
शाम्भवीमुद्रयाभ्यासः प्रत्याहारस्य जायते ।
सिद्धये चास्य विविधाः क्रियाः प्रोक्ता मनीषिभिः ॥

जिस प्रकार कछुआ अपने अङ्गोंको सिकोड़ कर अदृश्य कर देता है उसी प्रकार मनकी शक्तिको इन्द्रियोंसे हटाकर अन्तर्मुख करनेको प्रत्याहार कहते हैं।

प्रत्याहार अन्तर्जगत्का द्वाररूप है। प्रत्याहारकी सहायतासे अन्य सब उच्च साधनोंकी सिद्धि होती है इसी कारण प्रत्याहारकी महिमा अधिक है। शाम्भवी मुद्रा द्वारा प्रत्याहार अभ्यास किया जाता है। प्रत्याहार सिद्धिके लिये अनेक प्रकारकी क्रियाओंका वर्णन महर्षियोंने किया है।

सिद्ध्युन्मुखेऽस्मिन्नादस्य प्रारम्भः किल जायते ।
यत्साहाय्यात्प्राप्यते हि समाधिरपि साधकैः ॥
शब्दादिविषयाः पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम् ।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीम् प्रत्याहारः स उच्यते ॥
जगद्यद्दृश्यते सर्वं पश्येदात्मानमात्मनि ।
प्रत्याहारः स च प्रोक्तो योगविद्भिर्महात्मभिः ॥
पादांगुष्ठौ च गुल्फौ च जङ्घामध्यौ तथैव च ।
चित्योर्मूलश्च जान्वोश्च मध्ये चोरुद्वयस्य च ॥
पायुमूलं ततः पश्चाद् देहमध्यं च मेढ्रकम् ।
नाभिश्च हृदयं गार्गि ! कण्ठकूपस्तथैव च ॥
तालुमूलं च नासाया मूलं चाक्ष्णोश्च मण्डले ।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटं च मूर्द्धा च मुनिपुङ्गवे ॥
स्थानेष्वेतेषु मनसा वायुमारोप्य धारयेत् ।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारपरायणः ॥

प्रत्याहारकी सिद्धि प्रारम्भ होते ही नादका प्रारम्भ होता है। नादकी सहायतासे समाधि तककी प्राप्ति होती है। इस कारण प्रत्याहारकी महिमा अनन्त है। शब्द आदि जो पाँच विषय हैं उनमें चञ्चल मन सदा रमण किया करता है। उनमेंसे मनको हटाकर परमात्माकी ओर मनकी गतिका परिवर्त्तन करनेसे प्रत्याहार कहाता है। यावन्मात्र चराचर जगत् जो कुछ देखनेमें और सुननेमें आता है उन सबको अपने हृदयमें आत्मस्वरूपवत् देखे तो इस अवस्थाको योगिगण प्रत्याहार कहते हैं। दोनों पादोंके अंगुष्ठ, दोनों पादोंके गुल्फ, दोनों जङ्घाओंके मध्यदेश, दोनों चित्योंके मूल देश, दोनों जानुओंके मध्यदेश, दोनों ऊरुओंके मध्यदेश, गुदाका मूल देश, देहका मध्यदेश, लिङ्गदेश, नाभिदेश, हृदयदेश, कण्ठकूप, तालुका मूलदेश, नासिका मूलदेश, दोनों नेत्रोंके मण्डल, दोनों भुजाओंके मध्यदेश, ललाटदेश और ब्रह्मरन्ध्र ये सब इस स्थूल शरीरके मर्मस्थान कहाते हैं। इन स्थानोंमें क्रमशः नीचेसे ऊपरकी ओर प्राणवायुसहित मनको धारण करते हुए शेषस्थानमें मनको पहुँचानेसे प्रत्याहार क्रियाका साधन हुआ करता है।

प्रत्याहार साधनमें उन्नतिके साथ ही साथ जो नाद श्रवण होने लगता है उसके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है—

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिर्लयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमे क्रमे च मन्यामहे नाम सुखं लयानाम् ॥
मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ॥
श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां तिरोधानं कार्यम् ।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटमत्र श्रूयते नादः ॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥

श्रीभगवान् आदिनाथ शिवजीने चित्तलयकी विधिका अनेक वर्णन किया है, उनमेंसे नादानुसन्धानक्रिया सबमें श्रेष्ठ है। मुक्तासनमें स्थित होकर शाम्भवी नामक मुद्राके साधनसे एकाग्रचित्त होता हुआ योगी दक्षिण कर्ण-द्वारा सुषुम्ना नाडीमें संयम करके नादको श्रवण करे । कर्णयुगल, नयन युगल, नासिका और मुख इनको हस्तअंगुलि द्वारा बद्ध करके निर्मल चित्त हो योगी यदि सुषुम्नागत होकर नाद श्रवण करे तो भी नादानुसन्धान क्रिया का साधन हो सकता है। नादानुसन्धानके चार भेद हैं यथा—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था ।

आरम्भावस्था—ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदो ह्यानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः कणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भयोगवान् भवेत् ॥

अब इन चार अवस्थाओंका वर्णन क्रमशः किया जाता है, यथा—ब्रह्मग्रन्थि-का भेदन हो जाय और आनन्द देनेवाली हृदय आकाशसे उत्पन्न नाना प्रकारके भूषणोंके शब्दके अनुरूप अनाहत ध्वनि सुनाई दे, वही प्रथम अवस्था है। इस अवस्थामें योगीको दिव्यदेह, दिव्यतेज और गन्धमें उत्तम गन्ध और नीरोगताकी प्राप्ति हुआ करती है, यह नाद शून्यहृदय आकाशसे ही आरम्भ हुआ करता है ।

घटावस्था—द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात् परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दास्तथा भवेत् ॥

द्वितीय घटावस्था वह कहाती है कि जब प्राणवायु और नाद कण्ठ स्थानके

मध्य चक्रसे आरम्भ होता हो। इस अवस्थामें योगी आसनमें दृढ़, पूर्ण ज्ञानी और देवताकी नाईं शरीरयुक्त हो जाता है। ब्रह्मग्रन्थिभेदनके अनन्तर कण्ठमें स्थित विष्णुग्रन्थिके भेदनसे इस नादकी उत्पत्ति होती है। इस अवस्थामें अतिशून्यस्थित भेरी नादका श्रवण हुआ करता है।

परिचयावस्था—तृतीयायान्तु विज्ञेयोविहायोमर्दलध्वनिः।
महाशून्यं तदायाति सर्वसिद्धिसमाश्रयः॥

तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब भ्रकुटीके मध्यमें जो आकाश है उस आकाशसे योगीको शब्द सुनाई देने लगे। इस अवस्थामें आकाशमें मर्दल ध्वनि सुनाई देती है और इस तृतीय अवस्थाको प्राप्त होनेसे सिद्धियाँ योगीको आश्रय कर लेती हैं।

निष्पत्यवस्था—चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः॥
रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा सर्वपीठगतोऽनिलः।
निष्पत्तौ वैष्णवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत्॥
नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम्।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः॥
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यः शृणोति ध्वनिं मुनिः।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्यात् यावत् स्थिरपदं व्रजेत्॥

चतुर्थ अवस्थामें योगीके चित्तमें सम्पूर्ण इन्द्रियादि सुखका नाश होकर स्वाभाविक आत्मसुखका उदय हो जाता है और तब योगी दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा और निद्रासे रहित हो जाता है। इस अवस्थामें रुद्रग्रन्थिका भेदन हो जाता है और प्राणवायु तब भ्रूमध्यस्थित सर्वेश्वर पीठको प्राप्त हो जाता है। इस अवस्थामें वीणा शब्द सुनाई दिया करता है और इसी अवस्थाका नाम निष्पत्ति अवस्था है। बार-बार नादानुसन्धान करके योगीके चित्तमें जो परमानन्दका उदय होता है उस परमानन्दका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता, एक मात्र श्रीगुरुदेव ही उस आनन्दको जानते हैं। योगीके स्थिर हो बैठकर अपने कर्णोंको अङ्गुलि द्वारा बन्द करते हुए कर्णध्वनिको श्रवण करनेसे भी नादानुसन्धान क्रिया होती है और इस क्रियासे क्रमशः चित्तमें लयका उदय होता है।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम्।
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत्॥
श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मकः॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशीवीणाभ्रमरनिःस्वना ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः ॥
महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं देवनाम परामृशेत् ॥

नादके अभ्याससे योगीके चित्तमें बाह्य ध्वनिका आवरण हो जाता है और एक पक्षमें ही योगीके चित्तकी चञ्चलता दूर होकर वह आनन्दको प्राप्त हो जाता है। प्रथमाभ्यासमें नाना प्रकारके नाद सुननेमें आते हैं। अनन्तर अभ्यास-वृद्धिके साथ-साथ अनेक सूक्ष्म नाद सुननेमें आते हैं, यथा—आदिमें समुद्र-तरङ्गध्वनि, मेघध्वनि, भेरी, और झर्झरध्वनियाँ सुनाई दिया करती हैं। अनन्तर मध्यावस्थामें मर्दल, शंख, घण्टा आदिके शब्द सुननेमें आया करते हैं और अन्तमें प्राणवायु ब्रह्मरन्ध्रमें स्थिर हो जाने पर देहमध्यसे नाना प्रकारके किङ्किणी, वंशी, वीणा और भ्रमरगुंजनकी नाईं शब्द श्रवण होते हैं। जब मेघ, भेरी आदिके महान् शब्द सुनाई देने लगें तब साधकको उचित है कि संयम द्वारा सूक्ष्म शब्द सुननेमें यत्न करे।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणोऽपि क्षिप्तं च मनो नान्यत्र चालयेत् ॥
यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्द्धं विलीयते ॥
मकरन्दं पिबेद्भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ।
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते ॥
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियन्त्रणे समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥
अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

साधनके समय योगीको उचित है कि घनशब्दसे सूक्ष्म शब्दोंमें और सूक्ष्म-शब्दसे घनशब्दमें ही मनको नियोजित रक्खें और रजोगुणसे अति चञ्चल मनको और किसी ओर न जाने दे। जिस नादमें मन लग जाय योगीको उचित है कि उसी नादमें मनको स्थिर करके लय करनेकी चेष्टा करे। जैसे भ्रमर पुष्परसको पीकर पुनः पुष्पसुगन्धिकी इच्छा नहीं करता है उसी प्रकार योगीको उचित है कि अपने नादासक्त चित्तको विषय-चिन्तासे रहित करे। मनरूप मत्तमातङ्ग विषयरूप उद्यानमें सदा

भ्रमण किया करता है। एक मात्र नादानुसन्धानरूप क्रिया ही उस मातङ्गके लिये अङ्कुशरूप है। यथार्थ अनहद शब्द जब सुनाई देने लगता है तब नादध्वनिके अन्तर्गत ईश्वररूपका दर्शन होता है और तत्पश्चात् परमात्मामें मन लयको प्राप्त होकर जीव विष्णुके परमपदको पहुँच जाता है।

तावदाकाशसंकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्त्तते।
निश्शब्दं तत् परब्रह्म परमात्मेति गीयते॥
यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः॥
प्रत्याहारादासमाधेर्नादभूमिः प्रकीर्तिता।
नादश्रुतेः क्रमोन्मेषो जायते क्रमशस्तथा॥
अन्तर्जगत्यग्रसराः साधकाः स्युर्यथा यथा।
नाद एव महद्ब्रह्म परमात्मा परः पुमान्॥

जब तक नाद सुननेमें आता है तब तक आकाशकी स्थिति रहती है, परन्तु जब मनसहित लयको प्राप्त होता है तब ही जीव ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है। नादरूप करके जो कुछ श्रवण होता है वही ईश्वर महाशक्ति है और जो शब्दरहित निराकार अवस्था है वही परब्रह्म परमात्माका रूप है, अर्थात् नाद अवस्थामें सगुणब्रह्म; तत्पश्चात् निर्गुण ब्रह्मका अनुभव हुआ करता है। नादानुसन्धानकी भूमि प्रत्याहारसे लेकर समाधि पर्य्यन्त और नाद श्रवणकी क्रमोन्नति क्रमशः होती है, जैसे जैसे योगी अन्तर्जगत्में अग्रसर होता है। नाद ही ब्रह्मस्वरूप है।

लययोगके षष्ठ अङ्गका नाम धारणा है, जिसमें षट्चक्र आदि क्रिया भी अन्तर्भुक्त है। धारणालक्ष्यके विषयमें योगशास्त्रमें कहा है।

अन्तर्जगत् समासाद्य पंचतत्त्वेषु कुत्रचित्।
सूक्ष्मप्रकृतिभावेषु यदा शक्नोति योगवित्॥
आधातुमन्तःकरणं तदा सा धारणा भवेत्।
अनया वशयत्येवान्ताराज्यं योगवित्सदा।
पंचधारणमुद्राभिः पञ्चतत्त्वाधिकारवान्॥
गुरूपदेशलभ्या या परा वै धारणा क्रिया।
प्राप्यन्ते शक्तयस्ताभिर्विविधाः साधकैः पराः॥
भूमिरापस्तथा तेजो वायुराकाश एव च।
एतेषु पंचभूतेषु धारणा पंचधेष्यते॥

योगी जब अन्तर्जगत्में पहुँचकर पञ्चसूक्ष्मतत्त्वोंमेंसे किसी सूक्ष्म प्रकृतिके भावमें अन्तःकरणको ठहरा सकता है तब उसीका नाम धारणा है। पञ्चधारणामुद्राओं

की सहायतासे पञ्चतत्त्वोंपर अधिकार जमाकर गुरूपदेशलभ्य धारणाक्रिया द्वारा योगवित् साधक अन्तर्राज्यको वशीभूत कर सकते हैं, उससे विविध शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच भूत हैं इस कारण धारणा भी पाँच प्रकारकी हुआ करती हैं।

पादादिजानुपर्य्यन्तं पृथ्वीस्थानं प्रकीर्तितम्।
आजान्वोः पायुपर्य्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम्॥
आपायोर्हृदयान्तञ्च वह्निस्थानमुदाहृतम्।
आहृन्मध्याद् भ्रूवोर्मध्यं यावद्वायुस्थलं स्मृतम्॥
आभ्रूमध्यात्तु मूर्द्धान्तं यावदाकाशमिष्यते।
मुनिश्रेष्ठः साधयेत्तत् पञ्चधारणमुद्रया॥

पैरोंसे लेकर जानुपर्य्यन्त पृथ्वीका स्थान है, जानुसे लेकर गुदापर्य्यन्त जलतत्त्वका स्थान है, गुदासे लेकर हृदयपर्य्यन्त अग्नितत्त्वका स्थान है, हृदयसे लेकर भ्रूपर्यन्त वायुतत्त्वका स्थान है और भ्रूसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्य्यन्त आकाशतत्त्वका स्थान है। श्रेष्ठ मुनिगण पञ्चधारणा नामक मुद्रा द्वारा इस प्रकार पञ्चतत्त्वधारणा का अभ्यास करते हैं।

अब धारणा क्रियाके अन्तर्गत षट्चक्रभेद प्रकरणका वर्णन किया जाता है। योगशास्त्र में वर्णित है—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
चतुरङ्गुलविस्तारं कन्दमूलं खगाण्डवत्।
नाड्यस्तस्मात्समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः॥

पायुसे दो अङ्गुलि ऊपर और उपस्थसे दो अङ्गुलि नीचे चतुरङ्गुलविस्तृत समस्त नाड़ियोंके मूलस्वरूप पक्षीके अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है जिसमेंसे बहत्तर हजार नाड़ियाँ निकलकर सर्व शरीरमें व्याप्त हो गई हैं। उन नाड़ियोंमेंसे योगशास्त्रमें तीन नाड़ियाँ मुख्य कही गई हैं, यथा—

मेरोर्बाह्यप्रदेशे शशिमिहिरशिरे सव्यदक्षे निषण्णे।
मध्ये नाडी सुषुम्ना त्रितयगुणमयी चन्द्रसूर्याग्निरूपा॥

मेरुदण्डके बहिर्देशमें इडा और पिङ्गला नामकी दो योगनाड़ियाँ हैं, जो चन्द्र और सूर्यरूपिणी तथा मेरुदण्डके वाम और दक्षिण दिशामें विराजमान रहती हैं और मेरुदण्डके मध्यदेशमें सत्त्वरजस्तमोगुणमयी तथा चन्द्रसूर्याग्निरूपा सुषुम्ना नाडी स्थित है। मूलसे उत्थित इन तीन नाडियोंकी गति कहाँसे कहाँ तक है इसके विषयमें योगशास्त्रमें बताया गया है, यथा—

इडा च पिङ्गला चैव तस्य वामे च दक्षिणे।
सर्वपद्मानि संवेष्ट्य नासारन्ध्रगते शुभे॥

मूलसे उत्थित होकर मेरुदण्डके वाम और दक्षिण दिशामें समस्त पद्मों अर्थात् चक्रोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रके अन्तपर्यन्त धनुषाकारसे इड़ा तथा पिङ्गला नाडी जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुख में सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है। भ्रूमध्यके ऊपर जहाँ पर इडा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँ पर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है। इसलिये वह स्थान त्रिवेणी कहलाता है, क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है, यथा योगशास्त्रमें—

इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इडा भोगवती गंगा, पिंगला यमुना और इन दोनोंके मध्यमें सुषुम्ना सरस्वती है। मेरुदण्ड के मध्यस्थित सुषुम्ना अत्यन्त सूक्ष्मा और स्थूल नेत्रके अगोचर होने से अन्तःसलिला सरस्वती रूप है। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना और सरस्वतीसे सङ्गम-स्थान त्रिवेणीमें स्नान करनेसे मुक्ति होती है उसी प्रकार जो योगी योगबलसे अपनी आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता त्रिवेणीमें स्नान करा सकते हैं उनको मोक्ष मिलता है, यथा शास्त्रमें:—

त्रिवेणियोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

त्रिवेणीमें स्नान करनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है। भ्रूमध्यके पास इडा और पिङ्गलाके साथ सुषुम्नासे मिलनेके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

चापाकारे स्थिते चान्ये सुषुम्ना प्रणवाकृतिः।
पृष्ठास्थिघुण्टिता भिन्ना तिर्यग्भूता ललाटगा।
भ्रूमध्ये कुण्डली लग्ना मुखेन ब्रह्मरन्ध्रगा॥

धनुषाकार इडा और पिङ्गलाके बीचमेंसे प्रणवाकृति सुषुम्ना मेरुदण्डके अन्त तक जाकर मेरुदण्डसे अलग हो वक्राकार धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें इडा और पिंगलाके साथ त्रिवेणीमें जा मिलती है और तदनन्तर वहाँसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है। इडा और पिङ्गलाकी तरह सुषुम्ना भी मूलाधार पद्मान्तर्वर्त्ती कन्द-मूलसे निकलकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त गई है। इसका और भी प्रमाण हैं, यथा योगशास्त्रमें लिखा है :—

मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलादाब्रह्मरन्ध्रगा।

मेरुदण्डके मध्यस्थिता सुषुम्ना कन्दमूलसे निर्गत होकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। अब ब्रह्मज्ञानप्रदानकारिणी अतः ब्रह्मनाडी सुषुम्नाके विषयमें योगशास्त्रकी सम्मति कही जाती है, यथा:—

विद्युन्मालाविलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा।
शुद्धज्ञानप्रबोधा सकलसुखमयी शुद्धबोधस्वभावा॥
ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्नाख्यनाड्या लपन्ति॥

विद्युत् की मालाओंकी तरह जिसका प्रकाश है, मुनियोंके चित्तमें सूक्ष्म प्रदीप्त मृणालतन्तुरूपसे जो शोभायमान होती है, शुद्ध ज्ञानकी प्रबोधकारिणी, सकल सुखमयी और शुद्धज्ञानस्वभावा यह ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना है। इसी नाडीके मुखमें ब्रह्मद्वार अर्थात् कुलकुण्डलिनि शक्तिके शिवसन्निधानमें जाने आनेके लिए पथ विद्यमान हैं और वह स्थान परम शिवशक्तिसामरस्यके द्वारा निर्गत अमृतधाराके प्राप्त करने का भी स्थान है। यही ब्रह्मद्वार ग्रन्थिस्थान अर्थात् कन्द और सुषुम्नाका सन्धिस्थान होनेसे सुषुम्ना नाडीका मुख है ऐसा योगी लोग कहते हैं। इस मूलसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त विस्तृत सुषुम्ना नाडीकी छः ग्रन्थियाँ हैं जो षट्चक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनीको जाग्रत करके इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्ना पथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरंध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है। अब इन छः चक्रोंका यथा-क्रम वर्णन करके पश्चात् लयक्रियाका वर्णन किया जायगा।

प्रथम चक्रका नाम मूलाधार पद्म है। जिसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्न-लिखित वर्णन मिलते हैं। यथाः—

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं
ध्वजाधो गुदोर्द्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णै-
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः॥
अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत्।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं
तदंके समास्ते धरायाः स्वबीजम्॥
वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या
लसद्वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाशा
प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धे॥

वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिवविलसत्कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥
तन्मध्ये लिंगरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिसलयाकाररूपः स्वयम्भूः।

मूलसे उत्थित होकर मेरुदण्डके वाम और दक्षिण दिशामें समस्त पद्मों अर्थात् चक्रोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रके अन्तपर्यन्त धनुषाकारसे इड़ा तथा पिङ्गला नाडी जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुख में सङ्गता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है। भ्रूमध्यके ऊपर जहाँ पर इडा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँ पर मेरुमध्यस्थित सुषुम्ना भी जा मिलती है। इसलिये वह स्थान त्रिवेणी कहलाता है, क्योंकि शास्त्रमें इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है, यथा योगशास्त्रमें—

इडा भोगवती गंगा पिंगला यमुना नदी।
इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना च सरस्वती॥

इडा भोगवती गंगा, पिंगला यमुना और इन दोनोंके मध्यमें सुषुम्ना सरस्वती है। मेरुदण्ड के मध्यस्थित सुषुम्ना अत्यन्त सूक्ष्मा और स्थूल नेत्रके अगोचर होने से अन्तःसलिला सरस्वती रूप है। जिस प्रकार गङ्गा, यमुना और सरस्वतीसे सङ्गम-स्थान त्रिवेणीमें स्नान करनेसे मुक्ति होती है उसी प्रकार जो योगी योगबलसे अपनी आत्माको ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्गता त्रिवेणीमें स्नान करा सकते हैं उनको मोक्ष मिलता है, यथा शास्त्रमें:—

त्रिवेणियोगः सा प्रोक्ता तत्र स्नानं महाफलम्।

त्रिवेणीमें स्नान करनेसे महाफलकी प्राप्ति होती है। भ्रूमध्यके पास इडा और पिङ्गलाके साथ सुषुम्नासे मिलनेके विषयमें योगशास्त्रमें लिखा है:—

चापाकारे स्थिते चान्ये सुषुम्ना प्रणवाकृतिः।
पृष्ठास्थिघुटिता भिन्ना तिर्यग्भूता ललाटगा।
भ्रूमध्ये कुण्डली लग्ना मुखेन ब्रह्मरन्ध्रगा॥

धनुषाकार इडा और पिङ्गलाके बीचमेंसे प्रणावाकृति सुषुम्ना मेरुदण्डके अन्त तक जाकर मेरुदण्डसे अलग हो वक्राकार धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें इडा और पिंगलाके साथ त्रिवेणीमें जा मिलती है और तदनन्तर वहाँसे ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त जाती है। इडा और पिङ्गलाकी तरह सुषुम्ना भी मूलाधार पद्मान्तर्वर्त्ती कन्द-मूलसे निकलकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त गई है। इसका और भी प्रमाण हैं, यथा योगशास्त्रमें लिखा है :—

मेरुमध्ये स्थिता या तु मूलाद्ब्रह्मरन्ध्रगा।

मेरुदण्डके मध्यस्थिता सुषुम्ना कन्दमूलसे निर्गत होकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। अब ब्रह्मज्ञानप्रदानकारिणी अतः ब्रह्मनाडी सुषुम्नाके विषयमें योगशास्त्रकी सम्मति कही जाती है, यथा:—

विद्युन्मालाविलासा मुनिमनसि लसत्तन्तुरूपा सुसूक्ष्मा।
शुद्धज्ञानप्रबोधा सकलसुखमयी शुद्धबोधस्वभावा॥
ब्रह्मद्वारं तदास्ये प्रविलसति सुधाधारगम्यप्रदेशम्।
ग्रन्थिस्थानं तदेतद्वदनमिति सुषुम्नाख्यनाड्या लपन्ति॥

विद्युत् की मालाओंकी तरह जिसका प्रकाश है, मुनियोंके चित्तमें सूक्ष्म प्रदीप्त मृणालतन्तुरूपसे जो शोभायमान होती है, शुद्ध ज्ञानकी प्रबोधकारिणी, सकल सुखमयी और शुद्धज्ञानस्वभावा यह ब्रह्म नाड़ी सुषुम्ना है। इसी नाडीके मुखमें ब्रह्मद्वार अर्थात् कुलकुण्डलिनि शक्तिके शिवसन्निधानमें जाने आनेके लिए पथ विद्यमान हैं और वह स्थान परम शिवशक्तिसामरस्यके द्वारा निर्गत अमृतधाराके प्राप्त करने का भी स्थान है। यही ब्रह्मद्वार ग्रन्थिस्थान अर्थात् कन्द और सुषुम्नाका सन्धिस्थान होनेसे सुषुम्ना नाडीका मुख है ऐसा योगी लोग कहते हैं। इस मूलसे लेकर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त विस्तृत सुषुम्ना नाडीकी छः ग्रन्थियाँ हैं जो षट्चक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलाधारस्थिता निद्रिता कुलकुण्डलिनीको जाग्रत करके इन छः चक्रोंके द्वारा सुषुम्ना पथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरंध्रके ऊपर सहस्रदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है। अब इन छः चक्रोंका यथाक्रम वर्णन करके पश्चात् लयक्रियाका वर्णन किया जायगा।

प्रथम चक्रका नाम मूलाधार पद्म है। जिसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथाः—

अथाधारपद्मं सुषुम्नास्यलग्नं
ध्वजाधो गुदोर्द्ध्वं चतुःशोणपत्रम्।
अधोवक्त्रमुद्यत्सुवर्णाभवर्णै-
र्वकारादिसान्तैर्युतं वेदवर्णैः॥
अमुष्मिन् धरायाश्चतुष्कोणचक्रं
समुद्भासि शूलाष्टकैरावृतं तत्।
लसत्पीतवर्णं तडित्कोमलाङ्गं
तदंके समास्ते धरायाः स्वबीजम्॥
वसेदत्र देवी च डाकिन्यभिख्या
लसद्वेदबाहूज्ज्वला रक्तनेत्रा।
समानोदितानेकसूर्यप्रकाशा
प्रकाशं वहन्ती सदा शुद्धबुद्धे॥
वज्राख्या वक्त्रदेशे विलसति सततं कर्णिकामध्यसंस्थं
कोणं तत् त्रैपुराख्यं तडिदिवविलसत्कोमलं कामरूपम्।
कन्दर्पो नाम वायुर्निवसति सततं तस्य मध्ये समन्तात्
जीवेशो बन्धुजीवप्रकरमभिहसन् कोटिसूर्यप्रकाशः॥
तन्मध्ये लिंगरूपी द्रुतकनककलाकोमलः पश्चिमास्यो
ज्ञानध्यानप्रकाशः प्रथमकिसलयाकाररूपः स्वयम्भूः।

विद्युत्पूर्णेन्दुविम्बप्रकरकरचयस्निग्धसन्तानहासी-
काशीवासी विलासी विलसति सरिदावर्त्तरूपप्रकारः ॥
तस्योद्‌र्ध्वे विसतन्तुसोदरलसत्सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं संछादयन्ती स्वयम् ।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपलामालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत्सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः ॥
कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचः कोमलकाव्यबन्धनरचनाभेदातिभेदक्रमैः ।
श्वासोच्छ्‌वासविभञ्जनेन जयतां जीवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुजगव्हरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः ॥

मूलाधारपद्म गुदाके ऊपर और लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें संलग्न है अर्थात् कन्द और सुषुम्नाके सन्धिस्थलमें इसकी स्थिति है। इसमें रक्तवर्ण चतुर्दल है और इस पद्मकी कर्णिका अधोमुख है। उज्ज्वल सुवर्ण की तरह इन दलों की दीप्ति है और उसमें व, श, ष, स ये चार वेदवर्ण हैं। इस पद्मकी कर्णिकामें चतुष्कोणरूप पृथ्वीमण्डल है; जो दीप्तियुक्त, पीतवर्ण, विद्युताङ्ग, कोमल अष्ट शूलके द्वारा आवृत्त है। इस पृथ्वीमण्डलके बीचमें पृथ्वीबीज 'लं' विराजमान है। मूलाधार चक्रमें डाकिनी नाम्नी देवीका स्थान है, जो उज्ज्वल चतुर्हस्तसम्पन्ना, रक्तनेत्रा, एककालीन उदित अनेक सूर्य्यतुल्य प्रकाशमाना और तत्त्वज्ञानका प्रकाश करनेवाली है। आधारपद्मकी कर्णिकाओंके गह्वरमें वज्रा नाडीके मुखमें त्रिपुरसुन्दरीके अधिष्ठानरूप एक त्रिकोणरूपी शक्तिपीठ विद्यमान है, जो कामरूप, कोमल और विद्युत्के समान तेजःपुञ्ज है। इस त्रिकोणके मध्यमें उसे व्याप्त करके कन्दर्प नामक वायु रहता है, जो जीवका धारण करनेवाला, बन्धुजीवपुष्पकी अपेक्षा विशेष रक्तवर्ण और कोटिसूर्य सदृश प्रकाश-शाली है। उसके बीचमें अर्थात् कन्दर्पवायुपूर्ण कामरूपी त्रिकोणके मध्य में स्वयम्भू लिङ्ग विद्यमान है, जो पश्चिम मुख, तप्तकाञ्चनतुल्य, कोमल, ज्ञान और ध्यानका प्रकाश नवीन पत्रांकुरसदृश अवयवविशिष्ट, विद्युत् और पूर्णचन्द्रकी बिम्बज्योति तुल्य, स्निग्धज्योतिःसम्पन्न, जलभँवरके तुल्य आकारयुक्त और काशीवाससदृश विलासशील वासयुक्त है। इस स्वयम्भू लिङ्गके ऊपर मृणाल अर्थात् कमलकी डन्ठीके तन्तुके सदृश सूक्ष्मा, शंखवेष्टनयुक्ता और साढ़े तीन वलयोंके आकारकी, सर्पतुल्य कुण्डलाकृति, नवीन विद्युन्मालाके समान प्रकाशशालिनी कुलकुण्डलिनी निज मुखसे उस स्वयम्भू लिङ्गके मुखको आवृत्त करके निद्रिता रहती है। इसी कुण्डलिनि शक्तिसे मधुर मधुर शब्द निकलता है। जिससे अकारादि क्षकारान्त समस्त शब्द अर्थात् कोमल काव्य, बन्ध काव्य, गद्यपद्यात्मक अन्यान्य वाक्य, उनके विशेष भेद, अतिभेद आदि सभी शब्दोंकी सृष्टि होती है। कुण्डलिनीके श्वासोंके द्वारा संसारमें जीवकी प्राणरक्षा होती है। ऐसी विद्युज्योतिसदृश कुण्डलिनीशक्ति मूलाधारपद्ममें विराजमान

है। यही शिवशक्तियुक्त चतुर्दलवीजाधार मूलाधार पद्म है, जिसका ध्यान करनेसे योगी अनन्त फलोंको प्राप्त कर सकते हैं। यथा—

ध्यात्वैतन्मूलचक्रान्तरविवरलसत्कोटिसूर्यप्रकाशां
वाचामीशो नरेन्द्रः स भवति सहसा सर्वविद्याविनोदी।
आरोग्यं तस्य नित्यं निरवधि च महानन्दचित्तान्तरात्मा
वाक्यैः काव्यप्रबन्धैः सकलसुरगुरून् सेवते शुद्धशीलः॥

मूलाधार पद्मका ध्यान करनेसे योगी वाक्पति नरोंमें इन्द्रतुल्य और सर्वविद्या-विनोदी हो जाते हैं। उनके शरीरमें आरोग्य और चित्तमें सदा ही परमानन्द विराजमान रहता है। और काव्यकलाकौशल और वाक्सिद्ध होकर वे बृहस्पतिके तुल्य हो जाते हैं। और भी योगशास्त्रमें—

मूलपद्मं यथा ध्यायेत् योगी स्वयम्भूलिंगकम्।
तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेद्ध्रुवम्॥
यद्यत्कामयते चित्ते तत्तत्फलमवाप्नुयात्।
निरन्तरकृताभ्यासात् तं पश्यति विमुक्तिदम्॥
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासात्सिद्धिमाप्नुयात्।
तस्य वायुप्रवेशोऽपि सुषुम्नायां भवेद् ध्रुवम्॥
मनोजयं च लभते वायुबिन्दुविधारणम्।
ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिर्भवेन्नैवात्र संशयः॥

यदि क्षणकाल मात्र भी योगी मूलाधार पद्म और यहाँ पर स्थित स्वयम्भूलिङ्गका ध्यान करे तो तत्क्षणमात्रमें उनके सब पापराशियोंका नाश हो जाता है। जो साधक जिस कामनासे यह ध्यान करता है वह उसी कामनाको प्राप्त हो जाता है। जो योगी यत्नपूर्वक इस पद्म और लिंगका ध्यान और अभ्यास करते हैं वे बहिरन्तर-व्यापी पूजनीय परमश्रेष्ठ मुक्तिप्रद परमात्माका अन्तर और बाहर दर्शन करनेमें समर्थ हो जाते हैं। चतुर्दल इस आधार पद्मके ध्यानसे छः मासके मध्य ही सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है और उसके सुषुम्नानाडीके मध्यमें वायु प्रवेश करने लगता है, इसमें सन्देह नहीं। इस आधारपद्मके ध्यानसे मनोजय, वायुधारण और बिन्दुधारण अर्थात् ऊर्द्ध्व रेतस्त्व शक्तिकी प्राप्ति हुआ करती है। इहलोक और परलोक दोनों लोकोंकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं।

स्वाधिष्ठानपद्मम्—द्वितीयन्तु सरोजं यल्लिंगमूले व्यवस्थितम्।
तद्बादिलान्तषड्वर्णपरिभास्वरषड्दलम्॥
स्वाधिष्ठानमिदं तत्तु पङ्कजं शोणरूपकम्।
बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिणी॥

योध्यायति सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविन्दकम् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भयः ॥
विविधं चाश्रुतं शास्त्रं निःशङ्की वै वदेद् ध्रुवम् ॥
मरणं खाद्यते तेन स केनापि न खाद्यते ॥
तस्य स्यात्परमा सिद्धिरणिमादिगुणान्विता ।
वायुसंचरणाद्देहे रसवृद्धिर्भवेद् ध्रुवम् ॥
आकाशपङ्कजगलत् पीयूषमपि वर्द्धते ॥

लिङ्गमूल में स्थित दूसरे चक्रका नाम स्वाधिष्ठान चक्र है। ब, भ, म, य, र, ल, ये छः वर्ण उसके छः दल हैं। इस षड्दलपद्मका रङ्ग रक्त है और उसमें बालाख्य सिद्धिकी स्थिति है और इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवीका नाम राकिणी है। जो साधक सदा इस सुन्दर षद्दल पद्मका ध्यान करता है वह ऐसे शास्त्रों की पूर्णरूप से व्याख्या करने को समर्थ हो जाता है, जिनको उसने कभी भी श्रवण नहीं किया था और तब ब्रह्मयोगी रोग और भय रहित होकर त्रिलोक में भ्रमण करने को समर्थ होता है। स्वाधिष्ठानध्यानकर्ता साधक अपनी मृत्युको नाश करनेमें समर्थ हो जाता है। परन्तु उसका नाश कोई भी नहीं कर सकता है और तब उसको अणिमा आदि सिद्धि की प्राप्ति होती है और उसके सारे शरीर में प्राणवायु का संचार होकर रसकी वृद्धि होती है। सहस्रार पद्मसे झरती हुई सुधाके पान करनेमें वह समर्थ हो जाता है।

मणिपूरपद्मम्—तृतीयं पङ्कजं नाभौ मणिपूरकसंज्ञकम् ।
दशारं डादिफान्तार्णं शोभितं हेमवर्णकम् ॥
रुद्राख्यो यत्र सिद्धोस्ति सर्वमङ्गलदायकः ।
तत्रस्था लाकिनी नाम्नी देवी परमधार्मिका ॥
तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पातालसिद्धिः स्यात् निरन्तरसुखावहा ॥
ईप्सितं च भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वञ्चनं चापि परकायप्रवेशनम् ॥
जाम्बूनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
ओषधिदर्शनञ्चापि निधीनां दर्शनं भवेत् ॥

तृतीय मणिपूर नामक चक्र है जो नाभिमूल में है। और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ, ये दश सुवर्णमय वर्ण जिसके दश दल रूपमें शोभायमान हैं। जहाँ रुद्राक्ष सिद्धलिंग सब प्रकार के मङ्गलोंको दान कर रहे हैं और जहाँ परम धार्मिका लाकिनी देवी विराजमान हो रही हैं। जो योगी इस मणिपूर चक्रका सदा ध्यान करता है उसको परम सुखदायक पातालसिद्धिकी प्राप्ति होती है। इसके ध्यानसे सब प्रकारके

दुःख और सब प्रकारके रोगोंकी शान्ति हुआ करती है और इस लोकमें वह सब अभिलषित पदार्थोंको प्राप्त कर सकता है और वह योगी तब कालजयी हो जाता है और परकाय-प्रवेश करनेकी शक्ति भी उसको प्राप्त हो जाती है। मणिपूर-ध्यानसिद्धयोगी स्वर्ण आदिकी उत्पत्ति कर सकता है। उसको सिद्धगणके दर्शन हुआ करते हैं, पृथ्वीकी सब औषधियोंको वह देख सकता है और भूगर्भस्थित धनराशि अन्वेषण करनेमें भी वह समर्थ हो जाता है।

अनाहतपद्मम्—हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पङ्कजं भवेत्।
कादिठान्तार्णसंस्थानं द्वादशच्छदशोभितम्॥
अतिशोणं वायुबीजं प्रसादस्थानमीरितम्।
पद्मस्थं तत्परं तेजो बाणलिंगं प्रकीर्तितम्॥
तस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं भवेत्।
सिद्धः पिनाकी यत्राऽऽस्ते काकिनी यत्र देवता॥
एतस्मिन् सततं ध्यानं हृत्पाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्ता वै कामार्त्ता दिव्ययोषितः॥
ज्ञानञ्चाप्रमितं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥
सिद्धानां दर्शनञ्चापि योगिनीदर्शनं तथा।
भवेत् खेचरसिद्धिश्च खेचराणां जयस्तथा॥
यो ध्यायति परं नित्यं बाणलिंगं द्वितीयकम्।
खेचरीभूचरीसिद्धिर्भवेत्तस्य न संशयः॥
एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माद्याः सकला देवा गोपयन्ति परं त्विदम्॥

चतुर्थ हृदयस्थित चक्रका नाम अनाहतचक्र है। क-ख-ग-घ-ङ-च-छ-ज-झ-ञ-ट-ठ ये द्वादश वर्णयुक्त अतिरक्तवर्ण इसके द्वादश दल हैं, हृदय अति प्रसन्न स्थान है, वहाँ 'यं' वायुबीज स्थित है। इस अनाहत पद्ममें परम तेजस्वी रक्तवर्ण बाण-लिङ्गका अधिष्ठान है जिसका ध्यान करनेसे इहलोक और परलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति हुआ करती है। दूसरे पिनाकी नामक सिद्धलिङ्ग और काकिनी नामक अधि-ष्ठात्री देवी वहाँ स्थित हैं। हृत्पद्मके बीचमें जो साधक इनका ध्यान करता है, देवाङ्गनाएँ सदा उसकी सेवा करनेमें व्यग्र रहती हैं। उस साधकमें त्रिकालज्ञानका उदय हो जाता है। वह साधक अपनी इच्छानुसार आकाश भ्रमण कर सकता है, दूर दर्शन और दूर श्रवणकी भी शक्ति उसमें हो जाती है। सिद्धगण और योगिनीगणके सदा दर्शन करने में वह समर्थ होता है और तब खेचरीसिद्धि द्वारा खेचरोंको जीत

सकता है। जो साधक इस चक्रस्थित द्वितीय दिव्यबाणलिङ्गका ध्यान करते हैं, भूचरी और खेचरी ये दोनों सिद्धियाँ उनको प्राप्त हो जाती हैं, इसमें सन्देह नहीं। इस पद्मके ध्यानका माहात्म्य वर्णन करनेको कोई भी समर्थ नहीं। ब्रह्मादि देवगण भी इस चक्रके ध्यानको गोपन करते हैं।

विशुद्धपद्मम्—कण्ठस्थानस्थितं पद्मं विशुद्धं नाम पञ्चमम्।
सुहेमाभं (धूम्रवर्णं) स्वरोपेतं षोडशच्छदशोभितम्॥
छगलाण्डोऽस्ति सिद्धोऽत्र शाकिनी चाधिदेवता।
ध्यानं करोति यो नित्यं स योगीश्वरपण्डितः॥
किं तस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धाख्ये सरोरुहे।
चतुर्वेदा विभासन्ते सरहस्या निधेरिव॥
रहःस्थाने स्थितो योगी यदा क्रोधवशो भवेत्।
तदा समस्तं त्रैलोक्यं कम्पते नात्र संशयः॥
इह स्थाने मनो यस्य दैवाद्याति लयं यदा।
तदा बाह्यं परित्यज्य स्वान्तरे रमते ध्रुवम्॥
तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरस्य शक्तितः।
संवत्सहस्रं जीवेत्स वज्रादपि दृढाकृतिः॥

पञ्चम पद्मका स्थान कण्ठमें है और नाम विशुद्ध चक्र है, उसका रङ्ग सुन्दर सुवर्णकी नाईं है (मतान्तरमें धूम्रवर्ण)। अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः ये षोड़श वर्ण सुशोभित उसके षोड़श दल हैं। इस पद्ममें छगलाण्ड नामक सिद्धलिङ्ग और शाकिनी नामक देवीकी स्थिति है। जो मनुष्य इस चक्रका नित्य ध्यान करते हैं वे इस संसारमें सुपण्डित और योगीश्वर कहलाते हैं। योगीको अन्यत्र अन्वेषण करनेका प्रयोजन क्या है ? विशुद्धाख्य चक्रके मध्यमें ही चतुर्वेद रत्नवत् प्रभाविशिष्ट दिखाई पड़ते हैं। इस अवस्थामें योगी यदि कभी कोपान्वित हो तो उसके डरसे समस्त त्रिलोक कम्पित होता है इसमें कोई भी सन्देह नहीं। जो साधक इस षोडश दल पद्ममें दैवात् अपने मनको लय कर देते हैं वे निर्विषय होकर आत्मामें रमण करते हैं। इस पद्मध्याता साधकका शरीर वज्रसे भी अति कठिन हो जाता है। आधि-व्याधिसे उसके शरीरको कोई भी हानि नहीं पहुँच सकती और वह सहस्रों वर्षों तक जीवित रह सकता है।

आज्ञापद्मम्—आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाख्यं तन्महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी॥
शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयं यज्ज्ञात्वा नावसीदति॥

एतदेव परं तेजः सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः ॥
एतत् चन्द्रस्य माहात्म्यमृषिभिस्तत्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परं तत्त्वं सुभाषितम् ॥
यः करोति सदाभ्यासमाज्ञापद्मे विचक्षणः ।
वासनाया महाबन्धं तिरस्कृत्य प्रमोदते ॥
यानि यानीह प्रोक्तानि पञ्चपद्मफलानि वै ।
तानि सर्वाणि सुतरामेतज्ज्ञानाद्भवन्ति हि ॥

भ्रूद्वयके मध्यमें छठाँ चक्र है । यह शुभ्रवर्ण है और ह क्ष युक्त इसके दो दल हैं और इस चक्रका नाम आज्ञाचक्र है । शुक्ल नामक महाकाल इस पद्मके सिद्धलिङ्ग और हाकिनी नाम्नी महाशक्ति इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी हैं । इस पद्ममें शरत्कालके चन्द्रकी नाई निर्मल अक्षर ठं बीज प्रकाशित है जिसके साधनसे परमहंस पुरुष कभी अवसन्नताको प्राप्त नहीं होते । यह परम तेजः स्वरूप आज्ञाचक्रका वर्णन सर्वतन्त्रों में गोपनीय है, इसके साधनसे योगिगण परम सिद्धीको प्राप्त करते हैं इसमें सन्देह नहीं । इस आज्ञाचक्रका माहात्म्य तत्त्वदर्शी ऋषियोंने नाना शास्त्रोंमें बहु प्रकारसे वर्णन किया है । जो मनुष्य आज्ञाचक्रमें मनस्थापनपूर्वक धारणा अभ्यास करते हैं, वे अपने सब वासना-बन्धनों को तिरस्कारपूर्वक परमानन्दको प्राप्त हुआ करते हैं । मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्ध इन पाँचों चक्रोंके जो जो फल वर्णन किये गये हैं, वे सब फल एकाधारमें इस आज्ञाचक्र में प्राप्त होते हैं । अर्थात् सब पद्मों से यह पद्म श्रेष्ठतर समझा गया है ।

ब्रह्मरन्ध्रम्— तत ऊर्ध्वं तालुमूले सहस्रारं सुशोभनम् ।
अस्ति यत्र सुषुम्नायां मूले सविवरं स्थितम् ॥
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्रारं पुरोहितम् ।
तत्कन्दे योनिरेकाऽस्ति पश्चिमाभिमुखी मता ॥
तस्या मध्ये सुषुम्नाया मूलं सविवरं स्थितम् ।
ब्रह्मरन्ध्रं तदेवोक्तं मुक्तिद्वारं च संज्ञया ॥
ब्रह्मरन्ध्रमुखे तासां सङ्गमः स्यादसंशयः ।
यस्मिन् स्नानात्स्नातकानां मुक्तिः स्यादविरोधतः ॥
इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिङ्गला चार्कपुत्रिका ।
मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां सङ्गोऽतिदुर्ल्लभः ॥
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातनम् ॥

मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्याः सलिले यदा।
विचिन्त्य यस्त्यजेत्प्राणान् स सदा मोक्षमाप्नुयात् ॥
नातः परतरं गुह्य त्रिषु लोकेषु विद्यते।
गोप्तव्यं तत्प्रयत्नेन न चाख्येयं कदाचन ॥
ब्रह्मरन्ध्रे मनो दत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
सर्वपापविनिर्मुक्तः स याति परमां गतिम् ॥
अस्मिल्लीनं मनो यस्य स योगी मयि लीयते।
अणिमादिगुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः ॥

इसके अर्थात् द्विदल पद्मके उद्ध्र्वमें जो तालुमूल है उसमें सुशोभित सहस्र-दल कमल है, जहाँ छिद्रसहित सुषुम्ना नाडीका मूल स्थान है। उस सहस्रदलकमल-के मूलदेशमें एक त्रिकोणाकार यन्त्र अधोमुख स्थित है। उसके मध्यमें जहाँ पर सच्छिद्र सुषुम्ना नाडीका मूल है, उसीको ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं और उसका नाम मुक्ति-द्वार भी कहा जाता है। ब्रह्मरन्ध्रमें ही इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गमस्थान तीर्थश्रेष्ठ प्रयाग कहाता है, जिसमें स्नान करनेसे स्नान करनेवालोंको तुरत ही मुक्ति-पदकी प्राप्ति हो जाती है। इडा गङ्गा, पिङ्गला यमुना है, सो पहले ही कह चुके हैं। इनके बीचमें जो सुषुम्ना नाडी है वही सरस्वती कहाती है और इन तीनोंका सङ्गम-स्थान अति दुर्लभ है। इड़ा पिङ्गला आदिके सङ्गममें जो साधक स्नान करता है वह सब पापोंसे मुक्त होकर सनातन ब्रह्मपदको प्राप्त कर लेता है। मृत्युकाल में यदि साधक चिन्तासे भी इस त्रिवेणीका स्नान करता हुआ शरीरत्याग करता है तो वह तत्क्षणमें मुक्तिपदको प्राप्त हो जाता है। त्रिलोक में इसके सिवाय और कोई गुह्यतर तीर्थ नहीं है। इस कारण यत्नपूर्वक इसको गोपन रखना उचित है। ब्रह्मरन्ध्र में मन अर्पण करके यदि अर्द्धक्षण भी साधक स्थिर रह सके तो वह सब पापोंसे मुक्त होकर परम गतिको प्राप्त कर लेगा। इन ब्रह्मरन्ध्रमें जिसका मन लीन हो जाता है, वही पुरुषश्रेष्ठ योगी है, इस लोकमें उसकी इच्छाके अनुसार अणिमादिक अष्ट-सिद्धियाँ उसकी सेवा करती हैं और देहान्तर होनेपर वह परब्रह्ममें ही लीनताको प्राप्त होता है।

शिवशक्तियोगः—अत ऊद्र्ध्वं दिव्यरूपं सहस्रारं सरोरुहम्।
ब्रह्माण्डाख्यस्य देहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम् ॥
कैलाशो नाम तस्यैव महेशो यत्र तिष्ठति।
नकुलाख्यो विलासी च क्षयवृद्धिविवर्जितः ॥
चित्तवृत्तिर्यदा लीना तस्मिन् योगी भवेद्ध्रुवम्।
यदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥
तस्माद् गलितपीयूषं पिवेद्योगी निरन्तरम्।

मृत्योर्मृत्युं विधायैप कुलं जित्वा सरोरुहे ॥
अत्र कुण्डलिनी शक्तिर्लयं याति कुलाभिधा ।
तदा चतुर्विधा सृष्टिर्लीयते परमात्मनि ॥
मूलाधारे हि यत्पद्मं चतुष्पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कुण्डलिनी शक्ती रन्ध्रं त्यजति नान्यथा ॥

इसके अर्थात् ब्रह्मरन्ध्रके ऊद्र्ध्वमें सहस्रदल कमल स्थित है, वह मुक्तिप्रद स्थान ब्रह्माण्डरूप देहके बाहर स्थित है। उसका नाम कैलाश है और जहाँ देवादिदेव महादेव सदा विराजमान हैं और वे ही महेश्वर नामक परम शिव हैं। उनको नकुल भी कहते हैं। वे नित्य विलासी हैं और उनका क्षय और वृद्धि कदापि नहीं होती अर्थात् वे सदा एकरूप ही हैं। इस सहस्रदल कमल में जो साधक अपनी चित्तवृत्ति को निश्चलरूप से लीन करता है, वह अखण्ड ज्ञानरूपी निरञ्जन परमात्माकी स्वरूपताको लाभ कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सहस्रदलपद्मसे निर्गत पीयूपधाराको जो योगी निरन्तर पान करता है वह अपनी मृत्युको मारकर कुलजय द्वारा चिरजीवी हो जाता है। इसी सहस्रदल कमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्तिका लय होनेपर चतुर्विध सृष्टिका भी परमात्मामें लय हो जाता है। मूलाधारमें जो चार दलोंका पद्म है, इस अवस्थामें वहाँकी कुण्डलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थानको त्याग कर देती है।

षट्चक्रपरिभेदेन भवेत् कुण्डलिनीलयः ।
यदा विज्ञायतेऽखण्डज्ञानरूपी निरञ्जनः ॥
सौष्ठवं चात्र सर्वेऽपि त्रिविधा योगिनोऽनिशम् ।
इमां क्रियां विधातुं वै शक्नुवन्तीति निश्चितम् ॥
यस्याः सर्व्वोऽपि कल्याणं यथावदधिगच्छति ।
उपासका वै ये चापि शक्तिः पुरुषभावयोः ॥
साहाय्याद्धारणाभ्यासात् षट् चक्राणि जयन्ति ते ।
आदिचक्रे हि प्रकृतेः प्राधान्यं मध्यमे द्वयोः ॥
सप्तमेऽद्वैतभावस्य पुरुषस्य प्रधानता ।
ज्योतिषा मन्त्रनादाभ्यां षट्चक्राणां हि भेदनम् ॥
सम्पद्यते त्रयोऽप्येते श्रेष्ठाः स्युरुत्तरोत्तरम् ।
विज्ञातवान् योगतत्त्वं श्रीगुरोः कृपया भवेत् ॥
एतद्योगाधिकारस्य क्रियाया ज्ञानमाप्यते ।
वेदैर्मन्त्रैश्च सततं क्रियेयमतिगोपिता ॥

क्रमशः कुण्डलिनी षट्चक्र भेदन द्वारा सहस्रदलपद्ममें जाकर लयको प्राप्त हो

जाती है, यही शिवशक्ति संयोगरूप मुक्तिक्रिया कहाती है और इस अवस्था में वह योगी अखण्डज्ञानरूपी परमात्माके रूपको प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। इसमें सुगमता यह है कि मन्त्रयोगी, हठयोगी और लययोगी सबके लिए यह सुगम है और सब उपासकोंके लिये यह कल्याणप्रद है। शिवोपासक, विष्णूपासक, सूर्योपासक, गणपतिउपासक और शक्तिउपासक सब ही प्रकृति पुरुषात्मक युगल भावकी सहायतासे धारणा साधन द्वारा षट्चक्र भेदनमें समर्थ हो सकते हैं। प्रथम चक्रमें केवल प्रकृतिप्राधान्य, मध्यके चक्रोंमें युगल मूर्तिका प्राधान्य और अन्तिम चक्रमें अद्वैतभावापन्न पुरुषभावका प्राधान्य समझने योग्य है। षट्चक्रभेदन, मन्त्र, ज्योति और नाद इन तीनोंकी सहायतासे हो सकता है। ये तीनोंके अधिकार उत्तरोत्तर उन्नत हैं। मन्त्र, हठ, लय, राज, चारो योगोंके ज्ञाता श्रीगुरु महाराजकी कृपासे ही, इस योगके अधिकारक्रम और विभिन्न क्रियाशीलका उपदेश प्राप्त हो सकता है। वेद और तन्त्रमें यह क्रिया अति गोपनीय है।

लय योगके सप्तम अङ्गका नाम ध्यान है। इसके निम्नलिखित लक्षण तथा फल योगशास्त्रमें बताये गये हैं—

अवलोकनसाहाय्याद्ध्यानवृत्तिपुरस्सरम् ।
साक्षात्कारो हि ध्येयस्य ध्यानमित्युच्यते बुधैः ॥
तत्तद्योगे पृथग् ध्यानं वर्णितं योगकोविदैः ।
मंत्रे स्थूलं हठे ज्योतिर्ध्यानं वै सिद्धिदं स्मृतम् ॥
लययोगाय यो ध्यानविधिः सम्प्रुपवर्णितः ।
बिन्दुध्यानं च सूक्ष्मं वा तस्य संज्ञा विधीयते ॥
योनिमुद्रा तथा शक्तिचालिनी चाप्युभे परम् ।
साहाय्यं कुरुतो नित्यं बिन्दुध्यानस्य सिद्धये ॥
साधनेन प्रबुद्धा सा कुलकुण्डलिनी यदा ।
तदा हि दृश्यते किन्तु नास्थिरा प्रकृतेर्वशात् ॥
परेण पुंसा सङ्गेन चाञ्चल्यं विजहाति सा ।
अतीन्द्रियौ रूपपरित्यक्तौ प्रकृतिपूरुषौ ॥
तथापि साधकानां वै हितं कल्पयितुं प्रभुः ।
ज्योतिर्मयो युग्मरूपः प्रादुर्भवति दृक्पथे ॥
ज्योतिर्ध्यानमधिदैवं बिन्दुध्यानं प्रकीर्तितम् ।
मुद्रासाहाय्यतो ध्यानं प्रारभ्य नियतेन्द्रियः ॥
निश्चलो निर्विकारो हि तत्र दार्ढ्यं समभ्यसेत् ॥

मानसिक दृष्टिकी सहायतासे ध्यान वृत्ति द्वारा ध्येयके साक्षात्कारको

ध्यान कहते हैं। विभिन्न योगमार्गमें विभिन्न ध्यानका वर्णन है। यथाः—मन्त्रयोगमें स्थूल ध्यान, हठयोगमें ज्योतिर्ध्यान करनेसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है। लययोगके लिए महर्षियोंने जिस ध्यानकी विधि वर्णित की है उसको सूक्ष्मध्यान अथवा बिन्दुध्यान कहते हैं। शक्तिचालिनीमुद्रा और योनिमुद्रा दोनों ही बिन्दुध्यानकी सिद्धिमें परम सहायक हैं। साधन द्वारा कुलकुण्डलिनी महाशक्तिका जब उद्बोधन होने लगता है तो वे दर्शनपथमें आती हैं। परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक चाञ्चल्यके कारण अस्थिर रहती हैं। क्रमशः महाशक्तिका परम पुरुषके साथ संयोग होनेपर प्रकृतिका चाञ्चल्य दूर हो जाता है। ब्रह्म अथवा ब्रह्मशक्ति अतीन्द्रिय वा रूपविहीन होनेपर भी अधिदैव ज्योतिके रूपमें साधकको लयोन्मुख करनेके अर्थ युगल रूपमें दर्शन देते हैं। अधिदैव ज्योतिःपूर्ण बिन्दुमय उस ध्यानको बिन्दुध्यान कहते हैं। मुद्रा आदिकी सहायतासे ध्यानका प्रारम्भ करके निश्चल निर्द्वन्द्व होकर ध्यानकी दृढ़ता की जाती है।

बिन्दुध्यानफल—स्थूलध्यानाच्छतगुणं ज्योतिर्ध्यानं विशिष्यते।
ततोऽपि बिन्दुध्यानस्य फलं शतगुणं स्मृतम्॥
अतिसूक्ष्मतया बिन्दुध्यानं गोप्यं प्रयत्नतः।
कृपया गुरुदेवस्य महामायाप्रसादतः॥
बिन्दुध्यानस्योपलब्धिर्जायते साधकस्य वै।
योगसाधनविज्ञाता योगिराट् परमो गुरुः॥
बिन्दुध्यानोपदेशेन शिष्यश्रेयः करोति हि।
आकर्ण्यते नादशब्दः प्रत्याहारो दृढो यदा॥
अवस्थाभेदतो नादवृद्धिः स्यादुत्तरोत्तरम्।
तत्साहाय्यात् धारणायाः सिद्धिर्ध्यानस्य चाप्यते॥
धारणायां समभ्येति ज्योतिः किञ्चित्प्रकाशताम्।
सार्द्धं धारणया तस्य ज्योतिषोऽपि क्रमोन्नतिः॥
धूम्रनीहारखद्योतशशिसूर्याग्निभेदतः।
भेदाच्च पञ्चतत्त्वस्य विकाशो ज्योतिषो भवेत्॥
धारणा दृढतापन्ना सिद्धिरस्योपजायते।
सिद्धायां धारणायां वै ब्रह्मवच्छक्तिरूपकम्॥
परात्मदर्शनं बिन्दुध्याने शाश्वत्प्रजायते।
गुणवद्रूपतत्त्वे हि बिन्दुध्यानं प्रकीर्त्तितम्॥
जन्मजन्मान्तरप्राप्तसाधनाक्रियया भवेत्।
बिन्दुध्यानोपलब्धिर्हि योगिनः साधकस्य वै॥

स्थूल ध्यानसे शतगुण फल ज्योतिर्ध्यानमें है और ज्योतिर्ध्यानसे शतगुण फल बिन्दुध्यानमें है। बिन्दुध्यान सूक्ष्मातिसूक्ष्म होनेसे अति कठिन और गोप्य है। श्रीगुरुकृपा और ब्रह्मशक्ति महामायाके प्रसादसे ही बिन्दुध्यानकी प्राप्ति होती हैं। योगसाधन चतुष्टयके तत्त्ववेत्ता योगिराज सद्गुरु ही बिन्दुध्यानके उपदेश द्वारा शिष्यको कृतकृत्य कर सकते हैं। प्रत्याहारकी दृढ़ता होते ही नाद श्रवण होना प्रारम्भ हो जाता है। अवस्थाभेदसे उत्तरोत्तर नादकी उन्नति होती जाती है। नादकी सहायतासे धारणासिद्धि और ध्यानसिद्धि होती है। ज्योतिका विकास धारणा भूमिमें होता है। धारणाकी क्रमोन्नतिके साथ ज्योतिकी क्रमोन्नति होती है। नीहार (कोहरा) धूम्र, खद्योत, जुगनू, चन्द्र, अग्नि, सूर्य आदि भेदसे ज्योतियोंका विकास पञ्चतत्त्व भेदानुसार होता है। धारणाभूमिकी दृढ़तासे इनकी दृढ़ता होती है और अन्तमें धारणाकी सिद्धावस्थामें प्रकृतिपुरुषात्मक आत्मदर्शन बिन्दुध्यानमें होता है। बिन्दुध्यान ही सगुण रूपका रहस्य है। अनेक जन्मजन्मान्तरके साधन द्वारा योगीको बिन्दुध्यानकी सिद्धि होती है।

लययोगके अष्टम अङ्गका नाम लयक्रिया है, जिसके साथ लययोग-समाधिका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। इसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथा—

सूक्ष्मा योगक्रिया या स्याद्ध्यानसिद्धिं प्रसाध्य वै।
समाधिसिद्धौ साहाय्यं विदधाति निरन्तरम् ॥
दिव्यभावयुता गोप्या दुष्प्राप्या सा लयक्रिया।
महर्षिभिर्विनिर्दिष्टा योगमार्गप्रवर्तकैः ॥
लयक्रिया प्राणभूता लययोगस्य साधने।
समाधिसिद्धिदा प्रोक्ता योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ॥
षट्चक्रं षोडशाधाराद्विलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
पीठानि चोनपञ्चाशत् ज्ञात्वा सिद्धिरवाप्यते ॥
समाधिसिद्धिर्ध्यानस्य सिद्धिश्चाप्यनया भवेत्।
आत्मप्रत्यक्षतां याति चैतया योगविज्जनः ॥

जो सूक्ष्म योगक्रियायें ध्यानकी सिद्धि कराकर साधककी समाधिसिद्धिमें सहायक होती हैं, अलौकिक भावपूर्ण अति गोप्य और अति दुर्लभ उक्त क्रियाओंको महर्षियोंने लयक्रिया करके वर्णन किया है। लयक्रिया ही लययोगका प्राणरूप है और समाधिसिद्धिका कारण है। षट्चक्र, षोडश आधारसे अतीत व्योमपञ्चक और उन्चास पीठ इनको जाननेसे लययोगमें सिद्धि प्राप्त होती है। लयक्रियाके द्वारा ध्यानसिद्धि, समाधिसिद्धि होती है और आत्मसाक्षात्कार होता है।

अब लयक्रियाके अन्तर्गत विविध क्रियाओंका वर्णन किया जाता है—

व्योमजयीक्रिया—शब्दा व्योमगुणा ज्ञेयाः शब्दसृष्टिरलौकिकी ।
ॐकाररूपशब्दात्मब्रह्मणः स्वरसप्तकम् ॥
ततश्च श्रुतयो ग्राममूर्च्छनाद्या विनिर्गताः ।
एषां साहाय्यतः शब्दसृष्टेरानन्त्यमुच्यते ॥
व्यष्टिशब्दाविचारेणापनीय रसबोधतः ।
वासनां भावयच्छब्दांस्तैरेव मनसो लयः ॥
इत्थं लयक्रियासिद्धिः प्रोच्यते योगपारगैः ॥

आकाशगुण शब्द है। शब्दसृष्टि अलौकिक और अनन्त है। ओङ्कार रूप शब्दात्मक ब्रह्मसे सप्तस्वर और तदनन्तर सप्तस्वरसे श्रुति, मूर्छना, ग्राम आदिकी सहायतासे शब्दमयी सृष्टिका अनन्त विस्तार है। व्यष्टिशब्दका विचार न करके शब्दरस बोधसे वासनाको हटाकर दिव्य शब्दका अनुगमन और शब्दके साथ मन लय करनेसे यह क्रिया होती है।

आशुगजयीक्रिया—तन्मात्रा मरुतः स्पर्शस्त्वचा तद्ग्रहणम्भवेत् ।
तत्तदङ्गेषु वैशिष्ट्यं तत्स्थानं मर्म उच्यते ॥
मारकोत्तेजकौ चेति मोहकश्चेति तत्त्रिधा ।
उत्तेजको मारकात्स्यान् मोहकः प्रबलस्ततः ॥
तिसृणां मर्मशक्तीनां सङ्घातो यत्र जायते ।
अजयतां समाप्नोति तत्स्थानं जन्तुभिः सदा ॥
स्पर्शवैषयिकानन्दप्रमादरहितं मनः ।
विधाय धारणां ध्यानसाहाय्यात् दिव्यभाविकाम् ॥
सूक्ष्मां शक्तिमनुसरेल्लयेन मनसो ध्रुवम् ।
क्रिया सम्पद्यते चैषा योगिनामिति निश्चयः ॥

वायुकी तन्मात्रा स्पर्श है। स्पर्शसुखग्राहक त्वचा है। विशेष विशेष स्थानोंमें विशेषता भी रहती है। विशेष स्थानोंको मर्मस्थान कहते हैं। मर्मस्थानके तीन भेद हैं। वे यथाक्रम मारक, उत्तेजक और मोहक होते हैं। मारकसे उत्तेजक और उत्तेजकसे मोहकका प्राबल्य है। जहाँ तीनों मर्मशक्तियोंका समावेश होता है वह मर्म जीवके लिए अजेय होता है। मनको स्पर्शसुख, विषयरस और प्रमादसे रहित करके धारणा ध्यानकी सहायतासे दिव्य विषयवती सूक्ष्मप्रकृतिका अनुसरण करके मन लय कर लेनेसे यह क्रिया होती है।

प्रभाजयीक्रिया—अग्नितत्त्वस्य तन्मात्रा रूपमुक्तं मनीषिभिः ।
नामरूपात्मकं विश्वमिति सा हि बलीयसी ॥

रूपस्य दर्शनाज्जन्तुर्मोहमाप्नोति निश्चितम् ।
अभ्यस्येद्रहसि स्थित्वा तन्मात्रजयसाधनम् ॥
प्रियं रूपं पुरस्थाप्य वासनाशून्यमानसः ।
दिव्ये तस्मिन् हि मनसो लयात्सिद्ध्यति सा क्रिया ॥

अग्नितत्त्वकी तन्मात्रा रूप है। नामरूपात्मक विश्व होनेके कारण यह तन्मात्रा बलवती है। दर्शन मात्रसे रूप मोहित किया करता है। पंचतन्मात्राजयी क्रियाका अति एकान्त गुप्त स्थानोंमें रहकर साधन करना होता है। यह क्रिया भी अति गोपनीय रखने योग्य है। अति प्रियसे प्रिय रूपको सम्मुख रखकर मनको वासना और प्रमाद रहित करके दिव्य विषयवान् रूपमें मन लय करनेसे यह क्रिया होती है।

रसजयीक्रिया—पञ्चभूतेषु पयसस्तन्मात्रा रस उच्यते ।
संगृह्येत रसनया सा कर्मद्वयतत्परा ॥
शक्तेर्हि तत्र प्राबल्यं यत्र कार्य्यद्वयश्रुतिः ।
रसना प्रबलो तस्मात् तज्जये न रसो वशः ॥
जिह्वाग्रे संयमं कुर्य्यान्मनो हि विषयान्तरात् ।
अपनीय रसास्वादे दिव्ये वै मनसो लयः ॥
एवं गुरूपदेशेन कामनाजयपूर्वकम् ।
जितेन्द्रियत्वमाप्नोति ध्यायन् वै साधकः सुधीः ॥

पञ्चभूतोंमेंसे जलकी तन्मात्रा रस है। रसना इन्द्रिय रसकी धारक है। रसना दो कार्यतत्पर है। जहाँ जहाँ दो कार्य्य होगा वहाँ शक्तिकी प्रबलता रहती है। इस कारण रसनाकी प्रबलता है। रसना जय कर लेनेसे रसजय होता है, जिससे मनोजय हो सकता है। रसनाके अग्रभागमें संयम करें, और साधन के समय विषयसे मनको हटाकर कामनाजयपूर्वक दिव्यरसास्वादमें मनको लय करें। गुरूपदेश द्वारा इस प्रकार साधन करनेसे साधक जितेन्द्रिय होता है।

सुरभिजयीक्रिया—पृथिवीतत्त्वतन्मात्रा गन्धः प्रोक्तो मनीषिभिः ।
शरीरं पार्थिवं यस्माद्दिव्यगन्धस्य सन्निधिः ॥
यथा क्रियान्तरप्राप्तिर्गुरुदेवोपदेशतः ।
एषा क्रिया रहस्यान्तर्गुरुदेवाद्धि लभ्यते ॥
चन्द्रं सम्प्रेक्षमाणेन क्रियेयं सिद्धिराप्यते ।
विषयेभ्यो विरम्यैव दिव्यगन्धे मनोलयात् ॥
विजित्य चेन्द्रियग्रामान् सुगन्धे वा मनोलयात् ।
क्रियेयं सिद्धिमाप्नोति वदन्तीति पुरोविदः ॥

पृथिवी तत्त्वकी तन्मात्रा गन्ध है। शरीर पार्थिव न होनेके कारण उसमें दिव्य गन्ध सदा ही विद्यमान रहती है। नासिका घ्राणका ग्राहक है। सब प्रकारकी क्रिया का रहस्य जिस प्रकार गुरुदेवसे प्राप्त होता है, उसी प्रकार इस क्रियाका सब रहस्य भी गुरुदेवसे प्राप्त होता है। चन्द्रदर्शन करते हुए इस क्रियाका साधन किया जाता है। विषयरागरहित होकर दिव्यगन्धमें मन लय करनेसे अथवा जितेन्द्रिय होकर किसी सुगन्धमें मन लय करनेसे इस क्रिया का साधन होता है।

अजपाक्रिया—कुंडलिन्याः समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेद स वेदवित्॥
सोऽहं मन्त्रं जपन् देवीमजपां हृदि भावयेत्।
लयेन मनसो मन्त्रे मनः प्राणलयो भवेत्॥
उपासनीया गायत्री त्रिकाल इति सा त्रिधा।
तथास्य भेदास्त्रिविधाः प्रोक्तास्तत्तन्त्रदर्शिभिः॥
मन्त्रप्राणस्थिरत्वं हि प्रथमे परिकीर्त्तितम्।
प्राणमन्त्रार्थयोः स्थैर्यं द्वितीये किल जायते॥
स्थितिस्तृतीयभावस्य मनसश्च निगद्यते।
ततः पश्यन्ति ते देवं परमात्मानमव्ययम्॥

कुलकुण्डलिनी महाशक्तिसे उत्पन्न हुई प्राणोंको धारण करनेवाली जो अजपा गायत्री है वही महाविद्यारूपिणी प्राणविद्या है। उसके भेदोंको जान लेनेसे योगी सर्वज्ञ होता है। सोऽहं मन्त्र जप करते हुए निरन्तर अजपा गायत्री देवीकी उपासना करे। मन्त्रमें मनका लय करे, तब प्राण और मन दोनों ही लय हो जाते हैं। गायत्रीकी त्रिकाल उपासनाके सदृश इसके भी तीन भेद हैं। प्रथम मन्त्र और प्राणकी स्थिति। दूसरा प्राण और मन्त्रार्थकी स्थिति। तीसरा भाव और मनकी स्थिति। तदनन्तर आत्मसाक्षात्कार होता है।

शक्तिधारिणीक्रिया-बिन्दुः शिवो रजः शक्तिश्चन्द्रो बिन्दू रजो रविः।
अनयोः संगमादेव प्राप्यते परमं पदम्॥
शिवोपमेन गुरुणा जीवन्मुक्तेन धीमता।
एतत् क्रियारहस्यं हि प्राप्यते नात्र संशयः॥
रविचन्द्रौ चन्द्ररवी संगमय्य परस्परम्।
एकीभावेन लयने द्विभेदः परिकीर्त्तितः॥
मनः क्रियाभ्यां साहाय्यात् साध्यो भेदस्तृतीयतः।

बिन्दुरूपी शिव और रजरूपी शक्ति और चन्द्ररूपी बिन्दु और रविरूपी रज इनको एकीभूत कर देनेसे योगीको परम पदकी प्राप्ति होती है। शिवसदृश जितेन्द्रिय

जीवन्मुक्त योगिराज महात्मासे ही इस क्रियाका रहस्य प्राप्त होता है। रविको चन्द्रमें और चन्द्रको रविमें मिलाकर एकीभूत करके लय करनेसे दो भेद होते हैं। मन और क्रियाकी सहायतासे तृतीय भेद प्राप्त होता है।

ॐकारक्रिया—तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्यांगं स साक्षादीश्वरोऽव्ययः॥
नादश्रुतेः समुन्नीतो शिष्यायोपदिशन्ति हि।
गुरवः साधनविधिमेतस्या तद्द्विधा स्मृता॥
आधारतः समुत्पद्य सहस्रारं प्रतिष्ठते।
ध्वनिता तेन मनसो लयो हि प्रथमो भवेत्॥
आज्ञाचक्रं कूर्मचक्रमुभे संयोज्य युक्तितः।
उत्पद्यते यतो नादः स्थित्वा तत्र मनोलयम्॥
विधाय प्राप्नुयाद्योगी ह्यात्मारामत्वमव्ययम्।
गोपनीया प्रयत्नेन सर्वशास्त्रेष्वियं क्रिया॥

तैलधाराकी नाईं अविच्छिन्न, दीर्घघण्टाकी नाईं ध्वनिविशिष्ट जो ॐकार है, उसका कोई अंग भी उच्चारण नहीं किया जाता। वह अव्यय ईश्वर रूप है। नादश्रवणक्रियामें उन्नति प्राप्त करने पर गुरु शिष्यको इस क्रियाका उपदेश देते हैं। इस क्रियाके दो भेद हैं। आधारसे जब ध्वनि उत्पन्न होकर सहस्रारमें जा मिलती है, उस समय ध्वनिके साथ मनको लय करना प्रथम क्रिया है। दूसरी उन्नत अवस्था यह है कि कूर्मचक्र और आज्ञाचक्र, इन दोनोंमें संयोग कराकर जहाँ नाद उत्पन्न हो वहीं ठहर जाय। नादमें मन लय करके आत्माराम हो जाय। यह क्रिया सर्वशास्त्रोंमें गोपनीय है।

प्रातिभदर्शनक्रिया—भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवता।
तस्य मात्राः सुतिष्ठन्ति ततः प्रातिभदर्शनम्॥
शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि कुर्वन् प्रातिभदर्शनम्।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
एतद्योगे महागुह्यो जरामृत्युविनाशकः।
तेजो वृद्धिकरश्चैव ह्यणिमादिगुणप्रदः॥

जहाँ तक भूरित्यादि लोकत्रय और चन्द्र, सूर्य, अग्नि इन तीनों तेजोंकी स्वतन्त्र स्वतन्त्र स्थिति है, उसके परे प्रातिभका दर्शन हुआ करता है। बाह्यशौच रखकर वा न रखकर जो योगी प्रातिभके दर्शन सदा करनेमें समर्थ हो वह योगी जलमें कमलपत्रकी नाईं पापोंसे निर्लिप्त हो जाता है। इस साधन द्वारा जरा और मृत्युका विनाश हो जाता है और अनेक सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है।

ज्योतिष्मतीदर्शनक्रिया—इच्छा क्रिया तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता यत्र ततो ज्योतिरवेक्षणम् ॥
लीनाः प्राणा मनसि चेद् गुरुदेवोपदेशतः ।
ज्योतिष्मती प्रेक्षणं वै साधकेनोपलभ्यते ॥
क्रियया चैतया ध्यानसिद्धिमाप्य यथायथम् ।
प्राप्नोति परमानन्दपदं योगी निरामयम् ॥

जहाँ इच्छा, क्रिया और ज्ञानरूपी ब्राह्मी, वैष्णवी और रौद्री शक्तित्रयका स्थान हो, उससे परे ज्योतिष्मतीका दर्शन होता है। प्राण जब मनमें लय हो जाता है तब गुरूपदिष्ट क्रियाके द्वारा ज्योतिष्मतीका दर्शन होता है। इसी क्रियाके द्वारा ध्यानकी सिद्धि प्राप्त करके योगी परमपदका लाभ कर लेता है।

चक्रक्रिया—प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्त्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥
धारणाद्वादश प्रोक्ता ध्यानं ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥
एवं साधनतः शश्वज्जयः स्यान्मनसो ध्रुवः ।
प्राणायामेन सकलं साधनं प्राप्यते जनैः ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्पुष्टे क्रियाकर्म यातायातं न विद्यते ॥
गुदं मेढ्रश्च नाभिश्च हृत्पद्मं च तदूर्ध्वतः ।
घण्टिकालम्बिकास्थानं भ्रूमध्ये च नभोबिलम् ॥
कथितानि नवैतानि ध्यानस्थानानि योगिभिः ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥

द्वादशवार प्राणायाम करनेसे एक प्रत्याहार होता है, द्वादशवार प्रत्याहार करनेसे एक धारणा होती है, द्वादशवार धारणा करनेसे एक ध्यान होता है और द्वादशवार ध्यान करनेसे एक समाधि होती है। इस प्रकार क्रिया द्वारा मनोजय हो सकता है। और प्राणायामसे ही सब साधनोंकी भूमि प्राप्त हो सकती है। समाधिमें परम ज्योति, तदनन्तर परम पुरुषका दर्शन होता है। तदनन्तर क्रिया, कर्म, आवागमन आदि सब दुःख दूर हो जाते हैं। गुदा, मेढ्र, नाभि, हृत्पद्म, तदूर्ध्व घण्टिका, लम्बिका, भ्रूमध्य और शून्य ये नौ स्थान योगीके ध्यानके स्थान हैं। उनमें परमात्माका ध्यान यथाविधि करनेसे योगी मुक्तिपदकी प्राप्ति कर सकता है।

ब्रह्मदण्डधारणक्रिया—

दक्षिणा पिंगला नाडी वन्हिमण्डलगोचरा।
देवयानमिति ज्ञेया पुण्यकार्यानुसारिणी॥
इडा च वामनिःश्वासः सोममण्डलगोचरा।
पितृयानमिति ज्ञेया वाममाश्रित्य तिष्ठति॥

गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन्वीणादण्डस्य देहभृत्।
दीर्घास्थिमूर्द्धपर्यन्तं ब्रह्मदण्डेति कथ्यते॥

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूक्ष्मरूपिणी।
सर्वं प्रतिष्ठितं यत्र सर्वगं सर्वतो मुखम्॥

वीजजीवात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञः प्राणवायवः।
सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥
नानानाडीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि।
ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्॥

अधश्चोर्द्ध्वगतास्तास्तु ब्रह्मदण्डसमाश्रिताः।
वायुना सह गत्वोर्द्ध्वं ज्ञानी मोक्षमवाप्नुयात्॥

देहके दक्षिणभागमें पिङ्गला नाम्नी नाड़ी है। वह नाड़ी वन्हिमण्डलगोचरा है, पुण्यकर्मोंका साधन करनेवाली है, एवं उसको देवयान कहते हैं। इड़ा नाम्नी नाड़ी देहके वामभागमें आश्रयपूर्वक स्थित है और वह सोममण्डल गोचरा है। इस नाड़ीको पितृयान कहते हैं। जीव-देहके पृष्ठभागमें गुह्य स्थानके ऊपर वीणादण्डके समान एक दीर्घ अस्थि विद्यमान है, उसके द्वारा देह धृत रहता है। उसीको ब्रह्माण्ड कहते हैं। इड़ा और पिंगलाके मध्यभागमें सूक्ष्मरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी विद्यमान है उसमें ही सर्वात्मक, सर्वगत, सर्वतोमुख, ब्रह्मज्योति विराजमान है। इस सुषुम्ना नाड़ीमें सबका वीजस्वरूप वीजात्मक ब्रह्म, जीवगणका क्षेत्रज्ञ और प्राणवायु सब ही स्थित हैं। अपि च अखिल विश्व इसी सुषुम्नाके मध्यमें हैं। सब भूतोंके अन्तरात्मामें ही सुषुम्ना नाड़ी एक वृक्षरूपसे विराजित है, वह वृक्ष नाना नाड़ियोंका उत्पत्तिस्थान है और वह ऊर्द्ध्वमूल और अधःशाखाविशिष्ट है और वायुमार्ग द्वारा वह सर्वग है इसमें सन्देह नहीं। ब्रह्मदण्डका आश्रय करके अधःसे ऊर्द्ध्वको गमन किया जा सकता है। इस प्रकारसे साधक प्राणवायुके साथ सुषुम्नाकी सहायतासे उर्द्ध्वगामी होकर मुक्तिपदकी प्राप्ति कर सकता है।

लयबोधक्रिया—खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्॥

स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः।
निष्फलं तं विजानीयान्मनो यत्र लयं गतम् ॥

यह दृश्यमान गगनमण्डल जहाँ तक अनुभवमें आवे, स्थावरजङ्गमात्मक ब्रह्माण्ड वहाँ तक विश्वव्यापी रूपसे चिन्ता करने योग्य है। तदनन्तर गगनमें आत्मा और आत्मामें गगन स्थापित किया जाय, इस प्रकार आत्मा और आकाश दोनों एकीभूत होनेसे और कुछ चिन्तायोग्य प्रयोजन न रहेगा। ब्रह्मवेत्ता पुरुष इस प्रकारसे ब्रह्ममें अधिष्ठानपूर्वक स्थिरबुद्धि और असम्मूढ़ होकर निष्फल ब्रह्मका वहीं दर्शन करे, जहाँ मन लयको प्राप्त हुआ करता है।

प्राणसिद्धिक्रिया—प्राणापानगती रुन्ध्यात्प्राणायामपरायणः।
चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
सर्वेऽप्येऽते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ॥
यज्ञान्ते वृत्तिसन्धौ वा प्राणापानगतिक्रिया।
रुध्यते तत्र सततमात्मचिन्तनमाचरेत् ॥
अनेन परमं नित्यमधिगच्छति तत्पदम्।
एतत्क्रियारहस्यं वै गुरुदेवात्समभ्यसेत् ॥

जो प्राणापानकी गति रुद्ध करता है, वही प्राणायामपरायण होता है। क्योंकि जब तक प्राण चलायमान है तब तक चित्त भी चलायमान होगा। परन्तु प्राणापानकी गति लय होने पर चित्त भी चाञ्चल्यशून्य हो जाता है। इस यज्ञ द्वारा निष्पाप हुए और यज्ञशेष अमृतभोजी सब यज्ञवित् ब्रह्मपदको लाभ किया करते हैं। यज्ञान्तमें और वृत्तियोंकी सन्धिमें प्राणापानकी स्वतः ही गति रुद्ध हो जाती है। उस समय कुछ भी न करे, केवल आत्मचिन्तन करे, उस चिन्तासे परम पदकी प्राप्ति होती है। श्रीगुरु-मुखसे इस क्रियाका रहस्य जाना जाता है।

कूटस्थदर्शनक्रिया—समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
प्रेक्षमाणो नासिकाग्रं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥
निद्रातन्द्रे परित्यज्य चित्सत्तामपि धारयन्।
गुरुप्राप्तां क्रियां योगी साधयन् नियतेन्द्रियः ॥
स वै प्राप्नोति निर्वाणं शाश्वतं परमं पदम् ॥

शरीर, मस्तक और ग्रीवाको समान रखकर, सरल और निश्चल भावमें स्थिर होकर नासिकाके अग्रभागका दर्शन करे। उस समय और कोई भाव मनमें न आने देवे। इस प्रकारसे प्रशान्तात्मा, भयरहित, ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थिर योगी मनको निर्विषय

करे और योगयुक्त रहकर स्थिर रहे। निद्रा और तन्द्रा दोनोंको त्यागकर चित्सत्ताकी धारणा करे। गुरुमुखसे प्राप्त क्रियासाधन करता हुआ योगिराज निर्वाणरूपी परम पदको प्राप्त कर लेता है।

तत्पदर्शनक्रिया—आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः।
मनसो यत्र विलयस्तद्विष्णोः परमं पदम्॥
गोपितेयं क्रिया सर्वोपनिषत्सु च यत्नतः।
इमां प्राप्य गुरोर्योगी समाधिमधिगच्छति॥

जीवात्माको एक अरणि और प्रणवको दूसरी अरणि करके ध्यानरूपी मन्थनका अभ्यास करनेसे अन्तर्निगूढ़ ब्रह्मदर्शन होता है। नादके अन्तर्गत ज्योति और ज्योतिके अन्तर्गत मन है। वह मन जहाँ लय हो वहीं विष्णुका परमपद प्राप्त होता है। यह क्रिया उपनिषदोंमें अति गोपनीय है। केवल गुरुकृपासे इस क्रियाको प्राप्त करके योगी समाधि प्राप्त करता है।

हम पहले अध्यायोंमें कह चुके हैं कि मन, वायु और वीर्य यह तीनों कारण सूक्ष्म और स्थूल रूपसे एकत्वसम्बन्धयुक्त हैं। वीर्यका सम्बन्ध स्थूल शरीरसे अधिक है। क्योंकि वीर्य स्थूल शरीरके सप्त उपादानोंका शीर्षस्थानीय है। सप्त धातुओंमेंसे वीर्य सारभूत है। मन्त्रयोगमें स्थूलक्रियाका प्राधान्य है। मन्त्रयोगके द्वारा योगी प्रवृत्तिपूर्ण स्थूलराज्यको जय करके उपासनाके प्राणरूप भक्तिका अधिकारी हो जाता है और भावराज्यका अधिकार प्राप्त करके उपासना-मार्गमें अग्रसर हो जाता है। हठयोगमें स्थूलशरीर पर आधिपत्य लाभ करके वायुके जय करनेके अधिकारको योगी प्राप्त करनेमें समर्थ हो जाता है। इसी कारण हठयोगमें वायु अर्थात् प्राणसम्बन्धीय क्रियाका आधिक्य है। परन्तु लययोगमें सूक्ष्मातिसूक्ष्म मनसे साधन करने योग्य क्रियाओंका सम्बन्ध अधिक रक्खा गया है। इसी कारण लयक्रियाके साधनके बाद लययोगीको महालय समाधिका अधिकार प्राप्त होता है।

लययोगके नवम अर्थात् अन्तिम अङ्गका नाम समाधि है। उसके लिए योगशास्त्रमें वर्णन है यथा—

सरित्पतौ पतित्वाम्बु यथा भिन्नमियाल्लयम्।
तथाभिन्नं मनस्तत्र समाधिं समवाप्नुयात्॥
सलिलं सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते॥
प्रशस्ता लययोगस्य समाधिर्हि महालयः।
नादस्य बिन्दोः साहाय्यात्समाधिरधिगम्यते॥

नादस्य बिन्दोश्चैकत्त्वे मनस्तत्र विलीयते ।
दृश्यनाशात्तदा द्रष्टृरूपमेति प्रकाशतान् ॥

जिस प्रकार जलका बिन्दु समुद्रमें मिलकर समुद्रसे अभिन्न हो जाता है, उसी प्रकार ध्येयरूप परमात्मामें संलग्न हुआ अन्तःकरण शेषमें उसी ध्येय अर्थात् परमेश्वरके अभिन्न रूपको धारण कर लेता है; इस अवस्थाको समाधि कहते हैं। जिस प्रकार जलमें निक्षिप्त हुआ लवण क्रमशः जलके सम्बन्धसे जलमें ही मिल जाता है, उसी प्रकार विषयसे स्वतन्त्र हुआ मन ध्येय वस्तु परमात्मामें युक्त होकर शेषमें परमात्माके स्वरूपको ही प्राप्त हो जाता है और यह आत्मस्वरूपप्राप्ति ही समाधि कहाती है। लययोगकी सर्वोत्तम समाधिको महालय कहते हैं। नाद और बिन्दुकी सहायतासे इस समाधिकी सिद्धि होती है। प्रथम नाद और बिन्दुका एकत्त्व होकर उनके साथ मन भी लय हो जाता है। उसी समय दृश्यका नाश होकर द्रष्टाका स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसी सर्वोत्तम साधनको समाधि कहते हैं।

यही लययोगका नवाङ्गयुक्त गूढ़रहस्यपूर्ण अपूर्व साधन है, जिसको योगिराज श्रीमद्गुरुदेवकी कृपासे प्राप्त कर साधक कृतकृत्य हो सकते हैं।

चतुथ समुल्लासका चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।



राजयोग

—:※:—

क्रियासिद्धांशमूलक योगसाधनोंमेंसे अन्तिम साधन राजयोग है।

'राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः'

सब योगोंका राजा या सब योगोंमें श्रेष्ठतम होनेसे ही इसका नाम राजयोग है; ऐसा कहकर योगशास्त्रमें राजयोगकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने निज संहितामें लिखा है:—

'अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्'

समस्त धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म यही है कि, योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार किया जाय। राजयोगकी सिद्धदशामें जीवब्रह्मको एकतासिद्धि होकर सर्वत्र अद्वितीय परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है; इसीलिये राजयोग सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, वेदव्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, कश्यप, मार्कण्डेय, वामदेव आदि महर्षिगण इस योगके प्रवर्तक हैं। वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण मायासे अतीत परब्रह्मकी उपलब्धि ही इस योगका उद्देश्य है। इसलिये जिस प्रकार वेदान्तभूमिमें अधिकारलाभ करनेके अर्थ साधकको नित्यानित्यवस्तुविवेक, शमदमादि षट् सम्पत्ति, इहामुत्रफलभोगविराग और मुमुक्षुत्त्व इन साधन चतुष्टयसे सम्पन्न होना पड़ता है, उसी प्रकार राजयोग साधनके पहिले भी योगीको साधनचतुष्टय सम्पन्न होना पड़ता है। अन्यथा राजयोगमें कदापि सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

अब नीचे योगशास्त्रोंमें वर्णित राजयोगलक्षण और साधनक्रम बताये जाते हैं:—

सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
अन्तःकरणभेदास्तु मनोबुद्धिरहङ्कृतिः।
चित्तश्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्त्वं सनातनम्॥
दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
विचारबुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥

ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः ।
तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते ॥
उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा ।
महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः ॥
योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते ।
योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते ॥

सृष्टि, स्थिति और लयका कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायतासे जिसका साधन किया जाता है उसको 'राजयोग' कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये अन्तःकरणके चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरण-रूपी कारण दृश्यसे जगत्रूपी कार्यदृश्यका कार्य-कारण सम्बन्ध है। दृश्यसे द्रष्टाका सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्तवृत्तिका चाञ्चल्य ही इसका कारण है। वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूपका प्रकाश करना राजयोग कहाता है। राजयोग साधनमें विचारबुद्धिका प्राधान्य रहता है। विचारशक्तिकी पूर्णता द्वारा राजयोगका साधन होता है। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं। राजयोगकी समाधिको निर्विकल्प समाधि कहते हैं। राजयोगसे सिद्धिप्राप्त महात्माका नाम जीवन्मुक्त है। महाभाव-प्राप्त योगी, महाबोधप्राप्त योगी वा महालयप्राप्त योगी तत्वज्ञानकी सहायतासे राज-योग भूमिमें अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योगसाधनोंमें श्रेष्ठ है और साधनकी चरमसीमा है, इस कारण इसको राजयोग कहते हैं।

यह बात पहले ही कही गई है कि, श्रीभगवान् पतञ्जलिके द्वारा वर्णित अष्टांग योग ही सब योगसाधनोंका भित्तिरूप है। इसलिये राजयोगके साधनाङ्गोंके मूलमें भी योगदर्शनोक्त अष्टांगका सन्निवेश है, परन्तु राजयोगका साधन केवल अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मरूपसे होनेसे और उसमें स्थूलशरीर तथा वायुसम्बन्धी कोई भी क्रिया न रहनेसे मन्त्र हठ लययोगोक्त साधनोंकी तरह राजयोगमें कथित आसन, प्राणायाम आदिके साथ कोई भी स्थूल क्रियाका सम्बन्ध नहीं है। वे सब अन्तःकरणके द्वारा सूक्ष्म तथा विचित्र रूपसे ही साधित होते हैं। जैसा कि नीचे बताया जाता है:—

यमः—सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥

समस्त जगत् ब्रह्म है—ऐसा जानकर इन्द्रिय संयमको यम कहते हैं। इसका निरन्तर अभ्यास करना चाहिये।

नियमः—सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥

स्वजातीय प्रवाह और विजातीय तिरस्कृति अर्थात् चेतनरूपी सद्भावका ग्रहण और जड़रूपी असद्भावका त्याग करने योग्य विचार को नियम कहते हैं।

त्यागः—त्यागः प्रपञ्चरूपस्य चिदात्मत्वावलोकनात् ।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षमयो मतः ॥

चिदात्मभावके अवलोकनसे प्रपञ्चस्वरूपके त्यागको त्याग कहते हैं। महात्मा लोग इस साधनका बहुत ही आदर करते हैं। क्योंकि इससे शीघ्र मोक्षप्राप्ति होती है।

मौनम्—यस्माद् वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा बुधः ॥
वाचो यस्मान्निवर्त्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोपि शब्दविवर्जितः ॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सतां सहजसंज्ञितम् ।
गिरा मौनं तु बालानां प्रयुक्तं ब्रह्मवादिभिः ॥

जिसको वाणी और मन नहीं प्राप्त कर सकते हैं और जिसका अनुमान केवल योगी लोग ही कर सकते हैं ऐसे परम ब्रह्मपदकी ही मौन संज्ञा है। उस भावको लाभ करनेके लिये पण्डितोंको सदा प्रयत्न करना चाहिये। जिसके वर्णनमें वाक्शक्ति थक जाती है—अर्थात् जिस पदका कोई भी वर्णन नहीं कर सकता—यदि प्रपञ्चका ही वर्णन किया जाय तो भी वर्णनमें शब्द समर्थ नहीं हो सकता। अतः साधुओंकी यह सहजावस्था ही मौन कहाती है। वाणी रोकनेको जो मौन कहा जाता है वह ब्रह्मवादियोंके अर्थमें बालकका खेल ही है।

देशः—आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥

जिस देशके न तो आदिमें, न मध्यमें और न अन्तमें जनताका सम्बन्ध पाया जाय, जो देश सदा परमात्मासे व्याप्त रहता हो वही संसारसम्बन्धशून्य देश विजन देश कहाता है।

कालः—कलनात्सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।
कालशब्देन निर्दिष्टश्चाखण्डानन्द अद्वयः ॥

जिसके निमेष मात्रमें ब्रह्मादिसे लेकर सब भूतोंके सृष्टिस्थितिलय हुआ करते हैं वही, अखण्डानन्दरूप अद्वितीय भाव काल कहाता है।

आसनम्—सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम् ।
आसनं तद्विजानीयान्नेतरत्सुखनाशनम् ॥
सिद्धं यत्सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम् ।
यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः ॥

जिस अवस्थामें सुखके साथ ब्रह्मचिन्तन होता हो उसे आसन कहते हैं। उस भावके अतिरिक्त जो इतर स्थूल भाव हैं, उनमें सुख नाश ही हुआ करता है।

जो सब भूतोंके आदि, विश्वके अधिष्ठान और अव्यय है और जिस स्वरूपमें सिद्ध लोग स्थित हैं उसे सिद्धासन कहते हैं।

देहसाम्यम्—अंगानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नोचेन्नवसमानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥

समभावापन्न ब्रह्ममें लीन होनेको ही देहसाम्य कहते हैं। शुष्कवृक्षकी नाईं ऋजुताको देहसाम्य नहीं कहा जाता है।

दृक्स्थिति—दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्त्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥

दृष्टिको ज्ञानमयी करके समस्त प्रपञ्चमय जगत्को ब्रह्ममय देखनेको ही दृक्स्थिति कहते हैं; वही दृक्स्थिति परम मंगलकारी है, नासाके अग्रभागमें देखनेको दृक्स्थिति नहीं कह सकते। जिस अवस्थामें अथवा जिस भावमें द्रष्टा, दर्शन तथा दृश्यका एकीकरण द्वारा विराम हो जाय, उसी भावको यथार्थमें दृक्स्थिति कह सकते हैं, वैसी दृक्स्थितिका अभ्यास करना ही योग्य है। नासाग्र अवलोकन करनेवाली दृक्स्थिति यथार्थ नहीं है।

मूलवन्धः—यन्मूलं सर्वभूतानां यन्मूलं चित्तवन्धनम्।
मूलवन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ राजयोगिनाम् ॥

जो सर्वभूतोंका मूल है और जो चित्तवृत्तिनिरोधका कारण है वही मूलवन्ध कहाता है। यह अवस्था सदा राजयोगके योगियोंको सेवन करने योग्य है।

प्राणसंयमनम्—चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वे सर्वभावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरणः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरीरितः ॥
अतस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां घ्राणपीडनम् ॥

चित्त आदि सब प्रकारके सृष्टि सम्बन्धी भावोंको ब्रह्मभावमें परिणत करके जब सब प्रकारकी वृत्तियोंका निरोध कर लिया जाता है, तो उसी अवस्थाका नाम प्राणायाम है। भावना द्वारा सब प्रपंचोंका नाश कर देनेको रेचक प्राणायाम और 'ब्रह्म हूँ' इस प्रकारकी वृत्तिको पूरक प्राणायाम कहते हैं। तदनन्तर निश्चल रूपसे ब्रह्मभावमें स्थिर रहनेको कुम्भक प्राणायाम कहते हैं। यही ज्ञानियोंके लिए प्राणायामक्रिया है; किन्तु अज्ञानिगण नासिका इन्द्रियको पीड़ा देकर प्राणायामक्रिया करते हैं।

प्रत्याहारः—विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चितिमज्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुमुक्षुभिः ॥

विषयोंके बीच आत्मतत्त्वको देखते हुए मनको चैतन्य स्वरूपमें लगानेसे प्रत्याहार कहाता है, मुमुक्षुगणको इस प्रत्याहार क्रियाका अवश्य साधन करना उचित है।

धारणा—यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

जहाँ जहाँ मन जाय, वहाँ वहाँ ही ब्रह्मस्वरूपदर्शन करते हुए जो मनकी स्थिरताका साधन है उसीको सर्वोत्तम धारणा कहते हैं।

आत्मध्यानम्—ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥

मैं ब्रह्म हूँ, इस प्रकार सद्वृत्तिके द्वारा निरालम्ब रूप से जो स्थिति है उसे ध्यान कहते हैं। इसमें परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

समाधिः—निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिर्ज्ञानसंज्ञकः ॥
ऊर्द्ध्वपूर्णमधः पूर्णं मध्यपूर्णं तदात्मकम् ।
सर्वपूर्णं स आत्मेति समाधिस्थस्य लक्षणम् ॥

निर्विकार चित्त हो अपने आपको ब्रह्मस्वरूप ज्ञान करके सम्पूर्ण वृत्तिसहित सृष्टि भावसे रहित हो जानेको समाधि कहते हैं। जो ऊर्द्ध्व पूर्ण, अधः पूर्ण, मध्य-पूर्ण और सर्वपूर्ण अर्थात् सकल स्थानमें पूर्णरूप से विराजमान हैं वे ही परमात्मा हैं। उन्हींको जान लेनेसे साधक समाधिप्राप्त हो जाता है और उनका वह पूर्णभाव ही समाधिका लक्षण है।

राजयोगके उन्नततम अधिकारको समझनेके लिए योगशास्त्रमें योगके अङ्ग तथा उपाङ्गोंके ये सब लक्षण वर्णन किये गये हैं। राजयोगके स्वरूपकी उपलब्धिके लिये योगाचार्योंका इस प्रकार से प्रयत्न है। मन्त्रयोग, हठयोग, और लययोग ये तीनों साधनावस्थाके योग हैं और राजयोग सिद्धावस्था है। इसी कारण ऊपर कथित राजयोग के योगाङ्गोंके लक्षणमें अन्य योगोंके योगाङ्गोंका कुछ खण्डन-सा प्रतीत होता है, वास्तव में अन्य योगमार्गों के क्रियासिद्धांशका यह खण्डन नहीं है; केवल राजयोग का अधिकार किस प्रकार आत्म-ज्ञानमूलक है उसीको स्पष्टरूप से बतानेके लिये यह दिग्दर्शन कराया गया है।

जीवकी व्यष्टिसत्ता परमात्माकी समष्टिसत्तामें राजयोग साधनकी अन्तिम दशामें किस प्रकारसे विलीन की जाती है, वह योगशास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बतलाया जाता है। यथा—

जले संलीयते पृथ्वी जलमग्नौ विलीयते ।
अग्निर्वायौ लयं याति खे वायुश्च प्रलीयते ॥
एवं स्थूलेषु भूतेषु लयं यातेषु वै मिथः ।
मनो बुद्धावहंकारे बुद्धिश्चित्ते त्वहंकृतिः ॥
क्षेत्रज्ञे विलयं याति चित्तं क्षेत्रज्ञ आत्मनि ।
सर्वं तरति पाप्मानं कल्पकोटिशते कृतम् ॥
घटसंवृतमाकाशं लीयमानं यथा घटे ।
घटे नष्टे महाकाशे तद्वज्जीवः परात्मनि ॥

पृथिवी जलमें लयको प्राप्त होती है; अग्निमें जल लय हो जाता है, अग्नि वायुमें लय होती है और वायु आकाशमें लयको प्राप्त हो जाता है। इस तरहसे विलोम-क्रमके अनुसार स्थूल भूतोंके लयके अनन्तर बुद्धिमें मन, अहङ्कारमें बुद्धि, चित्तमें अहङ्कार, क्षेत्रज्ञमें चित्त और परमात्मामें क्षेत्रज्ञ लयको प्राप्त हुआ करते हैं। इस अवस्थामें कोटि शतकल्पमें किये हुए पापसमूहसे भी साधक उत्तीर्ण हो सकता है। घट नष्ट होने पर तदन्तर्गत आकाश जिस प्रकार महाकाशमें लयको प्राप्त होता है, उसी रूपसे अविद्या विनाशके अनन्तर जीव भी परमात्मामें लय प्राप्त हुआ करता है।

अब गुरूपदेशानुसार राजयोगके विविध अङ्गोंके साधन द्वारा उल्लिखित परमपदप्राप्ति कैसे होती है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। राजयोगके षोड़श अङ्ग योगशास्त्रमें बताये गये हैं। यथा—

कला षोडशकोपेता राजयोग्यस्य षोडश ।
सप्त चांगानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः ॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।
धारणांगे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः ॥
ध्यानस्य त्रीणि चांगानि विदुः पूर्व महर्षयः ।
ब्रह्मध्यानं विराट्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम् ॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।
चत्वार्य्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः ॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः ।
इत्थं संसाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश ॥
कृतकृत्यो भवत्याशु राजयोगपरो नरः ।
मंत्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः ॥
पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः ॥

षोड़श कलासे पूर्ण राजयोगके षोड़श अङ्ग हैं। सप्त ज्ञानभूमिकाओंके अनुसार सात अङ्ग हैं। वे सब विचारप्रधान हैं। उनके साधन अनेक प्रकारके हैं। धारणाके अङ्ग दो हैं। एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं, विराट्ध्यान, ईशध्यान और ब्रह्मध्यान। ब्रह्मध्यानमें ही सबकी परिसमाप्ति है। समाधिके चार अङ्ग हैं, दो सविचार और दो निर्विचार। इस प्रकारसे राजयोगके षोड़श अङ्गोंके साधनद्वारा राजयोगी कृतकृत्य होता है। मंत्रयोग, हठयोग और लययोग इन तीनोंमें सिद्धिलाभके अनन्तर अथवा किसी एकमें सिद्धिलाभ करनेके अनन्तर साधक राजयोगका पूर्णाधिकार प्राप्त करता है।

इन षोड़श अंगोंमेंसे सप्तज्ञानभूमिके अनुसार प्रथम सप्ताङ्ग निम्नलिखित हैं—

निमित्तकारणीभूतं सृष्टेर्ब्रह्मेति बोधनम्।
षोडशानां पदार्थानां तत्त्वाभिज्ञानतः स्फुटम्॥
परमाणोश्च नित्यत्वं प्रथमं भूमिदर्शनम्।
धर्म्माधर्मौ विनिर्णीय षट्पदार्थान् विचार्य्य वै॥
परतत्वोपलब्धिश्च द्वितीयं भूमिदर्शनम्।
वृत्तयो जगतो मूलं रुद्ध्वा ता यत्नपूर्वकम्॥
परतत्वोपलब्धिर्हि तृतीया भूमिका मता।
विदित्वा प्रकृतिं सम्यक् परतत्त्वावबोधनम्॥
कथयन्ति बुधा एतत्तुरीयं भूमिदर्शनम्।
प्राधान्यात् कर्मणो ब्रह्म जगदेवेति निश्चयः॥
पञ्चमी भूमिका सेयं निर्दिष्टा तत्त्ववेदिभिः।
भक्तेः प्रधानताहेतोर्ब्रह्मैव निखिलं जगत्॥
येयं बुद्धिर्विनिर्दिष्टा सा षष्ठी भूमिका मता।
ज्ञानाधिक्यादहं ब्रह्मास्मीति धीः सप्तमी भवेत्॥

परमाणुकी नित्यता, ब्रह्मको सृष्टिका निमित्त कारण देखना, षोड़श पदार्थके ज्ञान द्वारा परमतत्त्वकी प्राप्ति करना, यह प्रथम भूमिकाका दर्शन है। धर्म्माधर्मनिर्णय और षट् पदार्थोंके ज्ञानद्वारा परमतत्त्वका ज्ञानलाभ करना, यह दूसरी भूमिका का दर्शन है। जगत्का मूल वृत्ति है। अतः चित्तवृत्तिके निरोधद्वारा परमतत्वका लाभ करना, तृतीय भूमिकाका दर्शन है। प्रकृतिको सम्यक् प्रकारसे जानकर परमतत्त्वसाक्षात्कार करना, चतुर्थ भूमिकाका दर्शन है। कर्मकी प्रधानतासे जगत् ही ब्रह्म है, यह दर्शन पञ्चम भूमिकाका है। भक्तिकी प्रधानतासे ब्रह्म ही जगत् है, यह दर्शन षष्ठ भूमिकाका है और मैं ही ब्रह्म हूँ, ज्ञानकी प्रधानतासे यह दर्शन सप्तम भूमिकाका है।

जिन सप्त ज्ञानभूमियोंके अनुसार राजयोगके प्रथम सप्ताङ्गोंका साधन होता है, उनके नाम निम्नलिखित रूपसे योगशास्त्रमें वर्णित किये गये हैं। यथाः—

ज्ञानदा ज्ञानभूमेर्हि प्रथमा भूमिका मता।
संन्यासदा द्वितीया स्यात् तृतीया योगदा भवेत् ॥
लीलोन्मुक्तिश्चतुर्थी वै पञ्चमी सत्पदा स्मृता।
षष्ठ्यानन्दपदा ज्ञेया सप्तमी च परात्परा ॥
यत्किञ्चिदासीत् ज्ञातव्यं ज्ञातं सर्वं मयेति धीः।
आद्याया भूमिकायाश्चानुभवः परिकीर्तितः ॥
त्याज्यं त्यक्तं मयेत्येवं द्वितीयोऽनुभवो मतः।
प्राप्या शक्तिर्मया लब्धानुभवो हि तृतीयकः ॥
माया विलसितश्चैतत् दृश्यते सर्वमेव हि।
न तत्र मेऽभिलापोऽस्ति चतुर्थोऽनुभवो मतः ॥
जगद्ब्रह्मेत्यनुभवः पञ्चमः परिकीर्त्तितः।
ब्रह्मवेदं जगत् षष्ठोऽनुभवः किल कथ्यते ॥
अद्वितीयं निर्विकारं सच्चिदानन्दरूपकम्।
ब्रह्माहमस्मीति मतिः सप्तमोऽनुभवो मतः।
इमां भूमिं प्रपद्यैव ब्रह्म सारूप्यमाप्यते ॥

प्रथम ज्ञानभूमिका नाम ज्ञानदा, दूसरीका नाम संन्यासदा, तीसरीका नाम योगदा, चतुर्थीका नाम लीलोन्मुक्ति, पञ्चमका नाम सप्तदा, षष्ठका नाम आनन्दपदा और सप्तम ज्ञानभूमिका नाम परात्परा है। मुझे जो कुछ जानना था सो सब कुछ जान लिया है, यह प्रथम भूमिका अनुभव है। मुझे जो कुछ त्यागना था सो सब त्याग दिया है, यह दूसरीका अनुभव है। मुझे जो शक्ति प्राप्त करनी थी सो कर ली है; यह तीसरीका अनुभव है। मायाकी लीला मुझे अब सब कुछ दिखाई देती है, मैं उसमें मोहित नहीं होता, यह चतुर्थीका अनुभव है। जगत ही ब्रह्म है यह पञ्चमका अनुभव है। ब्रह्म ही जगत् है, यह षष्ठका अनुभव है और मैं ही अद्वितीय निर्विकार विभु सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ, यह सप्तमका अनुभव है, इस भूमिको प्राप्त करके साधक ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

राजयोगीके प्रकृतिभेदानुसार ज्ञानभूमिके साथ-साथ उपासना और कर्म्मभूमिका भी साधनसम्बन्ध है, जिसमें से उपासनाभूमिका योगशास्त्रोक्त साधन निम्नलिखित है—

प्रथमा भूमिका नामपरा रूपपराऽपरा।
स्याद्विभूतिपरा नाम्ना तृतीया भूमिका मता ॥

तथा शक्तिपरा नाम चतुर्थी भूमिका भवेत् ।
एवं गुणपरा ज्ञेया भूमिका पञ्चमी बुधैः ॥
षष्ठी भावपरा सप्तमी स्वरूपपरा स्मृता ।
लक्ष्यैक्यं धारणाध्यानसमाधीनान्तु यद्भवेत् ॥
संयमः प्रोच्यते तद्धि यतिभिर्ब्रह्मवादिभिः ।
परात्मप्रेक्षणं तेन प्रथमादिव्यनामसु ॥
दिव्यरूपेषु तद्दृष्टिर्द्वितीया भूमिका भवेत् ।
दर्शनं तस्य भूत्यादौ तृतीया किल भूमिका ॥
शक्तिषु स्थूलसूक्ष्मासु चतुर्थी तत्समीक्षणम् ।
त्रिगुणे दर्शनं तस्य पञ्चमी भूमिका मता ।
षष्ठी त्रिभावे विज्ञेया स्वरूपे सप्तमी मता ॥
इमामुपासनाभूमिम्प्राप्य सम्यक् प्रयत्नतः ।
पराभक्तियुतो जीवन्मुक्तः प्राप्नोति तत्पदम् ॥

उपासनाकी प्रथम भूमिकाका नाम नामपरा है, दूसरीका नाम रूपपरा, तीसरीका नाम विभूतिपरा, चौथीका नाम शक्तिपरा, पञ्चमीका नाम गुणपरा, षष्ठीका नाम भावपरा और सप्तमीका नाम स्वरूपपरा है। धारणा, ध्यान, समाधि इन तीनोंको एक लक्ष्ययुक्त करनेसे संयम कहाता है। संयम के द्वारा दिव्य नाममें परमात्माको देखना प्रथम है, दिव्यरूपमें उनको देखना द्वितीय है, विभूतियोंमें उनको देखना तृतीय है, स्थूल और सूक्ष्म शक्तियोंमें देखना चतुर्थ है, त्रिगुणमें उनको देखना पंचम है, त्रिभावमें उनको देखना षष्ठ है और स्वरूपमें उनको देखना सप्तम है। इस भूमिकाको प्राप्त करके पराभक्तिका अधिकारी जीवन्मुक्त परमानन्दपद लाभ कर लेता है।

तदनन्तर कर्मयोगभूमिका साधन योगशास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बताया गया है। यथा—

योगभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता ।
विचारणा द्वितिया तु तृतीया तनुमानसा ॥
सत्तापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥
आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोचते ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं साधुसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।
यत्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽथ विरतेर्वशात् ।
सत्तात्मनि स्थितिः शुद्धिं सत्तापत्तिरुदाहृता ॥

पहली कर्म्मभूमिकाका नाम शुभेच्छा, दूसरीका नाम विचारणा, तीसरीका नाम तनुमानसा, चौथीका नाम सत्तापत्ति, पाँचवींका नाम असंसक्ति, छठवींका नाम पदार्थाभावनी और सातवींका नाम तुर्यगा है। इन सप्त कर्म्मभूमियोंके अंतमें मुक्तिप्राप्ति होती है। मुक्तिलाभ होनेपर कुछ भी चिन्ता नहीं रहती है। इन भूमियों-का पृथक् पृथक् लक्षण कहा जाता है। वैराग्य उदय होनेसे "मैं मूढ़ होकर क्यों बैठा हूँ, मैं गुरु और शास्त्रकी सहायतासे ईश्वरका अवलोकन करूँगा" इस प्रकारकी जो इच्छा होती है, उसको बुधगण शुभेच्छा कहते हैं। शास्त्रसज्जनसंग और वैराग्या-भ्यासपूर्वक जिससे सदाचारमें प्रवृत्ति हो, उसको विचारणा कहते हैं। शुभेच्छा और विचारणा द्वारा इन्द्रियार्थ वस्तुमें जो अनासक्ति हो, उसको तनुमानसा कहते हैं। क्योंकि इस अवस्थामें मन अति क्षीणप्रभ हो जाता है। इन तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे बाह्य पदार्थसे मनकी विरति होनेसे शुद्ध आत्माके विषयमें जो अवस्थिति हो, उसको सत्तापत्ति कहते हैं।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसक्तफलेन च ।
रूढ़सत्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावनी नाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भतः ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥
योगो हि कर्म्मनैपुण्यं कर्मयोगेन तेन वै ।
अतिक्रमन् सप्तयोगभूमिकामधिगम्यते ॥
जीवन्मुक्तपदं नित्यं राजयोगस्य साधकाः ।
कुलालचक्रप्रतिमाः प्रारब्धं कर्म भुञ्जते ॥

विनाशाज्जीवकेन्द्रस्य ह्रीशकेन्द्रेण चाल्यते ।
जगद्धितार्थं कुर्वाणो न करोति तथापि सः ॥

पूर्वोक्त दशाचतुष्टयके अभ्यास द्वारा चित्तके बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंसे निवृत्त होनेपर बाह्य और आन्तरिक संस्कारोंका लोपरूप समाधि फलकी प्राप्ति होती है। और परमानन्दमय अपरोक्ष नित्य परब्रह्मका साक्षात्कार होनेसे जब चित्तमें एक चमत्कारिता हो जाय, उसी अवस्थाका नाम असंसक्ति है। पञ्चभूमियोंके अभ्याससे "मैं ही वह ब्रह्म हूँ" इस प्रकारकी भावना दृढ़ होती है। आभ्यन्तर और बाह्य किसी अन्य पदार्थकी भावना शेष न रहे, उस अवस्थाका नाम पदार्थाभावनी है। उस समय भेदबुद्धि नष्ट हो जाती है और शरीरधारण उपयोगी व्यापारोंसे अन्य व्यापार नहीं होते हैं और किसी प्रकारकी भी अपनी चेष्टा वर्त्तमान नहीं रहती है। क्रमशः इन छः ज्ञानभूमियोंका अभ्यास दृढ़ होनेपर और किसी भी वस्तुमें भेदबुद्धि न रहे, केवल ब्रह्मस्वरूपमें अवस्थित हो, उस भूमिको तुर्यगा कहते हैं। सुकौशलपूर्ण कर्मको योग कहते हैं। सुकौशलपूर्ण कर्मयोगके द्वारा राजयोगी सप्त कर्मयोग भूमिकाओंका अतिक्रमण करता हुआ जीवन्मुक्ति पदवीको प्राप्त करता है। उस समय कुलालचक्रवत् स्थित रहकर अवशेष प्रारब्धकर्मका भोग करता है। जीवकेन्द्र नाश करके भगवत्केन्द्रसे चालित होकर भगवत्कार्यमें प्रवृत्त रहता है। जगत्के कल्याणार्थ राजयोगी सब कुछ करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

अब योगशास्त्रकथित राजयोगकी धारणा वर्णित की जाती है—

मुद्राभ्यासाद्धारणायाः सिद्धिं तत्वावधारणे ।
प्राप्य सूक्ष्मां क्रियां कुर्वन् पञ्चतत्वजये क्षमः ॥
धारणासिद्धये पञ्चमुद्राः सूक्ष्मलयक्रियाः ।
साहाय्यं वै विदधते प्रोक्तमेतन्महर्षिभिः ॥
ततः क्षमेत त्रिविधब्रह्मध्यानस्य साधने ।
उन्नतां भूमिमारुह्य योगिराट् स्थिरमानसः ॥
अनिष्पन्नदशायां वै धारणाभ्यासतः सुधीः ।
ब्रह्मेश्वरविराट्रूपां धारणामेती साधकः ॥
धारणा द्विविधा प्रोक्ता प्रकृतेर्ब्रह्मणस्तथा ।
जीवन्मुक्तगुरोः प्राप्या साधकैरिति निश्चयः ॥

प्रथम पंचधारणामुद्राके अभ्यास द्वारा योगिराज, क्षिति, अप, तेज, मरुत, आकाश इन पाँचों तत्वोंकी धारणामें सिद्धिलाभ करता है और साथ ही साथ पंच सूक्ष्मक्रियाओंके साधन द्वारा इन पंचतत्त्वोंको जय करनेमें समर्थ होता है। राजयोगकी धारणाकी सिद्धिमें पंचधारणामुद्रा और पंचसूक्ष्म लयक्रिया परम सहायक हैं। तत्पश्चात् योगिराज उन्नतभूमिमें पहुँचकर त्रिविध ब्रह्मध्यानके साधनमें समर्थ होता है। अपरिपक्व दशामें धारणाभ्यासकी सहायतासे ही ब्रह्मईश्वरविराट्रूपी

त्रिविध धारणासे साधक अग्रसर होता है। धारणाके वास्तवमें दो अंग हैं। एक प्रकृतिधारणा और दूसरी ब्रह्मधारणा। ये दोनों धारणाके अङ्ग जीवन्मुक्त गुरुके द्वारा साधकको प्राप्त हो सकते हैं।

धारणाके अनन्तर ध्यानका अभ्यास होता है। जिसके विषयमें योगशास्त्रमें निम्नलिखित वर्णन मिलते हैं। यथा—

वेदशास्त्रगुरूणां हि साहाय्याद्ध्यानमाचरन्।
ब्रह्मेश्वरविराड्रूपं ध्यातुं शक्नोति साधकः॥
मन्त्रे हठे लये योगे ध्यानमेकविधं स्मृतम्।
ध्यानमन्यत्तुकुर्वाणो हानिमाप्नोति साधकः॥
राजयोगे तु त्रिविधं ध्यानमस्ति हितप्रदम्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं द्रष्टा दृश्यस्य चाप्यहम्॥
ब्रह्मांडं निखिलञ्चास्मि ध्याने भावोऽत्र जायते।
जीवन्मुक्तगुरोर्लभ्यं शास्त्रतत्त्वं हि साधकैः॥
साधनानां रहस्यञ्च राजयोगस्य निश्चितम्।
ध्यानसिद्ध्या निर्विकल्पः समाधिरधिगम्यते॥
सिद्धये राजयोगस्य साधनानि बहूनि वै।
विनिर्दिष्टानि तत्त्वज्ञैः ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः॥

राजयोगी ध्यानाभ्यास करते समय वेद, शास्त्र और गुरुकी सहायतासे ब्रह्म, ईश और विराट्रूपी त्रिविध ध्यान करनेमें समर्थ होता है। राजयोगध्यानकी यह विलक्षणता है कि मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगके साधकको केवल एक प्रकारका ही ध्यान करना होता है और उनका ध्यानान्तरसे हानि होती है, परन्तु राजयोगके लिये त्रिविध ध्यान हितकर है। मैं ही सच्चिदानन्द ब्रह्म हूँ, मैं ही दृश्यका द्रष्टा हूँ, मैं ही सम्पूर्ण ब्रह्मांड हूँ इत्यादि भाव राजयोगध्यानमें होते हैं। जीवन्मुक्त गुरुदेवकी सहायतासे शास्त्रोंका रहस्य और राजयोग साधनोंका रहस्य साधकको प्राप्त होता है। इस ध्यानकी सिद्धिसे निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति होती है। राजयोगमें सिद्धि-लाभ करनेके अर्थ अनेक साधन क्रियाएँ योगतत्त्ववेत्ताओंने वर्णन की हैं।

ब्रह्मके ध्यानयोगोक्त भावक्रमानुसार प्रस्थानत्रयका विधान राजयोगमें किया गया है। यथाः—

ब्रह्मेश्वरविराड्भावैर्व्याप्तं सर्वमिदं जगत्।
अमी विलासास्तस्यैवाऽद्वैतस्य परमात्मनः॥
तत्त्वातीतं पदं तद्धि मनोवाग्बुद्ध्यगोचरम्।
भावत्रयानुसारेण राजयोगेऽपि सिद्ध्यति॥

निसर्गतो हि त्रिविधं भावानां परिवर्त्तनम् ।
अतोऽत्र राजयोगेऽपि प्रस्थानत्रयकल्पना ॥
द्वैतभावाननुभवो राजयोगे प्रजायते ।
तथापि सच्चिदानन्दभावस्यानुभवो भवेत् ॥
ज्ञानं कर्मोपासना च विलसन्ति यथाक्रमम् ।
सद्भावस्थितिरेकत्र परमानन्दसंस्थितिः ॥
चिद्भावस्य विलासश्च जायतेऽन्यत्र निश्चितम् ।
सच्चिदानन्दभावस्याद्वैतत्वेऽपि हि जायते ।
भावप्राधान्यतस्तत्र प्रस्थानत्रयकल्पना ॥

ब्रह्म, ईश और विराट भावसे परमात्मा सब जगह व्याप्त है। एक अद्वैत पदके ही तीनों विलास हैं। तत्त्वातीतपद मन बुद्धिसे अगोचर है। परन्तु इन त्रिविध भावोंके अनुसार राजयोगीमें भी त्रिविध परिवर्तन होना स्वभावसिद्ध है। इसी कारण राजयोगमें प्रस्थानत्रयका विधान है। यद्यपि राजयोगीमें द्वैतभाव नहीं रहता; परन्तु सूक्ष्म-रूपसे सच्चिदानन्द भावका रसास्वादन बना रहता है। कर्म्म, उपासना, ज्ञानके त्रिविध विलासके अनुसार एकमें सत्सत्ताका विलास, एकमें आनन्दसत्ताका विलास और एकमें चित्सत्ताका विलास रहता है। अतः सच्चिदानंद भाव एक अद्वैत रूपसे स्थिर रहनेपर भी भाव-प्राधान्यसे प्रस्थानत्रय कल्पनाकी आवश्यकता है।

इस प्रकारसे ब्रह्मसारूप्य प्राप्त करनेके लिए मन्त्रहठलययोगमें अधिकारप्राप्त योगी किस क्रमके अनुसार राजयोगसाधनपथ में अग्रसर होते हुए लक्ष्यस्थानपर पहुँचेंगे सो नीचे बताया जाता है। यथा—

यद्धर्मसाधनं व्यष्ट्या स यज्ञः परिकीर्तितः।
महायज्ञः समष्ट्या हि धर्मसाधनमुच्यते ॥
एताभ्यां साधनाभ्यां वै शुद्धिः स्यादाधिभौतिकी।
आधिदैविकशुद्धिः स्याद्भक्त्या भगवतो दृढ़ा ॥
प्रजायतेऽध्यात्मशुद्धिरात्मानात्मविचारतः ।
सम्पादनीयास्त्रिविधाः शुद्धयो हि हितप्रदाः ॥
ध्यानं हि मन्त्रहठयोर्लयस्य च यथाक्रमम् ।
स्थूलं ज्योतिर्मयं विन्दुध्यानमित्युच्यते बुधैः ॥
महाभावमहाबोधमहालयस्वरूपिणः ।
समाधयो विनिर्द्दिष्टास्तेषां वै परमर्षिभिः ॥

त्रयाणामेकमभ्यस्यं राजयोगमभीप्सुभिः ।
श्रेयसे हि भवेत्तस्याभ्यासो वै सप्तसाधने ॥
ब्रह्ममन्त्रस्य प्रथमं साधनं मानसो जपः ।
अर्थानुगमनं कुर्य्याज्जपेन सह साधकः ॥
भावे स्थिरत्वं लक्ष्यस्य विधेयं तेन वै समम् ॥

व्यष्टिधर्मसाधनको यज्ञ और समष्टिधर्मसाधनको महायज्ञ कहते हैं। यज्ञ और महायज्ञके साधन द्वारा आधिभौतिक शुद्धि प्राप्त करनी पड़ती है। भगवद्भक्ति लाभ द्वारा आधिदैविक शुद्धि और आत्मा अनात्माके विचार द्वारा आध्यात्मिक शुद्धि प्राप्त करनी होती है। त्रिविध शुद्धिसम्पादन परमावश्यक है। मन्त्रयोग, हठयोग और लययोगके ध्यानको यथाक्रम स्थूलध्यान, ज्योतिर्ध्यान और बिन्दुध्यान कहते हैं। इन ध्यानसिद्धियोंसे यथाक्रम महाभाव, महाबोध और महालयरूपी समाधिका उदय होता है। इन तीनों समाधियों में से किसी का अभ्यास करना होता है। राजयोगेच्छु व्यक्तिको निम्नलिखित सप्त साधनों का व्यापार निरन्तर करना परम मङ्गलकर है। ब्रह्ममन्त्रका जप मानसरूपसे करना प्रथम साधन है। ब्रह्ममन्त्रके जपके साथ अर्थानुगम और अर्थानुगमसे भावपर लक्ष्य स्थिर करना होता है।

यज्ञार्थं कर्म किमपि कर्मयोगोऽभिधीयते ।
कामसंकल्परहितं कर्तव्यमिति यत्कृतम् ॥
परार्थमथवा कर्म कर्मयोगोऽभिधीयते ।
शारीरकर्मयोगेषु प्रसक्तिर्हि द्वितीयके ॥
तृतीये मानसे कर्मयोगे तत्परता भवेत् ।
रसस्यानुभवो लोके लिप्तेनापि वितृष्णया ॥
चतुर्थानुभवो बोध्ये आत्मलक्ष्यादविस्मृतिः ।
उपासनासप्तभूमिमनुसृत्य रतिर्यदा ॥
सप्तध्याने भवेदेव पञ्चमोऽनुभवो मतः ।
षष्ठस्तटस्थज्ञानेनानुसन्धानं हि चात्मनः ।
आत्मप्रकाशकज्ञानानुसन्धानं हि सप्तमः ।
एषु कुत्रापि सततं राजयोगपरैर्नरैः ॥
अभ्यासः सुदृढं कार्य इति प्रोचुर्महर्षयः ॥

कैसे ही कर्म हों, यज्ञार्थ करनेसे कर्मयोग कहाता है। कामसंकल्पवर्जित और कर्तव्यबोधसे जो कर्म किया जाय अथवा जो केवल परार्थ कर्म किया जाय उसको कर्मयोग कहते हैं। शारीरिक कर्मयोगमें रत रहना द्वितीय है। और मानसिक कर्म-योगमें रत रहना तृतीय है। संसारमें रहते हुए विषयरागरहित रसानुभव करना और

उस समय आत्मलक्ष्यविस्मृत न होना यह चतुर्थ है। उपासनाकी सप्त भूमिकाके अनुसार सप्तध्यानमें रत रहना यह पञ्चम है। तटस्थज्ञान द्वारा आत्मानुसन्धान षष्ठ है और स्वरूपज्ञानप्रकाशक विज्ञानका अनुसन्धान सप्तम है। राजयोगीको इन साधनोंमेंसे किसी न किसीमें निरन्तर युक्त रहना उचित है।

अब राजयोगोक्त समाधिका वर्णन किया जाता है—

साधनं राजयोगस्य धारणाध्यानभूमितः।
आरभ्यते समाधिर्हि साधनं तस्य मुख्यतः॥
समाधिभूमौ प्रथमं वितर्कः किल जायते।
ततो विचार आनन्दानुगता तत्परा मता॥
अस्मितानुगता नाम ततोऽवस्था प्रजायते।
विशेषलिङ्गंत्वविशेषलिङ्गं लिंगं तथाऽलिंगमिति प्रभेदान्।
वदन्ति दृश्यस्य समाधिभूमिविंवेचनायां पटवो मुनीन्द्राः॥
हेया अलिंगपर्यन्ता ब्रह्माहमिति या मतिः।
निर्विकल्पे समाधौ हि न सा तिष्ठति निश्चितम्॥
द्वैतभावास्तु निखिला विकल्पश्च तथा पुनः।
क्षीयन्ते यत्र सा ज्ञेया तुरीयेति दशा बुधः।
समाधिसाधनं शास्त्राभ्यासतो न हि लभ्यते।
गुरोर्विज्ञाततत्त्वात्तु प्राप्तुं शक्यमिति ध्रुवम्॥

राजयोगका साधन प्रथमावस्थामें धारणा और ध्यानभूमिसे प्रारम्भ होता है और राजयोगकी साधनभूमि प्रधानतः समाधिभूमि ही है। समाधिभूमिमें पहिले वितर्क रहता है, तदनन्तर अग्रसर होने पर विचार रहता है। उससे आगेकी अवस्थाका नाम आनन्दानुगत अवस्था है और उससे आगेकी अवस्था का नाम अस्मितानुगत अवस्था है। प्रथम दो भेद सविचार और द्वितीय दो भेद निर्विचार समाधिके हैं। विशेषलिङ्ग, अविशेषलिङ्ग, लिङ्ग और अलिङ्ग ये चार भेद दृश्यके हैं। अलिंग तक त्यागने योग्य हैं। मैं ब्रह्म हूँ यह भाव भी निर्विकल्प समाधिमें नहीं रहता। कोई द्वैतभाव अथवा कोई विकल्प जब शेष न रहे, वही तुरीयावस्था है। समाधिभूमिका साधनक्रम शास्त्रसे ज्ञात नहीं हो सकता है, जिनको अपरोक्षानुभूति हुई है, ऐसे जीवन्मुक्त ही उसका भेद बता सकते हैं।

योगशास्त्रमें लिखा है—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"
"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"

और संहितामें लिखा है—

परजीवात्मनोरेव मेलनं योग उच्यते ।

इन शास्त्रीय वचनोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन वचनोंसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि चित्तवृत्तियोंका जब तक निरोध नहीं होता है तब तक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है; परन्तु चित्तवृत्तिका जितना जितना निरोध होता जाता है उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्वका नाश होकर स्वरूपका विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निरुद्ध हो जाने पर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकास हो जाता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभावसमाधिमें (जिसका वर्णन मन्त्रयोग नामक अध्यायमें किया गया है) और हठयोगकी सिद्धावस्था रूपी महाबोधसमाधिमें (जिसका वर्णन हठयोगके अध्यायमें किया गया है) और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालय समाधिमें (जिसका वर्णन लययोग नामक अध्यायमें किया गया है) साधकको जो सफलता प्राप्त होती है, उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्थ द्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरण द्वारा मन्त्रयोगके महाभावसमाधिका उदय होता है और नाद तथा बिन्दुके एकीकरणसे लययोगके महालय नामक समाधिका उदय होता है। वे तीन समाधियाँ लौकिक उपायसम्भूत होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्धरहित होनेसे यद्यपि बलपूर्वक चित्तवृत्ति निरोध करनेमें समर्थ होती हैं, परन्तु चित्तवृत्तिके मूलोच्छेद करनेमें समर्थ नहीं होती हैं, सुतरां इन तीनों समाधिदशाओंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त होते हैं, राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार वहाँसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनाक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्तदर्शनोक्त सप्तज्ञानभूमियोंको एकके बाद दूसरा इस तरह क्रमशः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपान द्वारा छत पर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्तज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अङ्गोंमें से प्रथम सप्तांगोंका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रकृतिपुरुषात्मक दो राज्योंके दर्शन करके उनकी धारणासे

अनन्तरूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अंगका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराट् रूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्ताका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठामें पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त १६ अंगोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अंगका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह परमभाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दशाएँ पूर्वकथित मन्त्रहठलययोगोक्त महाभाव, महाबोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दशाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दशाको जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धांत है।

अब समाधिका लक्ष्य वर्णन किया जाता है—

मन्त्रो हठो लयो राजयोगोऽयं सममुक्तिदः।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृताः ॥
नादविन्दुसहस्राणि जीवकोटिशतानि च।
सर्वञ्च भस्मसाद्भूतं याति देवं निरञ्जनम् ॥
अहं ब्रह्मेति धीर्नूनं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
दृश्यन्ते दृशिरूपाणि गगनं भाति निर्मलम् ॥
अहमित्यक्षरं ब्रह्म परमं विष्णुमव्ययम्।
अहमेकमिदं सर्वमिति पश्येत् परं सुखम्।
दृश्यते तत् खगाकारं खगाकारं विचिन्तयेत् ॥

मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ये चार अपने अपने क्रमके अनुसार मुक्तिप्रदानकारी साधन हैं, परन्तु राजयोग इन चारोंमेंसे सर्वश्रेष्ठ है। इस कारण इस योगकी राजयोग संज्ञा है। सहस्र नादविन्दु और शत कोटि जीव सब ही भस्मीभूत होकर निरञ्जन ब्रह्ममें लयको प्राप्त होते हैं। इस कारण "मैं ही ब्रह्म हूँ" इस प्रकारका ज्ञान ही महात्मागणके अर्थ एकमात्र मोक्षका कारण है। निर्मल गगन जिस प्रकार परिष्कृत रूपसे दृष्टिगोचर हुआ करता है और उसमें गगनस्वरूप आदि जिस प्रकारसे परिष्कृत दिखाई देते हैं उसी प्रकार "मैं ही अक्षर ब्रह्म हूँ" ऐसा ज्ञान होनेसे अव्यय विष्णुरूपी परमात्माके दर्शन हो सकते हैं। "एकमात्र मैं ही अखिल विश्व हूँ" ऐसा ज्ञान उत्पन्न होते ही परमानन्दरूपी परमात्मा प्रत्यक्ष हो जाते हैं और जब अपने आपको साधक गगनकी नाईं अखण्ड विचार कर सकता है, तब ही परमात्मा गगनवत् अखण्ड उसको प्रतीत होने लगते हैं।

सकलं निष्कलं सूक्ष्मं मोक्षद्वारविनिर्गतम् ।
अपवर्गस्य कर्त्तारं परमं विष्णुमव्ययम् ॥
सर्वात्मज्योतिराकारं सर्वभूताधिवासितम् ।
सर्वत्र परमात्मानं ब्रह्मात्मानं तथा परम् ॥
अहं ब्रह्मेति यः सर्वं विजानाति नरः सदा ।
हन्यात् स्वयमिमान् कामान् सर्वाशी सर्वविक्रयी ॥
राजन्तं दीप्यमानं तं परमात्मानमव्ययम् ।
प्रापयेद्देहिनां यस्तु राजयोगः स कीर्तितः ॥

परमात्मा सकल, निष्कल, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, मुक्तिपथसे परे, मुक्तिके हेतु और अव्यय परमविष्णु स्वरूप है। सर्वात्मरूपी, ज्योतिस्वरूप, सर्व भूतके आश्रयस्वरूप, सर्वव्यापक, चेतनाधार, आत्मा और परमात्मामय ब्रह्म हैं। जो साधक निरन्तर "मैं ही यह समस्त विश्व और ब्रह्म हूँ" ऐसा विचार किया करते हैं, वे सर्वभुक् और सर्वविक्रयी होकर भी स्वयं अखिल कामनाओंका नाश कर दिया करते हैं। स्वयं प्रकाशमान् और अविनाशी परमात्माकी प्राप्ति इस योग द्वारा साधकको हुआ करती है, इस कारण इसे राजयोग कहते हैं।

इस लक्ष्यकी सिद्धि राजयोग पथमें धीरे धीरे किस प्रकारसे होती है, सो योगशास्त्रमें निम्नलिखित रूपसे बताया गया है। यथा—

भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यताम् ।
ब्रह्मवृत्या हि पूर्णत्वं तथा पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥
येषां वृत्ति समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः ।
ते वै सद्ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥
कुशला ब्रह्मवार्त्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ।
तेप्यज्ञानितया नूनं पुनरायांति यांति च ॥

जब अन्तःकरणमें सृष्टिभावविशेषका उदय होता है, तब अन्तःकरण तद्भाव-मय हो जाता है; जब अन्तःकरण शून्य तत्त्वको धारण कर लेता है तभी अन्तः-करणमें वृत्तिशून्यता आ जाती है; एवं साधन द्वारा जब अन्तमें अन्तःकरण ब्रह्मत्व भावसे पूर्ण हो जाता है, तभी ब्रह्मपदका उदय होता है; इस कारण उस श्रेष्ठपदके लाभ करनेके अर्थ अभ्यास करना उचित है। अन्य वृत्तियोंका नाश होकर साधनकी परिपक्व अवस्थामें जब ब्रह्मभावका उदय होता है, वही साधककी श्रेष्ठ अवस्था है, नहीं तो साधनहीन साधक केवल वाचिकज्ञानी ही हुआ करते हैं। जो पुरुष ब्रह्म-वृत्तिशून्य होकर केवल बातोंसे ब्रह्मभावका प्रकाश किया करते हैं, वे अज्ञानी बार-बार आवागमन पथद्वारा संसारमें भ्रमण किया करते हैं।

निमेषार्द्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥
कार्ये कारणता याता कारणे न हि कार्यता ।
कारणत्वं ततो गच्छेत् कार्याभावे विचारतः ॥
अथ शुद्धं भवेत् वस्तु यद्वै वाचामगोचरम् ।
द्रष्टव्यं मृद्घटेनैव दृष्टांतेन पुनः पुनः ॥
अनेनैव प्रकारेण वृत्तिर्ब्रह्मात्मिका भवेत् ।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥
कारणं व्यतिरेकेण पुमानादौ विलोकयेत् ।
अन्वयेन पुनस्तद्धि कार्ये नित्यं प्रपश्यति ॥
कार्ये हि कारणं पश्येत् पश्चात्कार्यं विसर्जयेत् ।
कारणत्वं ततो गच्छेदवशिष्टं भवेन्मुनिः ॥

जिस प्रकार ब्रह्मादि देवगण, सनकादि मुनिगण और शुक आदि ब्रह्मर्षिगण सकल कालमें और सकल अवस्थामें ब्रह्मपदमें ही लीन रहा करते हैं, उसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषोंको सदा ब्रह्ममयी वृत्तिमें ही लीन रहना उचित है। यदि च कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हुआ करती है, परन्तु कारणमें कार्यकी स्थिति कदापि नहीं रह सकती, इस कारण कार्यभावके अभाव हो जानेसे केवल सत्‌चित् आनन्दरूप कारणभावकी ही स्थिति रह जाती है। जब कार्य और कारणभाव निवृत्त हो जाता है, तब मन और वाणीके अगोचर शुद्ध ब्रह्मपद ही शेष रह जाते हैं; इसके दृष्टान्तपर घटका दृष्टांत समझना उचित है। इस प्रकारसे जब वृत्ति ब्रह्मात्मक भावको धारण कर लेती है, तब अन्तःकरणकी पूर्ण शुद्धताके कारण पूर्णज्ञानमयी वृत्तिका उदय हुआ करता है। कारणके बिना कार्य नहीं हुआ करता, इस ज्ञानभित्ति पर स्थित रहकर मुमुक्षुगणको सबसे प्रथम कारण पदका निश्चय करना उचित है। इस प्रकारसे व्यतिरेक अनुमान द्वारा नित्यकारण पदकी स्थिति हो जाती है। पहले कार्यसे कारणका निश्चय करके पीछे कार्यका त्याग कर देना उचित है; कार्यके त्याग कर देने पर अवशिष्ट कारण ही रह जाता है; इस रीतिपर कार्य वर्जित होनेसे मुनिगण स्वयं चिन्मयस्वरूप हो जाया करते हैं।

लक्ष्य सिद्ध होने पर सिद्ध योगीकी जो अवस्था होती है, सो वर्णित की जाती है—

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मना ।
पुमांस्तद्धि भवेच्छीघ्रं ज्ञेयं भ्रमरकीटवत् ॥

अदृश्यं भावसम्पन्नं सर्वमेव चिदात्मकम् ।
सावधानतया नित्यं स्वात्मानं भावयेद्बुधः ॥
इमं च कृत्रिमानंदं तावत् साधुः समभ्यसेत् ।
वश्यो यावत् क्षणात् पुंसः प्रयुक्तः सम्भवेत् स्वयम् ॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।
तत्स्वरूपं न चैतस्य विषयो मनसो गिराम् ॥
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ।
विद्वान्नित्यसुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥
ब्रह्मज्ञानाग्निना चापि निर्द्दहेत्पुण्यपापके ।
मित्रामित्रे सुखे दुःखे इष्टानिष्टे शुभाशुभे ॥
समे मानापमाने च तथा निन्दाप्रशंसने ।
भूतवस्तुन्यशोचित्वे पुनर्जन्म न विद्यते ॥

निश्चयात्मिका वृत्तिद्वारा तीव्र संवेगयुक्त होकर जब साधक ब्रह्मभावनामें तत्पर रहता है, तो शीघ्र ही वह ब्रह्मपदको प्राप्त कर लिया करता है। इसके उदाहरणमें भ्रमर और तैलपायी कीटका दृष्टांत समझना उचित है। ज्ञानसाधकगण सदा सावधानचित्त होकर अदृश्य और दृश्यमय सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको चिन्मय ब्रह्मरूप धारण करते हुए परमात्माके रूपको प्राप्त हो जाया करते हैं। पूर्वमें कही हुई रीतिके अनुसार जबतक आनन्दमय ब्रह्मपदका उदय नहीं होता, तबतक कृत्रिम आनन्दका अभ्यास निदिध्यासन आदि साधन द्वारा साधकको करना उचित है। परन्तु स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जानेपर साधनकी आवश्यकता नहीं रहती। तब साधक साधन अवस्थासे निर्मुक्त हो जाता है और सिद्ध पदवीको प्राप्त करके योगिराज बन जाता है। उस योगिराजकी अवस्थाका विषय मन और वाणीसे अगोचर है। दृश्य वस्तुसमूहको अदृश्यकी नाईं धारण करते हुए एक मात्र ब्रह्मस्वरूप चिन्तासे ही ज्ञानी पुरुषगण चिन्मयरससे भरी हुई बुद्धिमें युक्त होकर नित्यस्थायी सुखमें अवस्थित रहा करते हैं। तब वह ब्रह्मज्ञानयुक्त योगी अपने ज्ञानाग्नि द्वारा पुण्य और पापसमूहको भस्म कर डालते हैं। सुतरां उनके अर्थ तब शत्रु मित्र, सुख दुःख, इष्ट अनिष्ट, शुभ अशुभ, मान अपमान, स्तुतिनिन्दा सब एक ही समान हो जाते हैं। वे तब गत विषयोंसे शोकशून्य हो जाते हैं और पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होते हैं।

अब ज्ञानयोगसिद्ध निर्विकल्प समाधिप्राप्त जीवन्मुक्त महात्माके जीवनमें विदेहमुक्तिके पूर्व तक कर्म, उपासना और ज्ञानका किस प्रकार निर्लिप्त सम्बन्ध रहता है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है:—

कर्माधिकारभावः—निर्विकल्पं प्रपन्नानां नैव कर्मावशिष्यते।
तथापि तेषां घटकचक्रवज्जायते तु तत्॥

निर्विकल्प समाधिसिद्ध योगीका कोई भी कर्म अवशिष्ट नहीं रहता है। तथापि जबतक विदेहमुक्ति नहीं होती, तब तक प्रारब्धकर्मके वेगसे तथा विराट्केन्द्र के द्वारा परिचालित होकर कुलालचक्रकी तरह जीवन्मुक्त योगी निर्लिप्त होकर जगत कल्याणार्थ कर्म करते हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें इस प्रकार निष्कामकर्मका विज्ञान और अनुष्ठानविधि सम्यक् बतायी है। यथा—

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

हे धनञ्जय! इन्द्रियोंका सङ्ग त्याग करके सिद्धि असिद्धिमें समभावापन्न होकर आत्मयोगयुक्त होते हुए कर्तव्य कर्म साधन करते रहो। अन्तःकरणकी समता ही योग है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥

क्षीणपातक, छिन्नसंशय, संयतचित्त, सर्वभूतोंके हितमें रत और सम्यग्दर्शी ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाणरूपी मोक्षपदको प्राप्त किया करते हैं। यही जीवन्मुक्त महात्माके जीवनमें कर्माधिकार भाव है। अब उनके जीवनमें उपासनाका भाव कैसा होता है सो बताया जाता है।

उपासनाधिकारभावः—यथा जलधिमभ्येत्य तद्रूपं यान्ति सिन्धवः।
जीवन्मुक्तः स्वरूपस्थस्तथा प्राप्नोति ब्रह्मताम्॥
सेव्यसेवकयोर्भावमतीत्यापि तदा पुनः।
परानन्दविलासस्य वश्यतामेत्य कर्हिचित्॥
ईशरूपे विराड्रूपे परानन्दं प्रपद्यते॥

यद्यपि स्वरूपस्थित जीवन्मुक्त जैसी सरिताएँ समुद्रमें मिलकर एक हो जाती हैं वैसी ही ब्रह्मरूपको प्राप्त हो जाते हैं और उस समय वे उपास्य उपासक भावसे अतीत हो जाते हैं तो भी परमानन्दके विलासवशके कारण कभी ईश्वररूपमें और कभी विराटरूपमें परमानन्दका अनुभव करते हैं।

जीवन्मुक्तः क्षीणमनोवासनो जगतां हिते।
प्रसक्तो भगवत्कार्यं विदधानो निरन्तरम्॥

कदाचिदानन्दमयं विराड्रूपेऽनुविन्दति ।
स्तुवन्कदाचित्परमानन्दमाप्नोति चैश्वरम् ॥

क्षीणमन और वासनाहीन जीवन्मुक्त जगत्के कल्याणके लिए भगवत्कार्यमें निरन्तर रत रहता है । कभी चिदानन्दमय विराट्रूपको प्राप्त करता है और कभी ईश्वरकी स्तुति करता हुआ परमानन्दमें निमग्न रहता है । भगवद्भक्त अर्जुन कर्तृक विराट्रूपकी स्तुतिमें इसी प्रकार विराट्दर्शन-जनित परमानन्दका विलास बताया गया है । श्रीभगवान् शङ्कराचार्य प्रभुने भी इसी भावमें मुग्ध होकर कहा था—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।
सामुद्रो हि तरंगः क्व च न समुद्रो हि तारंगः ॥

हे नाथ ! भेद न होनेपर भी मैं तो आपका ही हूँ, न कि आप मेरे हो सकते हैं, क्योंकि तरङ्ग तो समुद्रका ही हुआ करता है, परन्तु तरङ्गका कदापि नहीं हो सकता । यही जीवन्मुक्तके जीवनमें उपासनाधिकारभाव है । उनके जीवनमें ज्ञानाधिकार भाव निम्नलिखितरूप है । यथा—

ज्ञानाधिकारभावः—उपादानं प्रपंचस्य ब्रह्मणोन्यत्र विद्यते ।
तस्मात्सर्वप्रपञ्चोयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥
व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेतिशासनात् ।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥

इस संसाररूपी प्रपञ्चका ब्रह्मके सिवाय और कोई भी उपादान कारण नहीं है । इस कारण संसार ब्रह्मरूपके सिवाय और कुछ भी नहीं है । व्याप्यव्यापक भाव मिथ्या है । सब आत्मरूप ही है, ऐसा वेदमें भी प्रमाण मिलता है । इस प्रकार परमत्माका ज्ञान होनेसे भेदज्ञान रह ही नहीं सकता ।

ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च ।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति श्रुतिर्जगौ ॥
रज्जुरूपे परिज्ञाते सर्पखण्डं न तिष्ठति ।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपंचः शून्यतां गतः ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं सदानन्दं ब्रह्म केवलम् ।
सर्वधर्मविहीनश्च मनोवाचामगोचरम् ॥
स्वजातीयविजातीयपदार्थानामसम्भवात् ।
अतस्तद्व्यतिरिक्तानामद्वैतमिति संज्ञितम् ॥

एकमात्र ब्रह्म ही नाना प्रकारके नाम और रूपोंको धारण किया करते हैं और कर्म्मकी स्फूर्त्ति भी उन्हींमें हुआ करती है। साक्षात् प्रमाण द्वारा और वेदरूप आप्त प्रमाण द्वारा यही सिद्ध है।

फलतः जिस प्रकार रज्जुमें रज्जुका यथार्थ ज्ञान होते ही सर्पका भ्रमज्ञान दूर हो जाया करता है; उसी प्रकार इस प्रपञ्चके अधिष्ठानभूत परमात्माका यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होते ही यह प्रपञ्चरूपी संसार लयको प्राप्त हो जाया करता है। वह ब्रह्मपद सत्य स्वरूप है, ज्ञानमय है, अनन्त है, सदानन्दरूप है, एकमात्र है, सर्वधर्मशून्य है, मन और वाक्यसे अगोचर है। उस पदमें सजातीय भाव अथवा विजातीयभावरूपी द्वैतभानकी कोई भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि उस अवस्थाका नाम अद्वैतपद ही है।

यही राजयोगकी सिद्धावस्था मनुष्यजीवनका अन्तिम लक्ष्य और सकल साधनोंका चरम फल है।

चतुर्थ समुल्लासका पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।



गुरु और दीक्षा

—०:※:०—

सनातनकालसे गुरुदीक्षाकी रीति इस पवित्र भूमिमें प्रचलित है। शास्त्रोंमें ऐसा कथित है कि जैसा पाषाण पर बीज बोनेसे बीज अंकुरित नहीं होता है, वैसे ही विना गुरुदीक्षाके साधन करने से कदाचित् आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती है। थोड़े ही विचार करनेसे शास्त्रोक्त इस महावाक्यका सिद्धान्त हो सकता है। जबसे शिशुमें ज्ञान अंकुरित होता है, उसके अनन्तर जैसे जैसे उसके ज्ञानकी वृद्धि होती जाती है, वह वृद्धि औरोंके उपदेशसे ही होती है, अर्थात् जैसे जैसे उस शिशुको उसके माता पिता, प्रतिपालक और विद्या-गुरु-गण उपदेश द्वारा जैसी जैसी शिक्षा देते जाते हैं वैसे ही उस बालकमें ज्ञानकी स्फूर्ति होती जाती है! अतः वे उपदेशकगण उस शिशुके शिक्षा-गुरु हैं, क्योंकि उन उपदेशोंकी विना सहायताके उस बालकको किसी प्रकारसे ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो सकती थी। मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदि जब तक किसी प्रबल शक्तिसे उत्तेजित आकृष्ट और चालित न किये जायँ तब तक ये कोई काम नहीं कर सकते। अब जिस शक्ति द्वारा हम लोग उन्नतिकी ओर फिराये जाते हैं, वही शक्ति हमारे गुरु हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्रादि जिस महाशक्तिके इङ्गित मात्रसे अपने कार्यपर लगे रहते हैं, वही जगत्की महाशक्ति जगद्गुरु हैं। इन्हीं जगद्गुरुके जाननेके लिए जब जीवका मन व्याकुल होता है, उस व्याकुलताको दूर करके इस घोर मायामय अन्धकारपूर्ण संसारपथको जो तत्त्वज्ञानी महापुरुष उपदेशरूप दीपक द्वारा सुगम कर देते हैं, वे ही दीक्षागुरु हैं। अब विचार द्वारा यह प्रतिपन्न हुआ कि विना दूसरेके उपदेशके जीव कुछ भी ज्ञानलाभ नहीं कर सकता। चाहे सांसारिक ज्ञान हो, चाहे आध्यात्मिक ज्ञान हो, बिना गुरु-उपदेशके किसी प्रकारका ज्ञानलाभ नहीं हो सकता।

शिक्षाके भेदसे शास्त्रमें दो प्रकारके गुरु लिखे हैं, यथा शिक्षागुरु और दीक्षागुरु। माता, पिता, आचार्य्यादि जो कोई सांसारिक ज्ञानकी वृद्धि करनेमें सहायता करें वे शिक्षागुरु हैं, अर्थात एक कीटसे लेकर समस्त ब्रह्माण्ड ही शिक्षा-गुरु हो सकता है। परन्तु दीक्षागुरु वे ही हो सकते हैं कि जिन्होंने जीवकी व्याकुलता देख कृपाकर आत्मोन्नतिका पथ उसको दिखाया हो।

गुरुदीक्षाका वर्णन करते समय आर्य्यशास्त्रोंने आज्ञा दी है कि दीक्षासे पहिले श्रीगुरुदेव शिष्यको न्यूनसे न्यून छः मास अथवा वर्षकाल पर्यन्त परीक्षा कर लेवें और परस्परमें प्रीति तथा भक्ति होनेपर यदि गुरुदेव शिष्यको उपयुक्त समझें तो दीक्षादान करें। और यह भी लिखा है कि शास्त्रविधिसे यदि शिष्यकी दीक्षा होगी तो अवश्य ही उस जिज्ञासुका कल्याण होगा इसमें सन्देह मात्र नहीं। परन्तु शास्त्रोंने

यह भी आज्ञा दी है, कि श्रीगुरुदेवकी शक्तिका पार नहीं, वे यदि इच्छा करें तो चाहे जैसा अधिकारी हो, चाहे जैसा देश काल पात्र हो, चाहे शिष्यकी परीक्षा करें या न करें, वे सब समयमें सब देशमें दीक्षा द्वारा शिष्यका कल्याण कर सकते हैं। अब जिज्ञासुगणके हृदयमें प्रश्न उठ सकता है कि यदिच परमज्ञानी श्रीगुरुदेव शिष्यके उन लक्षणों द्वारा शिष्यको पहिचान सकते हैं, परन्तु अल्पज्ञानी शिष्य कैसे सब समयमें एकाएक सद्गुरुको पहिचाननेमें समर्थ हो सकता है ? इस प्रकारके सन्देहोंके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि यदिच शिष्य अल्पज्ञानी होता है तथापि ज्ञानरूपी चैतन्यका प्रकाश सब जीवोंमें ही स्थित है, विशेषतः मनुष्यगणमें इस प्रकारकी श्रेष्ठता बुद्धिरूपसे प्रकट है, इस कारण से ही मनुष्य सब जीवोंमें श्रेष्ठ और अपने सत् असत् कर्म्मोंका दायित्व (जिम्मेवारी) रखनेवाला है, अर्थात् अनन्त प्राणियोंमें एक मात्र मनुष्य योनिवाले ही अपने किये हुए कर्मोंका फल पाया करते हैं, अन्य प्राणिगण प्रकृतिके अधीन होकर कार्य्य करते हैं, इस कारण वे अपने किये हुए कर्मों का फल नहीं पाते। परन्तु मनुष्य अपनी बुद्धिके अधीन होकर कार्य करता है इस कारणसे वह अपने किये हुए सत् अथवा असत् कर्म्मके बन्धनमें आ जाता है। यह बुद्धिकी स्वाधीनता सब प्रकारके मनुष्योंमें ही सब समयमें न्यूनाधिक रहती है इस कारण शास्त्रने आज्ञा दी है कि जिज्ञासुको भी उचित है कि अपनी बुद्धिके अनुसार लक्षणोंको मिलाकर गुरु अन्वेषण करे। इस प्रकार मानवीय पुरुषार्थ शक्तिके अतिरिक्त दैवी सहायता भी गुरुप्राप्तिके विषयमें साधकके अधिकारानुसार मिलती है जो क्रमशः बतायी जायगी।

जितने प्रकारके धर्म्म, सम्प्रदाय इस संसारसे देखनेमें आते हैं उन सबमें ही गुरुदीक्षाकी रीति अल्प अथवा अधिकरूपसे पाई जाती है। चाहे मुहम्मदीय धर्म्मके शरीअत, तरीकत, मारफत और हकीकत अधिकार हों, चाहे इसाई धर्म्मके रोमन कैथलिक, ग्रीकचर्च अथवा प्रोटेस्टेन्ट सम्प्रदाय हों, चाहे जैनधर्म्मके श्वेताम्बरी और दिगम्बरी आदि मतान्तर हों, चाहे बौद्ध धर्म्मके उत्तर और दक्षिण आम्नाय हों, सब धर्म्मसम्प्रदायों में ही गुरुदीक्षाग्रहणकी रीति अल्प अथवा अधिकरूपसे प्रचलित है। सब धर्म-मार्ग एकवाक्य होकर गुरुदीक्षाग्रहण करनेमें आज्ञा करते हैं। परन्तु भेद इतना ही है कि अभ्रान्त वेद-प्रकाशित सनातनधर्म्ममें जिस प्रकारसे गुरुकी महिमा और आध्यात्मिक उन्नति करनेमें गुरुदीक्षाकी आवश्यकताको विस्तृत और दृढ़ रूपसे वर्णन किया गया है, उस प्रकार वैज्ञानिक भावपूर्ण वर्णन और कहीं देखनेमें नहीं आता। वेदका यही आशय है कि जीव अपने कर्म्म के अनुसार आवागमन चक्रमें सत् असत् फल भोग किया करता है, परन्तु कर्म्म स्वयं जड़ होनेके कारण वे अपने आप फलकी उत्पत्ति नहीं कर सकते; जगत्कर्त्ता, जगत्पिता, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही अपनी महाशक्ति द्वारा उन कर्म्मोंके अनुसार जीवको सत् असत् फल प्रदान किया करते हैं। यदिच फलकी प्राप्तिमें निज कर्म्म ही कारण रूप है, तथापि ईश्वरशक्ति बिना कर्म्म-समूह अपने फल उत्पन्न नहीं कर सकते। इसी शैलीके अनुसार आध्यात्मिक उन्नति करते समय भी मनुष्यको ईश्वरीय

शक्तिकी सहायता लेनी पड़ेगी। परन्तु ईश्वर कुछ स्वयं मूर्तिमान होकर जीवको फलदान नहीं किया करते, जिस प्रकार अपरोक्ष रीति पर जगत्‌पिता परमात्मा जगत्‌के सारे कार्य्य चलवा रहे हैं; उसी प्रकारकी रीति पर वे अपनी जीवरूप अनन्त केन्द्रोंमेंसे किसी श्रेष्ठ पुरुषके केन्द्रस्थित होकर गुरुरूपसे जिज्ञासुका कल्याण करके उसको निम्नतर आध्यात्मिक भूमिसे उच्चतर आध्यात्मिक भूमिमें पहुँचा दिया करते हैं। इस महाकार्य्यमें, इस जीवहितकारी प्रधान कर्म्ममें ईश्वर कारण-भूमि और श्रीगुरुमूर्ति कार्य-भूमि हैं, इसमें सन्देहमात्र नहीं और इसी कारणसे गुरुदीक्षा और श्रीगुरुमाहात्म्यकी इतनी महिमा शास्त्रने गाई है।

यदिच गुरुदीक्षाकी रीति प्राचीन भारतमें बहुत ही प्रचलित थी, और अब भी इस पवित्र भूमिमें कहीं कहीं गुरुदीक्षाकी यथार्थ रीति स्वल्परूपसे प्रचलित है, किन्तु विशेषतः यह रीति लुप्त ही हो गई है और कहीं कहीं यह पवित्र रीति स्वार्थ-परतामें मिलकर कुरीतिमें परिणत हो गई है। अधिकतर ऐसा ही देखनेमें आता है कि शिष्यमें गुरुभक्ति कुछ भी नहीं रही, गृहस्थोंमें जैसे नाई, धोबी आदि गृहस्थसेवक हुआ करते हैं वैसे ही गुरु भी एक समझे जाते हैं; जब कभी गुरुवंशके कोई आ जाते हैं तब उनकी वर्त्तमान हीन अवस्थाके अनुसार यत्किञ्चित् कुछ देकर उनको विदा कर देते हैं और उनसे पुनः अपना कोई सम्बन्ध नहीं रखते, अथवा उनको अपने घरमें रखकर उनसे गृहस्थसेवकोंका कार्य लिया करते हैं। यद्यपि अधिक दोष इस समयमें शिष्योंका ही है, क्योंकि न तो वे अपने आप आध्यात्मिक उन्नतिके लिए प्रयत्न करते हैं और न गुरुसेवाकी कुछ आवश्यकता समझते हैं। तथापि इस समयके शिष्योंका ही केवल दोष नहीं कहा जा सकता, गुरुगणने भी अपनी मर्यादाको त्याग कर दिया है और दीक्षा देना उदरपूर्ति करनेका एक व्यवसाय मान लिया है; कहीं कहीं यह स्वार्थपरता इतनी बढ़ गई है कि प्रतिष्ठित गुरुवंशके निकट जब शिष्यगण दीक्षाके लिए एकत्रित होते हैं तो उन सबको पशुदलकी नाई एक संग बिठाकर और सबको एक ही मंत्र सुनाकर तथा उनसे अपना वात्सरिक 'कर' ठहराकर उनको विदा कर देते हैं। इसी प्रकारसे अविद्याके कारण गुरु और शिष्य उभय सम्प्रदायमें ही घोर कुरीति आज दिन इस पवित्र भूमिमें व्याप्त हो रही है। इस कराल कालप्रभावपर ही दृष्टि करके देवादिदेव महादेवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा था कि—

'गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
दुर्ल्लभस्सद्गुरुर्देवि! शिष्यसन्तापहारकः॥

हे देवि! कलियुगमें शिष्यका धन हरण करनेवाले गुरु बहुत होंगे, परन्तु शिष्यके सन्तापहारी गुरु दुर्ल्लभ होंगे। अब वर्तमान अवस्था कुछ भी हो, परन्तु यह निश्चय है कि यदि शिष्य अपने आपको उपयुक्त कर ले और त्रितापके नाश करनेकी इच्छा उसमें प्रबल हुई हो तो निःसन्देह उसको सद्गुरुके दर्शन होंगे। जब यह स्थिर सिद्धान्त है कि गुरु-उपदेशके मूलमें श्रीभगवान् हैं, तब गुरुदीक्षाद्वारा कल्याणप्राप्तिके विषयमें कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। परन्तु भेद इतना ही है कि

शिष्य जैसा अधिकारी होगा उसी अधिकारका गुरु-उपदेश उसको प्राप्त होगा। शिष्यमें जितना संसारवैराग्य होगा और वह जिस आध्यात्मिक भूमिमें स्थित होगा, उतनी ही उपकारिता गुरु-उपदेश द्वारा उसको प्राप्त होगी। यदि शिष्य अपने आपको प्रथम उपयोगी करके जिज्ञासु बने तत्पश्चात् सद्गुरु अन्वेषण करे तो ईश्वरभावपूर्ण इस विस्तृत संसारमें उसको सद्गुरुके अवश्य दर्शन होंगे इसमें संशय मात्र नहीं।

गुरुका प्रयोजन क्या है? आध्यात्मिक मार्गमें अग्रसर होनेके लिये बिना गुरुके साधक कृतकार्य क्यों नहीं हो सकते हैं और इस प्रकार प्रयोजन साधकको कब तक रह सकता है? ऐसे ऐसे प्रश्नोंका उत्तर 'गुरु' शब्दकी व्युत्पत्ति पर विचार करनेसे ही जिज्ञासुओंको भलीभाँति विदित हो जाता है। गुरु शब्दकी व्युत्पत्ति निम्नलिखित रूपसे गुरुगीता तथा पुराणादि शास्त्रोंमें बताई गई है—

'गु' शब्दस्त्वन्धकारः स्याद् 'रु' शब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥
गुकारः प्रथमो वर्णो मायादिगुणभासकः।
रुकारो द्वितीयो ब्रह्म मायाभ्रान्तिविमोचकः॥
गकारः सिद्धिदः प्रोक्तो रेफः पापस्य दाहकः।
उकारः शम्भुरित्युक्तस्त्रितयात्मा गुरुः स्मृतः॥

गु शब्दका अर्थ अन्धकार और रु शब्दका अर्थ तमका नाशकर्ता है। इस कारण जो अज्ञानरूप अन्धकारको नाश करते हैं वे ही गुरु-शब्द-वाच्य हैं। गुरु इस शब्दके प्रथम वर्ण 'गु' से माया आदि गुण प्रकाशित होता है और द्वितीय वर्ण 'रु' से मायाजनित भ्रान्तिके नाशकारी अद्वितीय ब्रह्मका बोध होता है, इस कारण 'गु' शब्द सगुणको और 'रु' शब्द निर्गुण अवस्थाको प्रतिपन्न करके गुरु शब्द बना है। 'ग' कारका अर्थ सिद्धिदाता, 'र' कारका अर्थ पापहर्ता और 'उ' कारका अर्थ शिव है अर्थात् सिद्धिदाता शिव और पापहर्त्ता शिव ऐसा अर्थ ग–उ और र–उ बोधक शब्दसे समझना उचित है। निष्कर्ष यह हुआ कि जिस महापुरुषकी कृपासे अज्ञानान्ध जीवको ज्ञाननेत्र प्राप्त होकर जनन-मरण-चक्रसे जीवका निस्तार हो जाता है, वे ही गुरु हैं। अघटनघटनापटीयसी मायाकी भूलभुलैयामें मुग्ध जीव, अनित्य वस्तुमें नित्यज्ञान, अशुचिमें शुचिज्ञान, दुःखमय कामिनी-काञ्चनमें सुखज्ञान और अनात्मामें आत्मज्ञान करके अनादि कालसे संसारचक्रमें परिभ्रमण कर रहा है। विराम नहीं है, विश्राम नहीं है, शान्ति नहीं है, सुख नहीं है, मृगजलकी तरह सुखलालसासे दौड़ दौड़कर अन्तमें दुःख ही प्राप्त हो रहा है, आधि-व्याधि-जरा भीषण बाघिनीकी तरह नित्य ग्रास करनेको उद्यत हो रही है, पुत्र-कलत्र आदिके अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी मुग्धमन दुर्बलचित्त जीवमें संसार छोड़नेकी शक्ति नहीं है, भगवान्के चरणकमलोंकी चिन्ताके लिए हृदयके अन्तस्तलमें इच्छा होनेपर भी चित्तनदीकी पापवाहिनी धारा समस्त शुभेच्छाको बहा ले जाती

है। मलिनपङ्कपूर्ण जलाशयमें पतित वृद्ध हस्तीकी तरह संसारपङ्कमें जीव निशि-दिन निमग्न हैं, इच्छा पङ्कसे उद्धार होनेकी है, परन्तु साहस और शक्ति कम है, इस प्रकार घोर अशान्ति और दुःखमय समयमें यदि श्रीभगवान्‌की महाशक्ति किसी योग्य केन्द्रके द्वारा प्रकाशित होकर मायामुग्ध, संसारपङ्कनिमग्न जीवका हाथ पकड़ कर उठावे और उसके सम्मुख संसारका यथार्थ चित्र दिखाकर उसे दुःखमय संसारसे परित्राण करे तथा अविद्यान्धकाराच्छन्न चित्तमें ज्ञानसूर्यको प्रकाशित करके नित्यानन्दमय सुखदुःखरहित ब्रह्मपदमें जीवको चिरकालके लिये प्रतिष्ठित कर देवे तो इस प्रकार 'गुरुरूप' भगवच्छक्तिके विकाशकेन्द्रका क्या प्रयोजन है? ऐसा प्रश्न ही हृदयमें नहीं उठेगा। यही दुःखदग्ध संसारी जीवके चित्तमें शान्ति और आनन्दकी अमृतधारासिञ्चनकारी गुरुकी आवश्यकता है। अब ऐसे प्रयोजनको सुसिद्ध करनेके लिये जीवका अपना पुरुषार्थ ही यथेष्ट है अथवा अन्य किसीकी सहायताकी आवश्यकता होती है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि रोगग्रस्त मनुष्य अपनी चिकित्सा स्वयं नहीं कर सकता है। क्योंकि विकृतिग्रस्त मनुष्य अपने विकारको नहीं समझ सकता है, विकृतिशून्य मनुष्य ही विकारको ठीक-ठीक निर्णय कर सकता है। अतः जब शारीरिक सामान्य रोगके लिए ही अपनेसे भिन्न दूसरे किसी वैद्यकी चिकित्साकी आवश्यकता होती है, तो अनादिकालसे जीवके कारण, सूक्ष्म और स्थूल तीनों शरीरोंकी मज्जा-मज्जामें जो भवरोग आक्रान्त हुआ है, उसकी चिकित्सा विकारग्रस्त, अविद्यामुग्ध, विपरीतज्ञानसम्पन्न जीव बिना किसी विकाररहित ज्ञानी महापुरुषकी सहायतासे स्वयं ही कर लेगा, ऐसी कल्पना सर्वथा युक्तिहीन और मिथ्या कल्पना है। इस कारण ही अनादि अध्याससे उत्पन्न भवरोगकी चिर निवृत्तिके लिये भवरोगवैद्य श्रीगुरुदेवकी आवश्यकता होती है। यथा—

मुण्डकोपनिषद्‌में—

"तद्विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"।

श्वेताश्वतरमें भी—"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

गीतामें भी—तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिनः॥

ब्रह्मज्ञान प्राप्तिके लिये समिधा हाथमें लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुके पास जाना चाहिये। गुरुभक्तिके बिना ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। प्रणिपात, प्रश्न और सेवाके द्वारा तत्त्वदर्शी गुरुसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इसलिये ही श्रीगुरुकी स्तुतिमें उनको भवरोगवैद्य कहा है यथा—

आनन्दमानन्दकरं प्रसन्नं ज्ञानस्वरूपं निजबोधरूपम्।
योगीन्द्रमीड्यं भवरोगवैद्यं श्रीमद्गुरुं नित्यमहं नमामि॥

आनन्दरूप, आनन्दकारी, अध्यात्म प्रसादयुक्त, ज्ञानस्वरूप, निजबोधरूप, योगेश्वर, पूजार्ह और भवरोगवैद्य श्रीगुरुदेवको नित्य प्रणाम करता हूँ। अब साधनकी किस उन्नत अवस्थामें भगवच्छक्तिके आधाररूप किसी माननीय केन्द्रको गुरु न मानने पर भी साधक आध्यात्मिक राज्यमें पूर्णाधिकार प्राप्त कर सकता है, सो बताया जाता है। गुरुभक्त शिष्यकी आध्यात्मिक उन्नति-साधनके लिये ज्ञानवान् श्रीगुरुदेवका कर्त्तव्य यह है कि त्रिविधशुद्धिसाधक कर्म, उपासना और ज्ञानाधिकारको ठीक-ठीक समझकर शिष्यको इनका साधन बतावें जिससे निज प्रकृति अनुकूल कर्मयोग, उपासनायोग और ज्ञानयोगके अभ्यास द्वारा आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक पूर्णता लाभ करके साधक मुक्त हो जाय। जब तक अधिकारानुसार इन त्रिविध योगमार्गका साधक ठीक ठीक निर्णय नहीं कर सकता है, तब तक पूर्णज्ञानसम्पन्न शरीरधारी गुरुकी अवश्य आवश्यकता रहती है। परन्तु साधनकी पराकाष्ठामें पहुँचकर जिस समय योगीराज साक्षात् रूपसे समष्टि और व्यष्टि प्रकृतिमें विराट् भगवान्‌के इङ्गितको समझ सकते हैं और तदनुसार अपनी व्यष्टि-सत्ताको समष्टि प्रकृतिकी कर्मधारामें मिलाकर विश्वजीवनके साथ अपने जीवनको एकीभूत कर सकते हैं, उस समय उस तत्वज्ञानी महापुरुषको अधिकार हो जाता है कि शरीरधारी गुरुसे कर्मयोगका निर्देश न लेकर परमगुरु भगवान्‌से ही साक्षात् रूपसे कर्मयोगकी आज्ञा लिया करें। उसी प्रकार राजयोगकी पूर्ण दशामें ईश्वरभाव और ब्रह्मभावके साथ अपनी चित्तवृत्तिको विलीन करके उपासना और ज्ञानाधिकारको जब सिद्ध योगी समष्टि अधिदैव और अध्यात्म सत्ताके साक्षात् इङ्गितके द्वारा निर्णय कर सकते हैं, तब उसको शरीरधारी गुरुके निर्देशके बिना ही परमगुरु परमात्माके साक्षात् निर्देशके द्वारा परमपदका स्वरूप विदित हो जाता है। इस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान मार्गमें योगीराजका अधिकार पूर्णरीत्या जम जानेपर उनके लिये किसी मनुष्य केन्द्र द्वारा परोक्षरूपसे प्रकट भगवच्छक्तिकी सहायताकी आवश्यकता नहीं रहती है, वे साक्षात् रूपसे ही परमगुरु परमात्माके द्वारा साहाय्य और पूर्णता प्राप्तिका उपाय लाभ कर सकते हैं और ऐसे पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्त योगीराज ही जगत्‌गुरु कहला सकते हैं। परन्तु यह अधिकार बहुत ही उन्नत है, जिसके प्राप्त करनेके लिये बहुकाल पर्यन्त शरीरधारी गुरुकी ही आराधना करनी तथा आज्ञापालन करना पड़ता है, अन्यथा साधनपथमें पदस्खलन होना अवश्यम्भावी है।

शास्त्रमें गुरुकी स्तुति करते समय उनको परमात्माके स्वरूपमें वर्णन किया गया है। यथा—

ज्ञानानन्दं भवभयहरं केवलं ज्ञानमूर्त्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वदा साक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि॥

जिनका आनन्द ज्ञानमें ही है, जो संसारभयके दूर करनेवाले और केवल

ज्ञानमूर्ति हैं, द्वन्द्वसे अतीत, आकाशवत् निर्लिप्त और विभु, तत्त्वमसि आदि महावाक्यके लक्ष्यीभूत, अद्वितीय, नित्य, अविद्यादि मलदोषरहित, परिणामहीन, जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति अवस्थाके सदा ही साक्षीरूप भावातीत और गुणरहित सद्-गुरुको प्रणाम करता हूँ। इस स्तुतिमें सारे विशेषण परमात्माके वाचक हैं। अतः गुरुको परमात्माका रूप वर्णन करनेका क्या रहस्य है सो बताया जाता है। अविद्या ही जब संसारमें जीवका बन्धन-कारण है और ज्ञानसत्ताके द्वारा अविद्या नाश होकर जीवको मुक्ति और स्वरूपस्थिति प्राप्त हो सकती है तो यह निश्चय है कि गुरुभावके साथ ज्ञानसत्ताका समवाय सम्बन्ध है, गुरु रक्त, मांस अथवा स्थूल शरीरका नाम नहीं है, परन्तु गुरुज्ञानाधिकरणका नाम है। जब ज्ञानाधिकरणका नाम ही गुरु है तो अपरिच्छिन्न ज्ञान ही जिनका स्वरूप है वे ही आदि गुरु और सबके गुरु होंगे। अपरिच्छिन्न और संशयदोषरहित नित्यज्ञानकी स्थिति ईश्वरमें ही है और दूसरे में नहीं हो सकती है। क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ ही परिणामिनी प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे परिच्छिन्न ज्ञानयुक्त हैं और ईश्वर अविद्यादि पञ्च क्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारसे रहित होनेके कारण प्रकृतिराज्यसे बाहर विराजमान प्रकृतिके अन्तर्गत अवस्थात्रयके साक्षीमात्र और अपरिच्छिन्न ज्ञानसत्ता सम्पन्न हैं। अतः ईश्वर ही सबके गुरु और आदि गुरु हैं इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। इसी कारण महर्षि पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है—

"तत्र निरतिशयं सार्वज्ञबीजम्"
"स एव पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"

ईश्वरमें असीम सर्वज्ञताका बीज है और कालसे अपरिच्छिन्न होनेके कारण ईश्वर समस्त ऋषि, महर्षि तथा ब्रह्मादिके भी गुरु हैं, क्योंकि ईश्वरसे अतिरिक्त वे सभी कालके द्वारा परिच्छिन्न हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी लिखा है—

पितासि लोकस्य चराचरस्य।
त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्॥

परमात्मा चराचर विश्वके पिता, पूज्य, गुरु और सकल गुरुओंके भी गुरु हैं। महाभारतके अश्वमेधपर्वान्तर्गत अनुगीतामें लिखा है—

अहं गुरुर्महाबाहो मनः शिष्यश्च विद्धि मे।
त्वत्प्रीत्या गुह्यमेतच्च कथितं ते धनञ्जय॥

क्षेत्रज्ञ (परमात्मा) ही गुरु हूँ और मन मेरे द्वारा पहचानने योग्य होनेसे मेरा शिष्य है, यही गुरु-शिष्यका गूढ़ रहस्य है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

आचार्यं मां विजानीयान्नावमन्येत कर्हिचित्।
न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः॥

संसारमें गुरु मेरा ही स्वरूप है ऐसा जानकर कभी अवमानना नहीं करनी चाहिये, मनुष्य भावनासे उनके प्रति असूया दर्शन नहीं करना चाहिए क्योंकि गुरु सर्वदेवमय हैं। रुद्रयामलमें लिखा है—

अहं गुरुरहं देवो मन्त्रार्थोऽहं न संशयः।
भेदका नरकं यान्ति नानाशास्त्रार्थवर्जिताः॥

मैं (परमात्मा) ही गुरु और देवता हूँ और मैं ही मन्त्रार्थ हूँ, परमात्मा, गुरु और मन्त्रमें भेदबुद्धि रखनेवाला शास्त्रमर्मज्ञानहीन मनुष्य नरकमें जाता है।

गुरुगीतामें—यादृगस्तीह सम्बन्धो ब्रह्माण्डस्येश्वरेण वै।
तथा क्रियाख्ययोगस्य सम्बन्धो गुरुणा सह॥
दीक्षाविधावीश्वरो वै कारणस्थलमुच्यते।
गुरुः कार्यस्थलं चातो गुरुर्ब्रह्म प्रगीयते॥

ईश्वरके साथ ब्रह्माण्डका जैसा सम्बन्ध है क्रियायोगके साथ गुरुका ऐसा ही सम्बन्ध है। दीक्षा-विधानमें ईश्वर कारणस्थल और गुरु और कार्यस्थल होनेसे गुरु ब्रह्मरूप हैं।

ऐसे अनेक प्रमाण शास्त्रमें पाये जाते हैं जिससे सिद्ध होता है कि ज्ञानस्वरूप परमात्मा ही गुरुपद-वाच्य है। परमात्माकी यह ज्ञानशक्ति अधिकारानुसार समस्त संसारमें परिव्याप्त होनेसे संसारमें लघुशक्ति और गुरुशक्तिका तारतम्य होना स्वतःसिद्ध है। अतः जिस केन्द्रके द्वारा परमात्माकी ज्ञानमयी गुरुशक्ति प्रकटित होकर लघुशक्तियुक्त शिष्यको आकर्षण करके उसका उद्धार करती है वही केन्द्र मानवजगत्में गुरुनामसे अभिहित होता है। और जब श्रीभगवान्की ही शक्ति गुरु द्वारा प्रकट होकर शिष्यका उद्धार करती है तो गुरु और भगवान्में कोई भेद नहीं है। यथा श्रीमद्भागवत्में लिखा है—

एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्॥

प्रसङ्गोपात्त आचार्य गुरु शब्दके प्रभेद बताये जाते हैं। शास्त्रमें लिखा है—

आचार्यगुरुशब्दौ द्वौ सदा पर्यायवाचकौ।
कश्चिदर्थगतो भेदो भवत्येव तयोः क्वचित्॥
औपपत्तिकमंशं तु धर्मशास्त्रस्य पण्डितः।
व्याचष्टे धर्ममिच्छूनां स आचार्यः प्रकीर्त्तितः॥

सर्वदर्शी तु यः साधुर्मुमुक्षूणां हिताय वै।
व्याख्याय धर्मशास्त्रांशं क्रियासिद्धिप्रबोधकम् ॥
उपासनाविधैः सम्यगीश्वरस्य परात्मनः।
भेदान् प्रशास्ति धर्मज्ञः स गुरुः समुदाहृतः ॥

आचार्य और गुरु ये दो शब्द पर्यायवाचक होनेपर भी कहीं कहीं कुछ अर्थगत भेद इनमें पाये जाते हैं। जो विद्वान् पुरुष जिज्ञासुओंको शास्त्रके औपपत्तिक अंश बताते हैं उनकी आचार्य संज्ञा होती है। और जो सर्वदेशी ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु साधकके कल्याणार्थ शास्त्रके क्रियासिद्धांशके रहस्यको बताते हैं और अधिकारभेदानुसार परमात्माकी उपासनाके भेद-समूहका प्रकाश करते हैं उनकी गुरु संज्ञा होती है। मनुसंहितामें लिखा है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥

जो ब्राह्मण उपनयन संस्कार करके शिष्यको यज्ञविद्या और उपनिषद्के साथ वेदका अध्ययन कराते हैं उनको आचार्य कहा जाता है। श्रुतिमें—

"आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः"

आचार्यको यथेष्ट धन दक्षिणारूपसे देकर समावर्त्तन संस्कारानन्तर गार्हस्थ्य धर्मावलम्बन करके प्रजोत्पादन करें। ऐसा जो लिखा है इसमें आचार्य शब्द मनुसंहितोक्त आचार्यके लक्षणानुसार ही बताया गया है। परन्तु कहीं-कहीं आचार्य शब्दका व्यवहार गुरु शब्दके तात्पर्य को लेकर भी होता है। यथा श्रुतिः—

"आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"
"आचार्यं मां विजानीयात्"

इनमें आचार्य शब्द गुरु अर्थबोधक है। आपस्तम्ब महर्षिने लिखा है—

"यस्माद् धर्ममाचिनोति स आचार्यः"

जिनसे धर्म संग्रह किया जाता है वे आचार्य हैं। इस अर्थमें धर्मका औपपत्तिक और क्रियासिद्धांश दोनों ही लिया जा सकता है। यथा याज्ञवल्क्यसंहितामें—

"अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम्"

योगबलसे परमात्माका साक्षात्कार करना ही परम धर्म है। इसमें धर्मका क्रियासिद्धांश बताया गया है। और—

"त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति"

इत्यादि श्रुतिमें धर्मका औपपत्तिक भाव बताया है। इस प्रकारसे आचार्य और गुरु शब्द पर्यायवाचक रूपसे भी कहीं कहीं बताया गया है। यही आचार्य और गुरु शब्दद्वयके व्यवहारभेद तथा व्यवहारऐक्यका रहस्य है।

शास्त्रमें श्रीगुरुदेवकी महिमाके विषयमें अनन्त प्रमाण मिलते हैं। मनुसंहितामें लिखा है—

इमं लोकं मातृभक्त्या पितृभक्त्या तु मध्यमम्।
गुरुशुश्रूषया त्वेव ब्रह्मलोकं समश्नुते॥
सर्वे तस्याहृता धर्मा यस्यैते त्रय आहृताः।
अनाहृताश्च यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥
आसमाप्तेः शरीरस्य यस्तु शुश्रूषते गुरुम्।
स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्॥

मातृभक्ति द्वारा भूलोक, पितृभक्ति द्वारा अन्तरिक्ष लोक और गुरुभक्तिके द्वारा ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। जो इन तीनोंका आदर करते हैं उनका सभी धर्मोंके प्रति आदर करना होता है और जो इनका अनादर करते हैं उसके सभी धर्म कर्म निष्फल हो जाते हैं। जो भक्त यावज्जीवन गुरुसेवा कर सकते हैं उनको अनायास ही नित्य ब्रह्मधाम प्राप्त हो जाता है। महाभारतमें लिखा है—

दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायात् पिता दश।
पितॄन् दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि॥
गुरुत्वेनातिभवति नास्ति मातृसमो गुरुः।
गुरुर्गरीयान् पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः॥
उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः।
शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत॥
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साजरामरा।
अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ॥
येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद् ब्रह्म पूजितम्॥
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात् पूज्यतमो गुरुः।
ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह॥
पूज्यमानेषु गुरुषु यस्मात् पूज्यतमो गुरुः।

आचार्यसे दशगुण उपाध्याय और उपाध्यायसे दशगुण पिता पूजनीय है। माता पितासे दशगुण अथवा पृथ्वीमें सबसे अधिक पूजनीय है। क्योंकि माताके समान पूजनीय संसारमें कोई नहीं है। परन्तु पिता मातासे भी अधिक पूजनीय श्रीगुरुदेव हैं। क्योंकि पिता माताके द्वारा केवल नाशवान् स्थूलशरीर

उत्पन्न होता है परन्तु श्रीगुरुके द्वारा अजर और अमर आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है। पिताके प्रीतिकर कार्यके द्वारा प्रजापति सन्तुष्ट होते हैं, माताके प्रीतिकर कार्य द्वारा पृथिवीकी सम्वर्द्धना होती है, परन्तु गुरुके प्रीतिसम्पादन द्वारा ब्रह्मकी पूजा होती है। इसलिए माता पिता आदि सभीसे गुरु पूज्य हैं। अर्थात् श्रीगुरुदेव संसारमें पूज्यतम हैं। श्रीगुरुदेवकी पूजासे ऋषि, देवता और पितर सभी परितृप्त होते हैं। इसलिए गुरु ही पूज्यतम हैं। रुद्रयामलमें लिखा है—

गुरुमूलं जगत्सर्वं गुरुमूलं परन्तपः।
गुरोः प्रसादमात्रेण मोक्षमाप्नोति सद्वशी॥
गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः।
गुरुपूजां विना नाथ! कोटिपुण्यं वृथा भवेत्॥

गुरु ही समस्त जगत्के मूल और श्रेष्ठ तपके भी मूल हैं, जितेन्द्रिय साधक गुरुके प्रसाद मात्रसे ही मोक्ष लाभ कर सकते हैं। भक्तिशास्त्रमें गुरु-भक्तिकी महिमा सर्वोपरि है। गुरुपूजाके विना कोटि पुण्य भी वृथा होता है। गुरुगीतामें लिखा है—

संसाराऽपारपाथोधिः पारं गन्तुं महेश्वरि।
श्रीगुरोश्चरणाऽम्भोजनौकैवैकाऽवलम्बनम्॥
यो गुरुः स शिवः साक्षाद्यः शिवः स गुरुर्मतः।
गुरौ मयि न भेदोऽस्ति भेदस्तत्र निरर्थकः॥
गुरुर्ज्ञानप्रदो नित्यं परमानन्दसागरे।
उन्मज्जयति जीवान् सः तांस्तथैव निमज्जयन्॥
गुरुस्त्रितापतप्तानां जीवानां रक्षिता क्षितौ।
सच्चिदानन्दरूपं हि गुरुर्ब्रह्म न संशयः।
जन्महेतू हि पितरौ पूजनीयौ प्रयत्नतः।
गुरुर्विशेषतः पूज्यो धर्माऽधर्मप्रदर्शकः॥
गुरुः पिता गुरुर्माता गुरुर्देवो गुरुर्गतिः।
शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन॥

अपार संसार सागरसे पार होनेके लिए श्रीगुरुचरणकमल ही एकमात्र तरणीरूप आश्रय हैं। गुरु और ब्रह्ममें कोई भी भेद नहीं है, इसमें भेदकल्पना निरर्थक है। गुरु शिष्यको ज्ञान प्रदान करके सच्चिदानन्द समुद्रमें उन्मज्जन निमज्जन कराते हैं। संसारमें त्रितापसन्तप्त जीवोंके लिए रक्षाकर्त्ता गुरुदेव ही हैं। गुरु सच्चिदानन्द ब्रह्मरूप हैं, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। पिता माता जन्म

देनेवाले होनेके कारण पूज्य हैं। परन्तु धर्म और अधर्मके प्रदर्शक होनेसे गुरु विशेषरूपसे पूज्य हैं। गुरु ही पिता, गुरु ही माता, गुरु ही देव और गुरु ही परमगति है। भगवान्‌के रुष्ट होनेसे गुरु रक्षा कर सकते हैं, परन्तु गुरुके रुष्ट होनेसे कोई भी रक्षा नहीं कर सकता है। तन्त्रशास्त्रमें गुरु-महिमाके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। यथा—

गुरुरेकः शिवः साक्षात् गुरुः सर्वार्थसाधकः।
गुरुरेव परं तत्त्वं सर्वं गुरुमयं जगत्॥
गुरुरित्यक्षरं यस्य जिह्वाग्रे देवि वर्त्तते।
तस्य किं विद्यते मोहः पाठैर्वेदस्य किं वृथा॥
ध्यानमूलं गुरोर्मूर्त्तिः पूजामूलं गुरोः पदम्।
मन्त्रमूलं गुरोर्वाक्यं सिद्धिमूलं गुरोः कृपा॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुस्तीर्थं गुरुर्यज्ञो गुरुर्दानं गुरुस्तपः।
गुरुरग्निर्गुरुः सूर्यः सर्वं गुरुमयं जगत्॥
किं दानेन किं तपसा किमन्यत्तीर्थसेवया।
श्रीगुरोरर्चितौ येन पादौ तेनार्चितं जगत्॥
ब्रह्माण्डभारमध्ये तु यानि तीर्थानि सन्ति वै।
गुरोः पादतले तानि निवसन्ति हि सन्ततम्॥
गुरोः पादोदकं यस्तु नित्यं पिबति मानुषः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामधिपो जायते च सः॥
गुरोरन्नं महादेवि यस्तु भक्षणमाचरेत्।
कोटिजन्मार्जितं पापं तत्क्षणात्तस्य नश्यति॥

गुरु ही अद्वितीय ब्रह्म, सर्वार्थसाधक, श्रेष्ठ तत्त्व हैं। समस्त जगत् गुरुमय ही है। 'गुरु' यह शब्द जिसके जिह्वाग्रमें रहता है उसके लिये वेदपाठकी भी कोई आवश्यकता नहीं होती है। गुरुमूर्ति ध्यानका मूल, गुरुचरण पूजाका मूल, गुरुवाक्य मन्त्रोंका मूल और गुरुकृपा सिद्धिका मूल है। गुरु ही ब्रह्मा, गुरु ही विष्णु और गुरु ही परमेश्वर हैं। गुरु ही अग्नि और सूर्य हैं, गुरु ही समस्त तीर्थ, यज्ञ, दान, तपोरूप हैं और समस्त जगत् गुरुमय ही है। दान, तप और तीर्थ-सेवनका कुछ भी प्रयोजन नहीं है; क्योंकि श्रीगुरुचरणकमलोंकी पूजाके द्वारा सबकी सिद्धि हो जाती है। समस्त ब्रह्मांडके बीचमें जितने तीर्थ हैं वे सभी गुरुके पादतलमें विराजमान रहते हैं। जो शिष्य नित्य गुरुपादोदक पान करता है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

उसके अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। गुरुदेवका प्रसाद भक्षण करनेसे कोटिजन्मका पाप कट जाता है।

शास्त्रमें गुरुभक्ति और गुरुसेवाका असीम फल वर्णन किया गया है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥

जिस प्रकार अस्त्रसे खोदने पर जल प्राप्त होता है उसी प्रकार गुरुगत विद्या गुरुसेवाके द्वारा ही प्राप्त होती है। गीताजीमें भी श्रीभगवान्ने—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया"
"श्रद्धया लभते ज्ञानं"

इस प्रकार कहकर गुरुसेवा वा गुरुभक्तिकी महिमा प्रकट की है। श्रीमद्-भागवतमें लिखा है—

असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥
आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दम्भं महदुपासया।
योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया॥
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया॥
रजस्तमश्च सत्वेन सत्त्वश्चोपशमेन च।
एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥

कामादि विषयक संकल्पत्याग द्वारा काम जय करें, कामत्याग द्वारा क्रोधको जय करें, अर्थमें अनर्थका मूल देखकर लोभ जय करें, तत्वविचार द्वारा भयको जय करें, आत्मानात्मविचार द्वारा शोक और मोहको जय करें, महत्पुरुषोंकी उपासनाके द्वारा दम्भको जय करें, योग सम्बन्धीय बाधाओंको मौन धारण द्वारा जय करें, कामादिकी अनिच्छासे हिंसाको जय करें, अन्य जीवसे उत्पन्न होनेवाले दुःखको भूतोंके प्रति कृपाके द्वारा जय करें, दैवोपसर्गजन्य वृथा मनःपीड़ा आदिको समाधिके द्वारा जय करें, देहज दुःखको योगबलसे जय करें, निद्राको सत्त्वगुणकी सेवाके द्वारा जय करें, रज और तमोगुणको सत्त्वगुणके द्वारा जय करें और सत्त्व-गुणको उपशमके द्वारा जय करें। परन्तु यदि साधकमें गुरुभक्ति हो, तो केवल गुरुभक्तिके द्वारा ही काम, क्रोध आदि सभी वृत्तियाँ और दुःख आदि सभी शीघ्र जय किये जा सकते हैं। इस प्रकारसे गुरुभक्तिकी सर्वजयकरी अपूर्व महिमा आर्यशास्त्रमें बताई गई है। रुद्रयामलमें लिखा है—

सर्वस्वमपि यो दद्याद् गुरुभक्तिविवर्जितः।
नरकान्तमवाप्नोति भक्तिरेव हि कारणम्॥
गुरुभक्त्या च शक्रत्वमभक्त्या शूकरो भवेत्।
गुरुभक्तेः परं नास्ति भक्तिशास्त्रेषु सर्वतः।
गुरुपूजां विना नाथ! कोटिपुण्यं वृथा भवेत्॥

गुरुभक्तिहीन होकर सर्वस्व देनेपर भी उससे नरक ही होता है, क्योंकि गुरु-भक्ति द्वारा ही दानफल प्राप्त होता है। गुरुभक्ति द्वारा इन्द्रत्व प्राप्त होता है और अभक्ति द्वारा शूकर योनि प्राप्त होती है। भक्तिशास्त्रमें गुरुभक्तिसे उत्तम कुछ नहीं बताया गया है। गुरुपूजाके विना कोटि पुण्य भी वृथा होता है। गुरुगीतामें लिखा है—

न मुक्ता देवगन्धर्वाः पितरो यक्षकिन्नराः।
ऋषयः सर्वसिद्धाश्च गुरुसेवापराङ्मुखाः॥
श्रुतिस्मृतिमविज्ञाय केवलं गुरुसेवया।
ते वै सन्यासिनः प्रोक्ता इतरे वेषधारिणः॥
गुरोः कृपाप्रसादेन आत्मारामो हि लभ्यते।
अनेन गुरुमार्गेण आत्मज्ञानं प्रवर्त्तते॥
सर्वपापविशुद्धात्मा श्रीगुरोः पदसेवनात्।
आजन्मकोट्यां देवेशि जपव्रततपक्रियाः॥
एतत् सर्वं समं देवि गुरुसंतोषमात्रतः।
ज्ञानं विना मुक्तिपदं लभते गुरुभक्तितः॥
गुरो परतरं नास्ति ध्येयोऽसौ गुरुमार्गिणा।

गुरुसेवाविमुख होनेसे देव, गन्धर्व, पितर, यक्ष, किन्नर, ऋषि और सिद्धगण किसीको भी मुक्तिलाभ नहीं हो सकता। जो वेद स्मृति आदि शास्त्र न पढ़कर केवल गुरुसेवा द्वारा काल व्यतीत करते हैं वे भी संन्यासी कहाते हैं; परन्तु जो लोग संन्यासी होकर भी गुरुसेवा नहीं करते वे केवल वेषधारी मात्र है। केवल गुरुकृपाके बलसे ही आत्माराम पद लाभ होता है। गुरु पथ अवलम्बन द्वारा ही आत्मज्ञानका उदय होता है। गुरुचरण सेवा द्वारा जीव सकल पापसे मुक्त और पवित्र हो जाता है और उसको सकल तीर्थों में स्नानका फल लाभ होता है। कोटि-कोटि जन्ममें जो जप, तप, तपस्या और सत्क्रियाका अनुष्ठान किया जाता है एकमात्र गुरुदेवकी तुष्टि होनेसे उन सभोंका फल प्राप्त हो जाता है। गुरुके प्रति भक्ति करनेसे ज्ञानके विना भी मुक्ति-पद लाभ हो सकता है, गुरुदेवसे परे और कुछ भी नहीं है। इसलिये गुरुपथावलम्बी साधकको ऐसे गुरुदेवका ध्यान करना चाहिये। इस प्रकारसे सकल शास्त्रोंमें गुरु-सेवा और गुरुभक्तिका अपूर्व फल वर्णन किया है।

अब एतादृश परमेश्वररूप गुरुके प्रति शिष्यका बर्त्ताव और कर्त्तव्यपालन कैसा होना चाहिए सो नीचे बताया जाता है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

यस्य साक्षात् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्यासद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥

साक्षात् भगवान्के रूप और ज्ञानलोक प्रदानकारी गुरुके प्रति जिस शिष्यकी साधारण मनुष्यबुद्धि होती है उसकी सभी विद्या हस्तिस्नानकी तरह विफल होती है। दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है—

"विग्रहगुरुप्रसादेषु लौकिकभौतिकभोगभावादवपतनम्"

प्रतिमा, गुरु और प्रसादमें लौकिक, भौतिक और भोग बुद्धि करनेसे पतन होता है। इस सूत्रमें गुरुके प्रति भौतिक अर्थात् मनुष्यबुद्धि होना पतनका कारण कहा गया है। गुरुगीतामें भी कहा है—

गुरौ मानुषबुद्धिन्तु मन्त्रे चाक्षरभावनाम्।
प्रतिमासु शिलाबुद्धिं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्॥

गुरुमें मनुष्यबुद्धि, मन्त्रमें अक्षरबुद्धि और प्रतिमामें शिलाबुद्धि करनेसे नरक होता है। गुरुतन्त्रमें लिखा है—

गुरौ मनुष्यताबुद्धिः शिष्याणां यदि जायते।
न हि तस्य भवेत् सिद्धिः कल्पकोटिशतैरपि॥

यदि गुरुमें शिष्य की मनुष्यबुद्धि हो तो शतकोटि कल्पमें भी शिष्यको सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः गुरुके प्रति कर्त्तव्यनिष्ठताका आचरण करनेके पहले शिष्यके चित्तमें प्रथमतः गुरुमें भगवद्बुद्धि होनी चाहिये। अब आचरणके विषयमें मन्वादि शास्त्रप्रमाण बताया जाता है। यथा—

दीर्घदण्डवदानम्य सुमना गुरुसन्निधौ।
आत्मदारादिकं सर्वं गुरवे च निवेदयेत्॥
आसनं शयनं वस्त्रं वाहनं भूषणादिकम्।
साधकेन प्रदातव्यं गुरोः सन्तोषकारणात्॥
गुरुपादोदकं पेयं गुरोरुच्छिष्टभोजनम्।
गुरुमूर्त्तेः सदा ध्यानं गुरुस्तोत्रं सदा जपेत्॥
उदूर्ध्वं तिष्ठेद् गुरोरग्रे लब्धाऽनुज्ञो वसेत् पृथक्।
विनीतवासा विनयी प्रव्हस्तिष्ठेद्गुरौ परम्॥
गुरौ तिष्ठति तिष्ठेच्च उपितेऽनुज्ञया वसेत्।
सेवेताऽङ्घ्री शयानस्य गच्छन्तश्चाऽप्यनुव्रजेत्॥

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥
नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात् साध्वाचारः सुसंयतः ।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताऽभिमुखं गुरोः ॥
हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात् सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
उत्तिष्ठेत् प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत् ॥
नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥
चापल्यं प्रमदागाथामहंकारं च वर्जयेत् ।
नाऽपृष्टो वचनं किंचिद् ब्रूयान्नापि निषेधयेत् ॥
गुरुमूर्त्तिं स्मरेन्नित्यं गुरुनाम सदा जपेत् ।
गरोराज्ञां प्रकुर्वीत गुरोरन्यं न भावयेत् ॥
गुरुरूपे स्थितं ब्रह्म प्राप्यते तत्प्रसादतः ।
जात्याश्रमयशोविद्यावित्तगर्वं परित्यजन् ॥
गुरोराज्ञां प्रकुर्वीत गुरोरन्यं न भावयेत् ।
गुरुवक्त्रे स्थिता विद्या गुरुभक्त्यानुलभ्यते ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरोराराधनं कुरु ।
विद्यांगमासनं मन्त्रं मुद्रां तन्त्रादिकं तथा ॥
सर्वं गुरुमुखाल्लब्धा सफलो नान्यथा भवेत् ।
नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ॥
न च हाऽस्यानुकुर्वीत गतिभाषितचेष्टितम् ।
गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते ॥
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ।
परिवादात्खरो भवेत् श्वा वै भवति निन्दकः ॥
परिभोक्ता भवेत्कृमिः कीटो भवति मत्सरी ।
गुरोः शय्यासनं यानं पादुकोपानत्पीठकम् ।
स्नानोदकं तथा छायां कदापि न विलंघयेत् ॥
गुरोरग्रे पृथक् पूजामौद्धत्यं च विवर्जयेत् ।
दीक्षां व्याख्यां प्रभुत्वं च गुरोरग्रे परित्यजेत् ॥

गुरुपूजां विना देवि इष्टपूजां करोति यः ।
मन्त्रस्य तस्य तेजांसि हरते भैरवः स्वयम् ॥
ऋणदानं तथाऽऽदानं वस्तूनां क्रयविक्रयम् ॥
न कुर्याद् गुरुणा सार्द्धं शिष्यो भूत्वा कदाचन ॥
कम्बले कोमले वापि प्रासादे संस्थिते सदा ।
दीर्घकाष्ठे तथा पृष्ठे गुरोश्चैकासनं त्यजेत् ॥
न लङ्घयेद् गुरोराज्ञामुत्तरं न वदेत्तथा ।
दिवारात्रौ गुरोराज्ञां दासवत् परिपालयेत् ॥
न शृणोति गुरोर्वाक्यं शृणुयाद्वा पराङ्मुखः ।
अहितं वा हितं वापि रौरवं नरकं व्रजेत् ॥
आज्ञाभङ्गं गुरोर्देव यः करोति विबुद्धिमान् ।
प्रयाति नरकं घोरं शूकरत्वमवाप्नुयात् ।
आज्ञाभङ्गं तथा निन्दां गुरोरप्रियवर्त्तनम् ॥
गुरुद्रोहं च यः कुर्याद् तत्संसर्गं न कारयेत् ।
गुरुं दुष्कृत्य रिपुवन्निर्हरेत् परिवादतः ॥
अरण्ये निर्जने देशे स भवेद्ब्रह्मराक्षसः ।
पादुका वसनं वस्त्रं शयनं भूषणानि च ॥
दृष्ट्वा गुरोर्नमस्कृत्य आत्मभोगं न कारयेत् ।
एकग्रामे स्थितः शिष्यस्त्रिसन्ध्यं प्रणमेद् गुरुम् ॥
एकदेशे स्थितः शिष्यो गत्वा तत्सन्निधिं सदा ।
सप्तयोजनविस्तीर्णं मासैकं प्रणमेद् गुरुम् ॥
श्रीगुरोश्चरणाम्भोजं यस्यां दिशि विराजते ।
तस्यां दिशि नमस्कुर्यात् कायेन मनसा धिया ॥
गुरुं न मर्त्यं बुध्येत यदि बुध्येत तस्य तु ।
न कदाचिद् भवेत्सिद्धिर्न मन्त्रैर्देवपूजनैः ॥
गुरौ सन्निहिते यस्तु पूजयेदन्यदेवताम् ।
प्रयाति नरकं घोरं सा पूजा विफला भवेत् ॥
सर्वकर्मनियन्तारं गुरुमात्मानमाश्रयेत् ।
गुरुश्च सर्वभावानां भावमेकं न संशयः ॥

शिष्यको गुरुके सम्मुख साष्टाङ्ग प्रणाम करना उचित है और गुरुके सन्तोषके लिये अपना जो कुछ है सर्वस्व गुरुको समर्पण कर देना उचित है। गुरुका चरणामृतपान, गुरूच्छिष्ट भोजन, गुरुमूर्त्तिध्यान और गुरुस्तव पाठ करना सदा ही उचित है। शिष्य गुरुके सामने खड़े रहें और पश्चात् गुरुकी आज्ञा लेकर पृथक् आसनपर बैठें। उनके सम्मुख अपना शरीर वस्त्रसे आच्छादित करके विनयी और भयमुक्त हो अवस्थान करें। गुरुके खड़े होनेपर शिष्य उसी क्षण खड़े होवें, उनके बैठनेपर आज्ञा लेकर बैठें, उनके शयन करने पर चरण-सेवा करें और उनके गमन करनेपर पश्चात् पश्चात् गमन करें। शरीर, वचन, बुद्धि, चक्षु, आदि इन्द्रियगण और मनको संयमकर श्रीगुरुदेवके मुखारविन्दकी ओर देखते हुए हाथ जोड़ खड़े रहें। सदाचारसम्पन्न होकर शिष्यको उचित है कि शरीर इन्द्रियादिका संयम करता हुआ हाथ जोड़कर सदा गुरुके सम्मुख खड़ा रहे और जब वे बैठनेको कहें तो बैठे। गुरुके सम्मुख शिष्यको साधारण अन्न भोजन करना और साधारण वस्त्र पहनना चाहिये। गुरुसे पहले शय्या त्याग करना और पीछे शयन करना चाहिये। गुरुके समीप नीची शय्यापर शयन करना, नीचे आसनपर उपवेशन करना और उनके सम्मुख यथेष्टासन न होना शिष्योंका कर्त्तव्य है। शिष्यको गुरुके सम्मुख चपलता, नारी सम्बन्धीय कथन और अहंकार त्याग करना उचित है, उनके बिना पूछे शिष्यको कोई बात करनी उचित नहीं है और गुरुके किसी कार्यको निरोध करना भी उचित नहीं है। सदा गुरुमूर्त्तिध्यान, गुरुनाम जप और गुरु-आज्ञा पालन शिष्यको करना उचित है और गुरुके सिवाय अन्य किसीकी चिन्ता करना अनुचित है। गुरुमुख स्थित परब्रह्मतत्त्व गुरुप्रसादसे ही लाभ हुआ करता है, इसलिये अपने आश्रम, विद्या, जाति और कीर्त्तिका अभिमान त्याग करके गुरुशरणगत होना उचित है। केवल गुरुभक्ति द्वारा ही गुरु-मुखस्थिता परमविद्या प्राप्त होती है। अतः पूर्ण यत्नके साथ गुरुदेवकी आराधना करना उचित है। विद्याका अङ्ग, आसन, मुद्रा, मन्त्र आदि गुरुमुख से प्राप्त होकर ही सफल होता है, अन्यथा निष्फल होता है। गुरुके पीछे गुरुका अधूरा नाम उच्चारण करना और गुरुदेवके चलने, कहने और कार्य करने आदिका अनुकरण दिखाना उचित नहीं है। जहाँ गुरुका परिवाद अर्थात् साक्षात्में दोषवर्णन, निन्दा अर्थात् असाक्षात्में दोष-वर्णन आदि अकीर्त्ति कथन हो, वहाँ शिष्यको उचित है कि अपने हाथ द्वारा कानों को बन्द कर ले अथवा वहाँसे उठकर स्थानान्तरमें चला जाय। परिवादके द्वारा खरयोनि प्राप्ति, निन्दा के द्वारा कुक्कुरयोनि प्राप्ति, अन्यान्य रूपसे गुरुधन-भोग द्वारा कृमि और द्वेष करने से कीट योनि प्राप्ति, शिष्यको होती है। गुरुशय्या, आसन, पान, काष्ठपादुका, चर्मपादुका, पीठी, स्नानीय जल और छायाको उल्लंघन करना शिष्यका कर्त्तव्य नहीं है। गुरुके सम्मुख उनके सिवाय और किसीकी पूजा, धृष्टता प्रकाश, उपदेश देना, शास्त्र-व्याख्या करना और प्रभुत्व प्रकाश करना शिष्यको उचित नहीं है। जो शिष्य गुरुपूजा न करके इष्टदेव की पूजा करता है; भगवान् भैरव उसके समस्त मन्त्रतेजको हरण करते हैं। शिष्य होकर गुरुके साथ

ऋणदान, ऋणग्रहण और द्रव्य सम्बन्धी क्रय-विक्रय आदि कार्य करना उचित नहीं है। कम्बल, प्रसाद, नौ आदि यान अथवा अश्वादि यानारोहणमें गुरुके साथ एकान्तमें शिष्य कभी न बैठे। गुरु-आज्ञाका उल्लंघन न करे। उनके साथ प्रत्युत्तर न करे, दिवानिशि दासकी तरह उनकी आज्ञा पालन करे। अहित हो या हित, यदि शिष्य गुरुवाक्य श्रवण न करे अथवा श्रवणकर पालन न करे तो उसको रौरव नरक होता है। गुरुकी आज्ञा भङ्ग करनेसे घोर नरक और शूकर-योनि प्राप्त होती है। जो मनुष्य गुरुकी आज्ञा भङ्ग करता है, उनकी निन्दा और अप्रिय आचरण करता है और उनसे द्रोह रखता है उसका सङ्ग त्याग करे। गुरुके प्रति दुर्व्यवहार करके जो शिष्य उनकी निन्दा और उनसे शत्रुता करता है वह निर्जन वन में ब्रह्मराक्षस होता है। गुरुकी पादुका, वस्त्र, शय्या, भूषण आदि देखकर नमस्कार करके रख देना चाहिये, उन्हें अपने भोगमें नहीं लाना चाहिये। एक ग्राममें रहनेसे त्रिसंध्यामें गुरुप्रणाम करना चाहिये। एक देशमें रहनेसे वहाँ पर जाकर शिष्यको सदाही गुरुप्रणाम करना चाहिये। सात योजन दूरपर रहनेसे महीनेमें एक दिन गुरुके समीप जाकर प्रणाम करना चाहिये। इससे अधिक दूरपर रहनेसे जिस दिशा में गुरुचरण विराजते हैं उसी दिशाको लक्ष्य करके शरीर, मन और बुद्धिके साथ प्रणाम करना शिष्यका कर्त्तव्य है। गुरुको कभी मनुष्य न समझना चाहिये; क्योंकि ऐसा समझनेसे मन्त्र या पूजाके द्वारा कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है। गुरुके निकट रहनेपर भी जो शिष्य अन्य देवताकी पूजा करता है, उसे घोर नरक होता है और इस प्रकार देवपूजा सर्वथा निष्फल होती है। अतः समस्त कर्मों के नियामक श्री भगवान् गुरुदेवकीही शरण लेनी चाहिये, गुरुही सकल भावोंमें अद्वितीय भाव हैं। यही सब परमकरुणामय, संसार-सिन्धुतरणीरूप श्री गुरुदेवके प्रति मुमुक्षु शिष्यका शास्त्रविहित कर्त्तव्य है। इस प्रकार कर्त्तव्य-समूहका अनुष्ठान नियमित रूपसे करनेपर सच्छिष्य शीघ्रही गुरुकृपाभाजन होकर अनायास संसार-समुद्रको पार कर सकते हैं इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

अब गुरु और शिष्यके लक्षण बताये जाते हैं। गुरुगीता और अन्यान्य अनेक शास्त्रोंमें सद्गुरु, असद्गुरु, सत् शिष्य और असत् शिष्यके लक्षण बताये गये हैं। नीचे उन शास्त्रोंमें से कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं।

सद्गुरु लक्षण यथा—

सर्वशास्त्रपरो दक्षः सर्वशास्त्रार्थवित्सदा।
सुवचाः सुन्दरः स्वङ्गः कुलीनः शुभदर्शनः॥
जितेन्द्रियः सत्यवादी ब्राह्मणः शान्तमानसः।
पितृमातृहिते युक्तः सर्वकर्मपरायणः॥
आश्रमी देशवासी च गुरुरेवं विधीयते।
पञ्चतत्त्वविभेदज्ञः पञ्चभेदान् विशेपतः॥
सगुणोपासनां यस्तु सम्यग्जानाति कोविदः।

चतुष्टयेन भेदेन ब्रह्मणः समुपासनाम् ॥
गभीरार्थां विजानीते बुधो निर्मलमानसः ।
सर्वकार्येषु निपुणो जीवन्मुक्तस्त्रितापहृत् ॥
करोति जीवकल्याणं गुरुः श्रेष्ठः स कथ्यते ।

सर्व शास्त्रोंमें पारङ्गत, चतुर, सम्पूर्ण शास्त्रोंके तत्त्ववेत्ता और मधुर वाक्य भाषण करनेवाले हों, सब अङ्ग जिनके पूर्ण और सुन्दर हों, कुलीन अर्थात् सत्कुलोत्पन्न हों, ब्राह्मण वर्ण हों, शान्त मानस अर्थात् जिनका मन कभी चञ्चल नहीं होता हो, माता-पिताके समान हित करनेवाले हों, सम्पूर्ण कर्मोंमें अनुष्ठानशील हों और गृहस्थ, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी तथा संन्यासी इन आश्रमोंमेंसे किसी आश्रमके हों, एवं भारतवर्षके निवासी हों। इस प्रकारके सर्वगुणसम्पन्न महात्मा गुरु करने योग्य कहे गये हैं। पञ्च-तत्त्वके अनुसार जो महापुरुष विष्णूपासना, सूर्योपासना, शक्त्युपासना, गणेशोपासना और शिवोपासनारूप पञ्च सगुण उपासनाओंके पूर्ण रहस्योंको समझते हों और जो योगिराज मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग, राजयोग इन चारोंके अनुसार चतुर्विध निर्गुणो-पासनाको जानते हों ऐसे ज्ञानी, निर्मल मानस, सर्वकार्यमें निपुण, त्रितापरहित, जीवोंका कल्याण करनेवाले जीवन्मुक्त महात्मा श्रेष्ठ गुरु कहलाते हैं।

सत् शिष्य लक्षण यथा—

अलुब्धः स्थिरगात्रश्च आज्ञाकारी जितेन्द्रियः ।
आस्तिको दृढभक्तश्च गुरौ मन्त्रे च दैवते ॥
एवंविधो भवेच्छिष्य इतरो दुःखकृद्गुरोः ।

लोभ रहित, स्थिरगात्र अर्थात् जिसका अङ्ग चञ्चल न हो, गुरुका आज्ञाकारी, जितेन्द्रिय, आस्तिक और गुरुमन्त्र एवं देवतामें जिसकी दृढ़ भक्ति हो, ऐसा शिष्य दीक्षाका अधिकारी है और इन गुणोंसे विरुद्ध गुण रखनेवाला शिष्य गुरुको दुःख देनेवाला जानना चाहिए।

निन्द्यगुरु लक्षण यथा—

श्वित्री चैव गलत्कुष्ठी नेत्ररोगी च वामनः ।
कुनखः श्यावदन्तश्च स्त्रीजितो ह्यधिकांगकः ॥
हीनांगः कपटी रोगी बह्वाशी बहुजल्पकः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स गुरुः शिष्यसम्मतः ॥

श्वित्ररोगी, गलित कोढ़वाला, नेत्ररोगी, वामन, जिनके नखोंमें रोग हो, जिनके दाँत कृष्ण वर्ण हों, जो स्त्रीके वशीभूत हो, जिसका कोई अङ्ग अधिक हो, जो अङ्गहीन, कपटी एवं रोगी हो, जो बहुत भोजन करनेवाला और अत्यन्त बकवाद करने वाला हो, इन दोषों से जो रहित हों ऐसे गुरु शिष्यके लिये उचित हैं।

उपरोक्त लक्षणयुक्त सद्गुरु प्राप्त होनेसे क्षणकाल भी विलम्ब न करके शिष्यको गुरुदीक्षाग्रहण करना चाहिये। क्योंकि दीक्षाग्रहणके बिना साधकका समग्र साधन निष्फल हो जाता है। यथा शास्त्रमें—

दीक्षामूलो जपः सर्वो दीक्षामूलं परं तपः।
सद्गुरोराहिता दीक्षा सर्वकर्माणि साधयेत्॥
अदीक्षिता ये कुर्वन्ति जपपूजादिकाः क्रियाः।
न फलन्ति ध्रुवं तेषां शिलायामुप्तबीजवत्॥
इह दीक्षाविहीनस्य न सिद्धिर्न च सद्गतिः।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥

दीक्षा संपूर्ण जपोंका मूल है और तपश्चर्याका मूल भी दीक्षा ही है। सद्गुरुसे प्राप्त की हुई दीक्षा सम्पूर्ण कर्मोंको सिद्ध करनेवाली है। जो मनुष्य बिना दीक्षा ग्रहण किये जप-पूजा आदि क्रियाओंको करते हैं उनके सब कर्म पूर्व कथनानुसार पत्थर में बोये हुए बीजकी नाईं फलीभूत नहीं होते। दीक्षाहीन मनुष्यका किया हुआ कोई कर्मानुष्ठान सिद्धिको प्राप्त नहीं होता, और न उसकी सद्गति होती है। इसलिए सम्पूर्ण उपाय करके भी गुरुसे दीक्षाग्रहण करना उचित है।

अब नीचे दीक्षाका कुछ रहस्य अनेक शास्त्रोंसे उद्धृत करके बताया जाता है—

कुलाकुलं नामचक्रं राशिचक्रं तथैव च।
नक्षत्राकथहचक्रमकडमं चक्रमीरितम्॥
तत्र चेन्निर्गुणो मन्त्रो नान्यच्चक्रं विचिन्तयेत्।
तथा च धनिमन्त्रं न गृह्णीयाद्यप्रयोजनम्॥

दीक्षादान करनेसे पूर्व कुलाकुल चक्र अर्थात् देवतोद्धार चक्र, नाम चक्र, राशि चक्र, नक्षत्र चक्र, अकथह चक्र और अकडम चक्र अर्थात् मन्त्रोद्धार चक्र जो कहा गया है उसका विचार करना आवश्यक है। निर्गुणमन्त्रग्रहण अर्थात् मोक्षाभिलाषी साधक गणके अर्थ केवल उपरोक्त चक्रोंका उद्धार करना ही विधि है, उनके लिये ऋणी धनी चक्रके उद्धार करनेकी आवश्यकता नहीं है। ऋणी धनी चक्र आदिका विचार उन्हीं के लिये उपयुक्त है जो साधक प्रवृत्ति मार्ग सम्बन्धी वैषयिक कल्याणोंको चाहते हैं।

गुरुर्दीक्षापूर्वदिने स्वशिष्यमभिमन्त्रयेत्।
दर्भशय्यां परिष्कृत्य शिष्यं तत्र निवेशयेत्॥
स्वापमन्त्रेण मन्त्रज्ञः शिखां तस्य प्रबन्धयेत्।
तन्मत्रं स्वापसमये पठेद्वारत्रयं शिशुः॥

श्रीगुरोः पादुके ध्यात्वा तूपवासी जितेन्द्रियः।
स्वप्ने शुभाशुभं दृष्टं पृच्छेत्प्रातः शिशुं गुरुः॥

दीक्षाके पूर्व दिन मन्त्रज्ञ गुरु शिष्यको बुलाकर पवित्र कुशासनपर उसको बैठाकर निद्रामन्त्र द्वारा उसकी शिखा बाँधे और शिष्य निद्रा लेनेके पूर्व उपवास और जितेन्द्रिय रहकर तीन बार उस मन्त्रका जप करे एवं गुरुपादुकाका स्मरण करके शयन करे। मन्त्र यह है:—

नमो जय त्रिनेत्राय पिङ्गलाय महात्मने।
रामाय विश्वरूपाय स्वप्नाधिपतयेनमः॥
स्वप्ने कथय मे तथ्यं सर्वकार्येष्वशेषतः।
क्रियासिद्धिं विधास्यामि त्वत्प्रसादान्महेश्वर॥

इस मन्त्रके पाठपूर्वक शयन कर प्रातःसमय उठकर गुरुके निकट उपस्थित हो और गुरुदेव की आज्ञा पाकर अपने स्वप्न में देखे हुए पदार्थोंका निवेदन कर शुभाशुभ फलको ज्ञात करे।

कन्यां छत्रं रथं दीपं प्रासादं कमलं नदीम्।
कुञ्जरं वृषभं माल्यं समुद्रं फलितं द्रुमम्॥
पर्वतं तुरगं मेध्यमाममांसं सुरासवम्।
एवमादीनि सर्वाणि दृष्ट्वा सिद्धिमवाप्नुयात्॥
वर्षेणैकेन योग्यः स्याद्विप्रो गुणसमन्वितः।
वर्षद्वयेन राजन्यो वैश्यस्तु वत्सरैस्त्रिभिः॥
चतुर्भिर्वत्सरैः शूद्रः कथिता शिष्ययोग्यता।
तथा गुरुश्च स्वाधीनः सर्वशक्तियुतो विभुः॥
यदि भाग्यवशेनैव सिद्धो हि पुरुषो मिलेत्।
तदैव दीक्षां गृह्णीयात्त्यक्त्वा कालविचारणाम्॥

यदि स्वप्नमें कन्या, छत्र, रथ, प्रदीप, प्रासाद, कमल, नदी, हस्ती, वृषभ, माला, समुद्र, फूलयुक्त वृक्ष, पर्वत, घोड़ा, पवित्र मांस, सुरा और आसव इन पदार्थों का दर्शन शिष्यको हो तो मन्त्रकी सिद्धि समझना उचित है। गुणवान् ब्राह्मण एक वर्ष, क्षत्रिय दो वर्ष, वैश्य तीन वर्ष और शूद्र चार वर्ष तक गुरुदेवके सहवास करनेसे शिष्यकी योग्यताको प्राप्त हुआ करता है; तथापि गुरु सर्वशक्तिमान् और ईश्वररूप हैं। वे जब चाहें तभी बिना देशकाल विचारे शिष्यको उपदेश कर सकते हैं। यदि सौभाग्यवश सिद्ध पुरुषका दर्शन मुमुक्षुको हो जाय तो तत्क्षणमें शिष्यको दीक्षा ग्रहण करना उचित है, उस समय काल आदिका विचार करना अनावश्यक है।

मन्त्रारम्भस्तु चैत्रे स्यात्समस्तपुरुषार्थदः।
वैशाखे रत्नलाभः स्याज्ज्येष्ठे च मरणं भवेत् ॥
आषाढे बन्धुनाशः स्यात्पूर्णायुः श्रावणे भवेत्।
प्रजानाशो भवेद्भाद्रे आश्विने रत्नसञ्चयः ॥
कार्तिके मन्त्रसिद्धिः स्यान्मार्गशीर्षे तथा भवेत्।
पौषे तु शत्रुपीडा स्यान्माघे मेधाविवर्धनम् ॥
फाल्गुने सर्वकामाः स्युर्मलमासं विवर्जयेत्।

चैत्र मासमें दीक्षा ग्रहण करनेसे समस्त पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, वैशाखमें रत्नलाभ, ज्येष्ठ मासमें मरण, आषाढ़ मासमें बन्धुनाश, श्रावण मासमें दीर्घायु, भाद्रपद मासमें सन्ताननाश, आश्विन मासमें रत्नसञ्चय, कार्तिक मास और मार्गशीष मासमें मन्त्रकी सिद्धि, पौष मासमें शत्रुकी पीड़ा, माघ मासमें मेधाकी वृद्धि और फाल्गुन मासमें मन्त्रग्रहण करने से सकल मनोरथ पूर्ण होते हैं। परन्तु यदि उत्तम मास भी मलमास हो जाय तो वह मास त्याग करने योग्य है।

रविवारे भवेद्वित्तं सोमे शान्तिर्भवेत्किल।
आयुरङ्गारके हन्ति तत्र दीक्षां विवर्जयेत् ॥
बुधे सौन्दर्यमाप्नोति ज्ञानं स्यात्तु बृहस्पतौ।
शुक्रे सौभाग्यमाप्नोति यशोहानिः शनैश्चरे ॥

रविवारमें मन्त्र ग्रहण करनेसे वित्तलाभ, सोमवार में शान्ति और मंगलवारमें आयुक्षय हुआ करता है। इस कारण मङ्गलवारकी दीक्षा निषिद्ध है। बुधवारमें सौन्दर्यलाभ, बृहस्पतिवारमें ज्ञानवृद्धि, शुक्रवारमें सौभाग्यलाभ और शनिवारमें दीक्षा ग्रहण करनेसे यश की हानि होती है।

प्रतिपद्विहिता दीक्षा ज्ञाननाशकरी मता।
द्वितीयायां भवेज्ज्ञानं तृतीयायां शुचिर्भवेत् ॥
चतुर्थ्यां वित्तनाशः स्यात्पञ्चम्यां बुद्धिवर्धनम्।
षष्ठ्यां ज्ञानक्षयः सौख्यं लभते सप्तमी तिथौ ॥
अष्टम्यां बुद्धिनाशः स्यान्नवम्यां वपुषः क्षयः।
दशम्यां राजसौभाग्यमेकादश्यां शुचिर्भवेत् ॥
द्वादश्यां सर्वसिद्धिः स्यात्त्रयोदश्यां दरिद्रता।
तिर्यग्योनिश्चतुर्दश्यां हानिर्मासावसानके ॥
पक्षान्ते धर्मवृद्धिः स्यादस्वाध्यायं विवर्जयेत्।

सन्ध्यागर्जितनिर्घोषभूकम्पोल्कानिपातने ॥
एतानन्यांश्च दिवसाञ्छुत्युक्तान्परिवर्जयेत् ॥

प्रतिपद् तिथिमें मन्त्र ग्रहण करनेसे ज्ञाननाश, द्वितीयामें ज्ञानवृद्धि, तृतीयामें शुद्धता प्राप्ति, चतुर्थीमें वित्तनाश, पञ्चमीमें बुद्धिकी वृद्धि, षष्ठीमें ज्ञानका क्षय, सप्तमी में सुखलाभ, अष्टमीमें बुद्धिनाश, नवमीमें शरीरक्षय, दशमीमें राज-सौभाग्यकी प्राप्ति, एकादशीमें पवित्रता, द्वादशीमें सर्वकार्य्यसिद्धि, त्रयोदशीमें दरिद्रता, चतुर्दशीमें तिर्यक्योनिकी प्राप्ति, मासके अवसानमें कार्यकी हानि और पक्षके अन्तमें दीक्षा ग्रहण करनेसे धर्मकी वृद्धि हुआ करती है। मन्त्रग्रहणमें अस्वाध्याय अर्थात् जिन दिनोंमें वेदपाठ निषिद्ध है वे दिन भी परित्याग करने योग्य हैं। सन्ध्यागर्जनका दिन, भूकम्पका दिन, उल्कापातका दिन, आदि अस्वाध्याय दिवस श्रुतिमें कहे गये हैं। ये ही त्यागने योग्य हैं।

अश्विन्यां सुखमाप्नोति भरण्यां मरणं ध्रुवम् ।
कृत्तिकायां भवेद्दुःखी रोहिण्यां वाक्पतिर्भवेत् ।
मृगशीर्षे सुखावाप्तिरार्द्रायां बन्धुनाशनम् ॥
पुनर्वसो धनाढ्यः स्यात्पुष्ये शत्रुविनाशनम् ।
आश्लेषायां भवेन्मृत्युर्मघायां दुःखमोचनम् ॥
सौन्दर्यं पूर्वफाल्गुन्यां प्राप्नोति च न संशयः॥
ज्ञानं चोत्तरफाल्गुन्यां हस्तर्क्षे च धनी भवेत् ।
चित्रायां ज्ञानसिद्धिः स्यात्स्वात्यां शत्रुविनाशनम् ॥
विशाखायां सुखं चैवाऽनुराधा बन्धुवर्धिनी ।
ज्येष्ठायां सुतहानिः स्यान्मूलर्क्षे कीर्तिवर्धनम् ॥
पूर्वाषाढोत्तराषाढे भवेतां कीर्तिदायिके ।
श्रवणायां भवेद्दुःखी धनिष्ठायां दरिद्रता ॥
बुद्धिः शतभिषायां स्यात्पूर्वभाद्रे सुखी भवेत् ।
सौख्यं चोत्तरभाद्रे च रेवत्यां कीर्तिवर्द्धनम् ॥

अश्विनी नक्षत्रमें दीक्षा ग्रहण करनेसे सुखलाभ, भरणीमें मरण, कृत्तिकामें दुःख, रोहिणीमें विद्याकी प्राप्ति, मृगशिरमें सुख, आर्द्रामें बन्धुनाश, पुनर्वसुमें पूर्ण धनकी प्राप्ति, पुष्यमें शत्रुका नाश, आश्लेषामें मृत्यु, मघामें दुःखका नाश, पूर्वफाल्गुनीमें सौन्दर्य, उत्तराफाल्गुनीमें ज्ञानप्राप्ति, हस्तमें धनकी प्राप्ति, चित्रामें ज्ञानकी प्राप्ति, स्वातीमें शत्रुका नाश, विशाखामें सुखकी प्राप्ति, अनुराधामें बन्धुकी वृद्धि, ज्येष्ठामें सन्ततिकी हानि, मूलमें कीर्तिकी वृद्धि, पूर्वाषाढ़ा और उत्तराषाढ़ामें कीतकी प्राप्ति, श्रवणमें दुःख, धनिष्ठामें दरिद्रता, शतभिषामें बुद्धिलाभ, पूर्वभाद्र और

उत्तराभाद्रमें सुखकी प्राप्ति और रेवती नक्षत्रमें मन्त्र ग्रहण करनेसे कीर्तिकी वृद्धि हुआ करती है।

योगाः स्युः प्रीतिरायुष्मान्सौभाग्यः शोभनो धृतिः।
वृद्धिर्ध्रुवः सुकर्मा च साध्यः शुक्लश्च हर्षणः॥
वरीयांश्च शिवः सिद्धो ब्रह्मा इन्द्रश्च षोडश।

प्रीति, आयुष्मान्, सौभाग्य, शोभन, धृति, वृद्धि, ध्रुव, सुकर्मा, साध्य, शुक्ल, हर्षण, वरीयान्, शिव, सिद्ध, ब्रह्मा, इन्द्र इन षोड़श योगोंमें दीक्षा ग्रहण करनेसे दीक्षा सफलताको प्राप्त होती है।

बवबालवकौलवतैतिलवणिजस्तु पञ्च।
करणानि शुभान्येव सर्वतन्त्रेषु भाषितम्॥

बव, बालव, कौलव, तैतिल और वणिज ये पाँच करण दीक्षाग्रहणके लिये मङ्गलकारी हुआ करते हैं, यह सब तन्त्रोंमें प्रतिपादित है।

वृषे सिंहे च कन्यायां धनुर्मीनाख्यलग्नके।
चन्द्रतारानुकूल्ये च कुर्याद्दीक्षाप्रवर्तनम्॥
स्थिरलग्नं विष्णुमन्त्रे शिवमन्त्रे चरं शुभम्।
द्विस्वभागवतं लग्नं शक्तिमन्त्रे प्रशस्यते॥
त्रिषडायगताः पापाः शुभाः केन्द्रत्रिकोणगाः।
दीक्षायां तु शुभाः सर्वे वक्रस्था सर्वनाशकाः॥

वृष, सिंह, कन्या, धनु और मीन इन पाँचों लग्नोंमें और चन्द्र तारोंकी अनुकूलता देखकर दीक्षादान उचित है। वृष, सिंह, वृश्चिक और कुम्भ येही स्थिर लग्न हैं, ये विष्णुमन्त्र ग्रहणमें शुभकारी हैं, चर लग्न अर्थात् मेष, कर्कट, तुला और मकर शिवमन्त्र ग्रहणमें शुभजनक हैं। शक्तिदीक्षामें द्विस्वभागवत लग्न अर्थात् मिथुन, कन्या, धनु और मीन मङ्गलकारी हैं। लग्नके तृतीय, षष्ठ और एकादश स्थानमें पापग्रह और लग्नमें और उसके चतुर्थ, सप्तम, दशम, नवम और पञ्चम स्थानमें शुभ ग्रह रहनेसे दीक्षाग्रहण कल्याणकारी हुआ करता है। दीक्षा-कार्यमें वक्र ग्रह सर्वनाशक होनेके कारण त्याग करने योग्य हैं।

शुक्लपक्षे शुभा दीक्षा कृष्णेऽप्यापञ्चमाद्दिनात्।
भोगकामैः शुक्लपक्षे मुक्तिकामैः शुभं परे॥
निन्दितेष्वपि मासेषु दीक्षोक्ता ग्रहणे शुभा।
सूर्यग्रहणकालस्य समानो नास्ति भूतले।

शुक्लपक्षमें दीक्षा शुभ और कृष्णपक्षकी पञ्चमी तक भी दीक्षा मङ्गलकारिणी हुआ करती है। प्रवृत्तिमार्गके साधकोंके अर्थ शुक्लपक्ष और निवृत्ति मार्गके साधकोंके

लिये कृष्णपक्ष उपयोगी होता है। निन्दित मासमें भी यदि ग्रहणका अवसर मिले तो दीक्षा शुभदा होती है। सूर्यग्रहणके समान उत्तम काल दीक्षाग्रहणके अर्थ इस संसारमें और कोई भी नहीं हो सकता।

गोशालायां गुरोर्गेहे देवागारे च कानने।
पुण्यक्षेत्रे तथोद्याने नदीतीरे च दीक्षणम्॥
धात्रीविल्वसमीपे च पर्वताग्रे गुहासु च।
गंगायाश्च तटे वाऽपि कोटिकोटिगुणं भवेत्॥
अथवा गुरुरेवास्य दीक्षयेद्यत्र तच्छुभम्।
गुरोः परतरं नास्ति तद्वाक्यं श्रुतिसन्निभम्॥

गोशालामें, गुरुके घरमें, देवमंदिरमें, वनमें, पुण्यक्षेत्र (तीर्थ) में, बगीचेमें, नदीके तीरपर, धात्री (आमलकी) और विल्ववृक्षके समीपमें, पर्वतके ऊपर और गुफामें दीक्षा होनी चाहिये। गङ्गा तटपर दीक्षा कोटि-कोटि गुणित फलप्रदान करनेवाली होती है। अथवा जहाँ गुरु दीक्षा देना चाहें वही स्थान शुभ हैं। क्योंकि गुरुदेवसे परे और कोई संसारमें नहीं है, उनका वाक्य देववाक्यके समान हैं।

ऋतम्भरधिया वापि नानाचक्रसहायतः।
मन्त्रानाशु विनिर्णीय शिष्यानुपदिशन्ति ते॥
एकाक्षराः सेतुयुक्ता मंत्राश्चाप्यधिकाक्षराः।
शाखापल्लवसंयुक्ता निर्णेयास्ते विचारतः॥
चक्रं कुलाकुलं नाम राशिनक्षत्रचक्रकम्।
एवमाद्यानि साहाय्यं कुर्वन्ति ह्युपदेशने॥
अपेक्षितानि चक्राणि निखिलान्यपि कुत्रचित्॥
क्वचिदेकमिति ज्ञेयं गुरुभिर्योगपारगैः॥

ऋतम्भरा बुद्धिसे अथवा अनेक प्रकारके चक्रोंकी सहायतासे मन्त्रोंका निर्णय करके गुरुदेव शिष्योंको उपदेश देवें। मन्त्र एकाक्षर, अधिकाक्षर, ससेतुक, शाखा-पल्लव संयुक्त आदि अनेक प्रकारके होते हैं। उन सबोंमेंसे विचारपूर्वक निर्णय कर कर लिया जाय। उपदेश देनेमें कुलाकुलचक्र, राशिचक्र, नक्षत्रचक्र, अकथहचक्र अकडमचक्र, ऋणिधनचक्र आदि अनेक प्रकारके चक्र सहायक होते हैं। कहीं सब चक्रोंकी आवश्यकता होती है और कहीं एक ही चक्रकी आवश्यकता होती है। इसको योगपारगामी गुरुओंको जानना चाहिये।

इस प्रकारसे प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार श्रीगुरुदेवके द्वारा दीक्षित होकर पूर्ववर्णित मन्त्रयोग विज्ञानानुसार इष्टमन्त्र और इष्टदेवकी आराधनासे तथा पूर्वोल्लिखित हठयोग, लययोग और राजयोगकी अधिकारानुसार साधनासे साधक

धीरे-धीरे मायामय प्रकृतिराज्यको अतिक्रम करके आनन्दमयी मुक्तिपदवीको प्राप्त कर लेते हैं। उपनिषद्के कथनानुसार उनकी हृदयग्रन्थि भिन्न हो जाती है, समस्त संशयजाल छिन्न हो जाते हैं और प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण समस्त कर्मचक्रसे निर्मुक्त होकर सिद्ध योगी शाश्वत ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाते हैं। जिसके विषयमें सकल शास्त्रोंमें वर्णन किया गया है कि:—

प्राप्तं जीवैः परमभयपदं शाश्वतं ब्रह्मयोगै-
र्लब्धं ज्ञानं परमममृतं साधनैः साधनेन।
श्लाघ्यो योगो यमनुसरतो नास्ति कश्चित् विषादो
धन्यो योगी सुरनरगुरुर्ब्रह्मविद् ब्रह्म एव॥

ब्रह्मप्राप्तिकर योग-साधनोंके द्वारा साधकको परम आनन्दपदकी प्राप्ति और परम अमृतमय ज्ञानका लाभ होता है। गुरूपदेशानुसार योगमार्गके अनुसरणमें कुछ भी विषादकी प्राप्ति नहीं होती। धन्य है वह योगी जो इस प्रकार गुरुकृपासे दीक्षित होकर साधन द्वारा ब्रह्मपदको प्राप्त करके सुरनर-गुरु और ब्रह्मरूप हो जाते हैं।



वैराग्य और साधन

—०:※:०—

वैराग्य किसको कहते हैं, इस विषयमें श्रीभगवान् पतञ्जलिने सूत्र किया है—

"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्"

कामिनी काञ्चनादि दृष्ट अर्थात् ऐहलौकिक विषय तथा स्वर्गादि आनुश्रविक अर्थात् पारलौकिक विषय इन दोनोंमें विषयसंयोग होनेपर भी चित्तकी जो भोग-रहित वृत्ति है उसे वैराग्य कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि कामिनीकाञ्चनादि ऐह-लौकिक नाना प्रकारके विषयों तथा स्वर्गके नाना पारलौकिक विषयोंका सम्बन्ध अन्तःकरणके साथ होनेपर जब विचारवान् व्यक्तिमें उक्त विषयोंकी ओर उसके चित्तका आकर्षण होता ही नहीं, विचारशील व्यक्तिके अन्तःकरणकी उस विषय रागरहित अवस्थाको वैराग्य कहते हैं। शास्त्रकारोंने वैराग्यको चार भागोंमें विभक्त किया है। उन्हीं चार प्रकारकी वैराग्य दशाओंके समझनेके लिये अन्तर्दृष्टिसम्पन्न योगिराजोंने साधकके अन्तःकरणकी चार दशाओंका वर्णन किया है। इन चार दशाओंको भली-भाँति समझ लेनेसे वैराग्यकी चार श्रेणियोंका यथार्थ स्वरूप स्वतः ही प्रकट हो सकता है। वे चारों दशाएँ इस प्रकारकी हैं। यथा—यतमानसंज्ञा, व्यतिरेक संज्ञा, एकेन्द्रियसंज्ञा और वशीकारसंज्ञा। इस जगत्‌में सार क्या है और असार क्या है, गुरु और शास्त्रकी सहायतासे इसके जाननेके लिये जो यत्न है वही चित्तकी यतमान अवस्था है। चित्तमें जितने दोष पहले थे उनमेंसे इतने नष्ट हो गये हैं और इतने बाकी हैं, इस प्रकारके विवेचनको व्यतिरेक अवस्था कहते हैं। विषरूप विषयमें दुःखज्ञान द्वारा इन्द्रियोंकी अपवृत्ति होनेपर भी अन्तःकरणमें जो विषय तृष्णाकी अवस्था है उसे ही एकेन्द्रिय अवस्था कहते हैं। अन्तमें अन्तःकरणसे भी विषयतृष्णाका नाश होनेसे चित्तकी जो अवस्था होती है उसे ही वशीकार संज्ञा कहते हैं। पूज्यपाद महर्षियोंने वैराग्यके चार भेदोंकी चार संज्ञाएँ की हैं। यथा—मृदु वैराग्य, मध्य वैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और पर वैराग्य। जब विवेकवान् व्यक्तिके विवेकयुक्त अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंका दोष अनुभवमें आने लगता है; अन्तःकरणकी उस वैराग्यवृत्तिको मृदु वैराग्य कहते हैं। इसके अनन्तर जब विवेकभूमिमें अग्रसर साधकको अन्तःकरणमें ऐहलौकिक और पारलौकिक विषयोंके प्रति अरुचि होने लगती है, विवेकी उपासककी उस उन्नततर दशाका नाम मध्य-वैराग्य है। वैराग्यकी तीसरी अवस्था वह कहाती है कि जब विषयभोगमें विवेकीको प्रत्यक्ष दुःख प्रतीत होने लगे। दुःखदायी पदार्थोंमें चित्तकी आसक्ति होना असम्भव है, अतः विषयोंका दुःखदायी भाव जब साधकके अन्तःकरणमें प्रतिष्ठित हो जाता है जिससे विषयका स्वतः ही सम्बन्ध त्याग हो जाता है। वैराग्यकी उस उन्नततम अवस्थाका नाम अधिमात्र वैराग्य है। इस दशामें स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा विषयमें अनासक्ति रहनेपर

भी अन्तःकरणका सूक्ष्म संस्कार रह जाता है और जब ऐहलौकिक, पारलौकिक विषय-मात्रसे योगयुक्त साधकका अन्तःकरण एक बार ही संस्कारशून्य होकर मुख फेर लेता है, अन्तःकरणकी उस सर्वश्रेष्ठ अवस्थाका नाम पर वैराग्य है। पूर्वकथित अन्तःकरणकी चार भूमियोंके साथ इन चार प्रकारके वैराग्योंका समन्वय करनेसे इस प्रकारका सिद्धान्त होता है। यथा—यतमान अवस्थासे मृदुवैराग्य, व्यतिरेक अवस्थासे मध्य वैराग्य, एकेन्द्रिय अवस्थासे अधिमात्र वैराग्य और वशीकार अवस्थासे परवैराग्यका सम्बन्ध स्थापित होगा।

साधनपथमें वैराग्यका प्रयोजन क्या है? क्या बिना वैराग्यके भी साधक आध्यात्मिक राज्यमें अग्रसर हो सकता है? एतादृश प्रश्नोंके उत्तरमें मुण्डकोपनिषद्में लिखा है—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

कर्मके द्वारा प्राप्त लोक अनित्य हैं, इनसे नित्य पदार्थ लाभ नहीं हो सकता है, इस प्रकारका विचार और निश्चय करके ब्राह्मण वैराग्यका अवलम्बन करेंगे। वैराग्यका उदय होनेके अनन्तर मुमुक्षु साधक आत्मज्ञान लाभ करनेके लिए समिधा हाथमें लेकर ब्रह्मनिष्ठ और श्रोत्रिय गुरुके पास जायेंगे। अतः श्रुति के उपदेशानुसार ब्रह्मजिज्ञासामें अधिकार-लाभके लिये वैराग्य प्राप्त करनेकी विशेष आवश्यकता है ऐसा सिद्ध हुआ। श्रीभगवान् शंकराचार्यजीने लिखा है—

वैराग्यं च मुमुक्षुत्वं तीव्रं यस्योपजायते।
तस्मिन्नेवार्थवन्तः स्युः फलवन्तः शमादयः॥

तीव्र वैराग्य और मुमुक्षुताके होनेसे ही शमदमादि साधन फलवान् होते हैं। शास्त्रमें लिखा है कि जिस प्रकार पक्षीमें उड़नेकी शक्ति रहनेपर भी बिना दोनों पंखों की सहायतासे वह उड़ नहीं सकता, उसी प्रकार साधन-अभ्यास द्वारा मुक्तिपद प्राप्ति की सम्भावना होने पर भी बिना वैराग्ययुक्त साधनके साधक कदापि सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकता। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साधन-अभ्यास द्वारा साधक शनैः शनैः अपने चित्तकी त्रिगुणात्मक वृत्तियोंका निरोध करके मुक्तभूमिमें पहुँच सकता हैं, परन्तु अनादि कालसे सम्बन्धयुक्त विषयवासना जबतक छिन्न न हो जाय, तबतक अन्तःकरणमें स्थायी शक्तिका उत्पन्न होना असम्भव है। साधन-सुकौशल द्वारा अन्तःकरण की वृत्तियाँ उस समयके लिये निरोध हो जा सकती हैं, परन्तु अनादि कालसे अभ्यास की हुई विषयवासना पुनः साधनकी शिथिल अवस्थामें अन्तःकरणमें प्रकट होकर उसको पूर्ववत् चंचल कर दिया करती है। साधकके अन्तःकरणकी एक ओर विस्तृत विषयसमूह और दूसरी ओर प्रशांत मुक्तिमार्ग है, परन्तु अनादि सम्बन्धसे अन्तःकरण विषयोंमें वासनारज्जु द्वारा बन्धन प्राप्त रहनेके कारण जबतक साधक वैराग्यशस्त्र द्वारा वासनारज्जुका छेदन न कर सके तबतक वह मुमुक्षु कदापि प्रशांत मुक्तिपथमें अग्रसर नहीं हो सकेगा। वैराग्य-अभ्यास द्वारा साधक जितना

जितना विषयवासनारज्जुको शिथिल करता जायगा, वह उतना ही उतना मुक्तिपथ द्वारा कैवल्य भूमिकी ओर अग्रसर हो सकेगा। वैराग्य अभ्यास द्वारा मुमुक्षु साधकका अन्तःकरण विषय-वासनाशून्य हुआ करता है और साधन-अभ्यास द्वारा साधकके चित्तमें भगवद्भावरूप मुक्तिपदका उदय हुआ करता है, यही वैराग्यसंयुक्त-साधनका विज्ञान है। फलतः विषयवैराग्य द्वारा ही प्रथममें क्षणभंगुर सांसारिक विषयोंमें अनिच्छा उत्पन्न होकर साधकका अन्तःकरण साधनरूपी सत् पुरुषार्थमें लगा करता है, मध्यमें तीव्र वैराग्यकी सहायतासे ही सिद्धयोगी अणिमा, महिमा आदि ऐसे विभूतियोंके फन्देसे अपने आपको बचा सकता है और शेषमें पर वैराग्यकी ही सहायता ले मुक्ति भूमिमें दृढ़ता स्थापन कर सकता है। इस कारण योगमार्गके आचार्य-गणने वैराग्य की सर्वोपरि आवश्यकता वर्णन की है। योगसाधन विज्ञानके प्रधान प्रवर्तक योगिराज महर्षि पतंजलिजीने चित्तवृत्तिनिरोध रूप मुक्तिपदके प्राप्त करनेके अर्थ आज्ञा की है कि—

"अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियोंका निरोध हुआ करता है। न तो केवल अभ्यास द्वारा ही योगलक्ष्य रूपी मुक्तिपदकी प्राप्ति की जा सकती है और न केवल वैराग्य द्वारा ही लक्ष्यका साधन हो सकता है, यह दोनों पुरुषार्थ ही कैवल्य-पदकी प्राप्तिके अर्थ परस्पर सहायक हैं। गीतामें श्रीभगवान्‌ने कहा है :—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'

वैराग्य और साधनके द्वारा ही मनोविरोध तथा आत्मसाक्षात्कार होता है। जबतक अन्तःकरणमें वैराग्यका उदय न हो तबतक उसकी दृष्टि बहिर्मुखी रहती है और जबतक अन्तःकरणकी दृष्टि बहिर्मुखी रहती है, तबतक उसमें ज्ञानरूप पूर्ण प्रकाश होना असंभव है; इस कारण जब पूर्ण वैराग्यका उदय होता है, अन्तःकरण अपना मुख बाहरकी ओरसे फेरकर भीतरकी ओर देखने लगता है, तभी उसको आत्मदर्शन हो सकता है। अतः साधनापथमें वैराग्यका विशेष प्रयोजन है यह निश्चय हुआ। विशेषतः विचारशील मनुष्य मात्र ही समझ सकेंगे कि जिस प्रकार विना पथ्यके औषधि कुछ भी कार्य नहीं कर सकती और बिना औषधिके केवल पथ्यका नियम रखनेसे भी रोगका उपशम हो सकता है इसी प्रकार विना वैराग्यके साधन-मार्गमें साधक कदापि अग्रसर नहीं हो सकता है, परन्तु वैराग्ययुक्त व्यक्ति यथाविधि साधन न करने पर भी निवृत्तिमार्ग और अध्यात्म राज्यमें अग्रसर हो सकता है। वैराग्यके न होनेसे साधकका अन्तःकरण बहु जन्मजन्मान्तरके संस्कारयुक्त काम, लोभ आदि वृत्तिजनित क्षणभंगुर विषयोंमें जकड़ा हुआ रहनेके कारण साधन-पथमें चित्तवृत्ति-निरोध द्वारा अग्रसर कदापि नहीं हो सकता। उसके अन्तःकरणकी विषय-वासनायुक्त वृत्तियाँ उसको सदा फँसाये रहनेके कारण चित्तवृत्तिनिरोध करना एक प्रकारसे असम्भव हो जाता है। परन्तु यदि साधन-अभ्यासका अवसर साधकको न भी मिले और वैराग्यवृत्ति उसमें उत्पन्न हो जाय तो स्वतः ही प्रवृत्ति संस्कारका

नाश होकर उसके चित्तकी परिशुद्धता होने लगती है और उस विवेकी पुरुषका अन्तःकरण वैषयिक चञ्चलतासे हटकर शान्त होने लगता है। अतः साधनकी अपेक्षा वैराग्यकी आवश्यकता सर्वप्रथम है इसमें सन्देह नहीं। साधनके विषयमें आचार्य्य-गणकी ऐसी सम्मति है कि वैराग्यका तारतम्य देखकर तब जिज्ञासुको योगमार्गोंका उपदेश देना उचित है। अर्थात् उनके विचारमें वैराग्यके पूर्वकथित चार भेद यथा-मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य, अधिमात्र वैराग्य और पर वैराग्यके अनुसार साधन-अधिकार भी उन्नततर रूपसे चार रक्खे गये हैं। उनके सिद्धान्तोंके अनुसार मृदुवैराग्यके अधिकारीको मन्त्रयोग, मध्यवैराग्यके अधिकारीको हठयोग और अधिमात्र वैराग्यके अधिकारीको लय योगका उपदेश देना उचित है, एवं पर वैराग्यके अधिकारी ही यथार्थरूपेण राजयोगका अधिकारी हुआ करता है। इस प्रकारसे योगाचार्यगण वैराग्यकी चारों अवस्थाके साथ साधनकी चारों अवस्थाओंका सम्बन्ध स्थापन किया करते हैं। साधन और वैराग्यके युगल स्वरूपका यही अपूर्व विज्ञान है।

वैराग्यकी प्रथम अवस्थामें साधककी दृष्टि प्रवृत्ति मार्गोंके भोगोंसे हटने लगती है, एवं वैराग्य कुछ अपूर्व और शान्तियुक्त पदार्थ है ऐसा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्थामें साधकका चित्त एकान्त-सेवन, वैराग्य-सम्बन्धीय एवं अध्यात्मभाव सम्बन्धीय ग्रन्थोंके पाठ और साधु महात्मागणके संग करनेमें प्रवृत्त हुआ करता है। वैराग्यकी दूसरी अवस्थामें अपने आप ही साधकका अन्तःकरण इन्द्रियसुखभोगोंसे उपराम हो जाता है, तब साधकको यह संसार सूना-सा प्रतीत होने लगता है। इस अवस्थामें साधकके चित्तकी विकलता बढ़ जाती है और उसको आहार-विहार आदि सब कार्य परिणाममें दुःख रूपी ही प्रतीत होने लगते हैं। तब वह साधक एकान्तवासी होकर सदा क्षणभंगुर संसारके क्षणभंगुर परिणामको सोचा करता है। मौन रहना, ब्रह्मचर्य्य धारण, कामिनी सहवासमें अरुचि और धन-संग्रह करनेमें अनिच्छा आदि वैराग्ययुक्त वृत्तियोंकी तीव्रता उसके अन्तःकरणमें हो जाया करती है। तत्पश्चात् वैराग्यकी तृतीय अवस्थामें ज्ञानकी अधिकतासे साधकके चित्तकी विकलता न्यून हो जाती है एवं तब वह साधक सद्वार्तालाप, सदुपदेशकथन एवं सत्सङ्ग करनेमें ही सदा रत रहा करता है। इस उन्नत अवस्थामें ज्ञानदृष्टि द्वारा साधक अपने पुत्र, कलत्र, मित्र आदि परिजनोंको परमस्वार्थपर जानकर उनसे अपने अन्तःकरणको सम्पूर्ण रूपसे राग रहित करनेमें समर्थ हो जाता है। स्त्री-जनोंको परम दुःख और नरकका कारण समझकर उनके सङ्गको विषवत् अहितकारी मान लिया करता है। और धनको मोह और क्लेशोंका कारण समझ-कर उसके स्पर्श करनेमें भी अपनी हानि ही समझा करता है। फलतः इस अवस्थामें साधकको अध्यात्म राज्यका परम आनन्द प्राप्त होने लगता है। तदनन्तर इस उत्तम वैराग्यके परिणाममें परवैराग्यपदकी उत्पत्ति हुआ करती है। यह परवैराग्य वैराग्य-साधनकी चतुर्थ अवस्था एवं वैराग्यभूमिकी चरमसीमा है। इस सर्वोत्तम वैराग्यके प्राप्त करते ही साधकका अन्तःकरण पूर्णरूपसे ऐहलौकिक और पारलौ-किक सब प्रकारके सुखोंसे मुँह फेर लिया करता है। तब उसकी अन्तर्दृष्टि सदा

आत्मपदकी ओर ही लगी रहती है, एवं उसके समीप सब वैषयिक भोग-समूह पूर्णरूपसे लयको प्राप्त हो जाता करते हैं। इसी कामनारङ्गरहित, वैषयिकस्वरूपनाशकारी, परमशान्ति और अद्वैतभावयुक्त सर्वोत्तम वैराग्यके परिणाममें परम आनन्दरूपी मुक्तिपदका उदय हुआ करता है। इस संसारभाननाशकारी परवैराग्यसे कैवल्यरूपी मुक्तिपदका साक्षात् सम्बन्ध है। इस रीतिके अनुसार प्रथम अवस्थासे द्वितीय अवस्था, द्वितीय अवस्थासे तृतीय अवस्था, तृतीय अवस्थासे इस चतुर्थ अवस्थामें पहुँचकर साधक कैवल्यभोगी हो जाता है।

वैराग्य प्राप्त करनेके और वैराग्य-साधनकी उन्नति करनेके विषयमें आचार्य्यगणके मतभेद पाये जाते हैं। वैराग्य उत्पत्तिका कारण अनुसन्धान करनेमें कोई तो भगवद्भक्ति, कोई पदार्थविचार और कोई सत्संगको ही प्रधान अवलम्बन करके स्वीकार करते हैं। कर्मके पक्षपाती आचार्य्यगण, सत्सङ्ग अर्थात् साधुसङ्ग द्वारा वैराग्यकी उत्पत्ति हुआ करती है, ऐसा मानते हैं। भक्तिमार्गके आचार्य्यगण गौणी भक्ति द्वारा वैराग्यकी उत्पत्तिको स्वीकार करते हैं और ज्ञानके पक्षपाती आचार्य्यगण यह आज्ञा करते हैं कि वस्तुविचार द्वारा वैराग्यवृत्तिका उदय हुआ करता है। अपिच सूक्ष्मविचार द्वारा यह स्वीकार करनाही पड़ेगा कि ये तीनों उपाय ही अपने-अपने रूपमें वैराग्य उत्पादक हैं, इसमें सन्देह नहीं। इस कारण यदिच वस्तुविचारसे ही दोषदृष्टि द्वारा मुमुक्षुको कामिनी काञ्चन रूपी विषयोंमें वैराग्य हुआ करता है; तथापि भक्ति और सत्सङ्ग भी वैराग्यवृत्तिकी वृद्धि करनेमें बहुत ही हितकारी हैं इसमें सन्देह ही नहीं। इस कारण मुमुक्षुगणके अर्थ वैराग्य भूमिमें अग्रसर होनेके लिये भगवद्भक्ति, साधुसङ्ग और सदा विषयरूपी मोहकारी पदार्थोंका स्वरूप विचार करना हितकारी है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है :—

सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥
भक्त्या पुमान् जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यये ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥

महत्पुरुषोंके संगमें रहनेसे हृदय और कर्णकी आनन्दायिनी आध्यात्मिक उन्नतिप्रद भगवत्कथा सदा ही होती रहती हैं जिसके फलसे शीघ्र ही श्रीभगवान्के प्रति श्रद्धा, रति और भक्तिका उदय होने लगता है। इस प्रकारसे सत्संग द्वारा भक्तिका उदय होकर संसार सम्बन्धीय विषयोंकी स्वरूपचिन्ता और स्वरूपपर विचार

होनेसे साधकके चित्तमें दृष्ट और आनुश्रविक इन्द्रियविषयोंके प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाता है जिससे वह साधक संसारको छोड़कर योगमार्गके अवलम्बनसे परमपद प्राप्तिके लिये उद्यत हो जाता है। अतः इन सब प्रमाणोंके द्वारा वैराग्यलाभार्थ सत्सङ्ग, भगवद्भक्ति और संसार स्वरूप विचार इन तीनोंकी ही आवश्यकता सिद्ध होती है।

अब संसारमें जीवोंको क्यों वैराग्य-प्राप्ति होती है और उसमें सहायक वस्तुएँ कौन-कौन हैं सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। विचार करनेसे सिद्ध होगा कि जीवके हृदयमें वैराग्यका उदय होना स्वतःसिद्ध और अवश्यम्भावी है। केवल भिन्न-भिन्न जीवोंमें पूर्वसंस्कारके तारतम्यानुसार वैराग्य भावके उदय होने में समयका तारतम्य हो सकता है। यह विषय उपासना नामक अध्यायमें पहले ही सम्यग्रूपसे प्रतिपादित किया गया है कि आनन्दमय परमात्माकी आनन्दसत्ता व्यापकरूपसे सकल जीवोंमें व्याप्त होनेके कारण जीवकी समस्त कर्मप्रवृत्ति इसी भीतरी आनन्द सत्ताकी प्रेरणाके द्वारा होती है। अर्थात् अपने भीतर छिपी हुई यह परमानन्दसत्ता सदा ही जीवके हृदयमें आनन्दलाभ करनेकी इच्छाको उत्पन्न करती है। और इसी इच्छाके कारण ही जीव आनन्दलाभ के लिये कर्म करता है। उपनिषद्में लिखा है—

'यदा वै करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति नासुखं लब्ध्वा करोति'

जब कोई काम करता है तो सुखके लिये ही करता है, दुःखके लिये कभी नहीं करता है। प्रकृतिके साथ अभिमानयुक्त आत्मा, जिस वस्तुके प्रति उसका अनुकूल अभिमान उत्पन्न होता है, उसी वस्तुमें सुख लाभ करता है। परन्तु प्रकृतिका वैषम्य ही सृष्टिका कारण होनेसे संसारमें एककी प्रकृतिके साथ दूसरेकी प्रकृतिका सम्पूर्ण मेल होना सृष्टिनियमविरुद्ध होनेके कारण सर्वथा असम्भव है। ऐक्य परिणामहीन आत्माके राज्यमें हो सकता है, परिणामिनी तथा वैषम्ययुक्त प्रकृतिके राज्यमें पूर्ण एकता कभी नहीं हो सकती है। इसलिए सुखान्वेषी जीव यद्यपि स्त्री-पुत्र आदिके साथ अपनी प्रकृतिकी एकताके लिये प्रयत्न करता है तथापि पूर्ण एकता उत्पन्न होना असम्भव होनेके कारण स्त्री-पुत्र आदिके आत्माके अभिमानके साथ अपनी आत्माके अभिमानका मेल ठीक-ठीक नहीं होता है। इसलिये अपनी आत्मापर जो सुखका बिम्ब है, उसका यथार्थ प्रतिबिम्ब स्त्री-पुत्रादि प्रिय वस्तुके आत्मापर प्रकाशित नहीं हो सकता है। अतः बिम्ब और प्रतिबिम्बकी एकता न होनेसे प्रेम भी पूरा नहीं हो सकता है। इस कारण जीव संसारमें मुग्ध होकर जितना ही प्रेम करता है, सभीके साथ कुछ न कुछ अशान्ति और अप्रेमका बीज लगा हुआ रहता है और वही अशान्तिका बीज विचार और अभिज्ञता द्वारा सांसारिक सुखोंके मिथ्या समझनेके साथ-साथ वृक्षरूपमें परिणत होता हुआ अन्तमें संसारके प्रति जीवका प्रबल वैराग्य उत्पन्न होनेका एक स्वतःसिद्ध और अवश्यम्भावी कारण है। वैराग्य उदय होनेका दूसरा कारण प्रकृतिमें प्रतिबिम्बित आनन्दके साथ साक्षात् चिदानन्दका पार्थक्यज्ञान है। आनन्दमय परमात्माकी जो हृदयनिहित आनन्दसत्ता जीवको सुखके अन्वेषण-

के लिये कर्ममार्गमें प्रवृत्त करती है वह आनन्दसत्ता नित्य, अविनाशी दुःखलेशहीन, असीम और साक्षात् चिदानन्दरूप है। इस प्रकार नित्यानन्द जीवको तभी मिल सकता है, जब जीव अपनी समस्त वृत्तियोंको अन्तर्मुखीन करके प्रकृतिसम्बन्धसे अपने आत्माको पृथक् करके परमात्मामें मग्न हो जाय। परन्तु सुखप्रयासी और सुखके लिये भीतरसे प्रेरणायुक्त जीव ऐसा न करके मायाके चक्रमें फँसकर त्रिगुणमयी मायाके राज्यमें ही उस नित्यानन्दको ढूँढ़ता रहता है और मायामय वस्तुमें ही नित्यानन्दकी भ्रान्तिको प्राप्त करता है। जब आनन्दरूप परमात्मा सर्वत्र व्याप्त है तो यह बात निश्चय है कि प्राकृतिक वस्तुमें भी जो कुछ सुख है, उसका भी कारण परमात्माकी नित्यानन्दसत्ता है। परन्तु भेद इतना ही है कि अन्तर्निहित आनन्दसत्ता प्रकृति-सम्बन्ध-विहीन होनेसे साक्षात् चिदानन्द है और प्राकृतिक तथा सांसारिक समस्त सुख प्रकृतिपर प्रतिविम्बित आनन्दसत्तासे उत्पन्न होनेके कारण साक्षात् चिदानन्द न होकर प्रतिबिम्बित आनन्द या छायासुख है। जिस प्रकार साक्षात् सूर्य या चन्द्रका प्रकाश और जलाशयमें प्रतिविम्बित सूर्य या चन्द्रके प्रकाशमें भेद है, अन्तर्निहित साक्षात् चिदानन्द और प्रतिविम्बित विषयसुखमें उतना ही भेद है। अन्तर्निहित आनन्द प्रकृतिराज्यसे अतीत होनेके कारण परिणामहीन और नित्य है; परन्तु प्रकृति प्रतिबिम्बित विषयसुख परिणामिनी प्रकृतिके अनुसार प्राप्त होनेके कारण अनित्य, दुःखपरिणामी, क्षणभंगुर और छायासुखमात्र है। इन दोनोंकी वस्तु-सत्तामें बहुत ही अन्तर है; क्योंकि साक्षात् सूर्यके प्रखर प्रकाशमें जो भाव है, जलाशयमें प्रतिविम्बित सूर्यके क्षीण और चाञ्चल्ययुक्त प्रकाशमें वह भाव कहाँसे आ सकता है? अमृतमय आम्रफलके स्वाद ग्रहणमें जिह्वा और आत्माकी जो तृप्ति होती है, चित्रपटमें अङ्कित आम्रफल द्वारा वह कैसे उत्पन्न हो सकती है? परन्तु जब अन्तनिर्हित नित्यानन्द सत्ता ही जीवको सुखान्वेषणार्थ कर्ममार्गमें प्रवृत्त करती है, तो जीवकी पूर्ण शान्ति और परितृप्ति तभी हो सकती है जब जीवको विषयमें भी उसके प्रेरक नित्यानन्दकी प्राप्ति हो। परन्तु विषयसुख नित्यानन्दकी छायामात्र होनेसे विषय-विलासके द्वारा जीवको नित्यानन्द मिलना असम्भव है इसलिये चाहे जीव कितना ही विषयसुखमें मग्न हो जाय, जीवको विषयसेवाके द्वारा कभी पूर्ण शान्ति और परम सन्तोष प्राप्त नहीं हो सकता है। स्पर्शमणि (पारस) के दिव्य लाभके लिये जिनके हृदयकी पिपासा है, मिथ्या प्रस्तरखण्डकी प्राप्तिसे उनका सन्तोष कैसे हो सकता है? हृदय व्यग्र है नित्यानन्दके लिये, अन्तर्निहित आनन्दसत्ताकी प्रेरणा होती है अविनश्वर चिदानन्दके लिये, प्राणकी पीपासा निशिदिन बलवती होती है दुःखलेशविहीन ब्रह्मानन्दके लिये, जीव संसारचक्रमें घटीयन्त्रकी तरह घूमता है साक्षात् चिदानन्दके लिये, परन्तु प्रतारणामयी अविद्या जीवको नित्यानन्दके लोभसे भुलाकर संसारजालमें फँसाकर अन्तमें दुःखदुर्गन्धिपूर्ण, परिणामसन्तापविषपूर्ण, नित्यानन्दहीन मिथ्या मृगजलमय विषयकूपमें निमज्जित करके जीवहृदयमें चिर-कालसे बद्धमूल आशालताको आमूल विनष्ट कर देती है। तभी जीव विषयसुखकी तुच्छता, विषमय परिणाम और नित्यानन्दके साथ पार्थक्य विचार करके वैराग्य अवलम्बन करता है। यही जीवहृदयमें वैराग्य उत्पन्न होनेका स्वतःसिद्ध और अवश्य-

म्भावी द्वितीय कारण है। अब नीचे विषयसुखका स्वरूप और परिणामदुःखता आदिके विषयमें शास्त्रोक्त सिद्धान्तोंका क्रमशः विवेचन किया जाता है।
श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने संसार में जीवोंके दुःखवर्णन प्रसंग में कहा है कि—

"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः"

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये ही पाँच प्रकार के क्लेश हैं जिनके आक्रमणसे जीव संसारमें सदा ही व्यथित रहता है। अविद्याके लक्षणके लिये महर्षिजीने कहा है:—

"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या"

अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्मामें नित्य, शुचि, सुख और आत्म-भ्रान्तिका नाम अविद्या है। जीव अविद्याके वशवर्त्ती होकर संसारकी अनित्यता और प्राकृतिक पदार्थों की क्षणभंगुरताको भूल जाता है और यह समझने लगता है कि उनका संसार, उनकी सम्पत्ति, स्त्री, पुत्र, परिवार और अपना जीवन चिरदिनके लिये रह जायँगे। परन्तु प्रकृति तो परिणामधर्मिणी है। इसलिये मायाके राज्यमें कोई भी पदार्थ चिरस्थायी नहीं हो सकता है। रामायण में लिखा है—

सर्वे क्षयन्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणांतञ्च जीवितम्॥

संसारके सकल पदार्थ ही अन्त में क्षयको प्राप्त होते हैं। समस्त उन्नति ही अन्तमें पतनको प्राप्त हो जाती है। सांसारिक धनजनात्मीयगणके साथ समस्त मधुमय संयोग ही कुछ ही दिनों के बाद विषमय वियोगरूपी परिणामको प्राप्त हो जाते हैं और सकल जीवोंके परमप्रीतिकर जीवन भी थोड़े दिनोंमें कालके कराल-ग्रासमें पतित हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

स एष लोकानतिचण्डवेगो
विकर्षसि त्वं खलु कालयानः।
भूतानि भूतैरनुमेयतत्त्वो
घनावलीर्वायुरिवाविषह्यः॥
प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्य चिन्तया
प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम्।
त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे
क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाखुमन्तकः॥

अतिवेगवान काल समस्त जीवोंको नाशके गर्भमें आकर्षण कर रहे हैं और जिस प्रकार भीषण पवनके प्रतापसे मेघमाला खंडविखंड हो जाती है उसी प्रकार भूतोंसे ही भूतोंका संहार कराकर अपने गर्भमें समस्त जीवोंको प्रविष्ट करा रहे हैं। विषयलालसी जीव विषयमदोन्मत्त होकर मोहके द्वारा संसारजाल बनाने

लगते हैं, परन्तु इतनेमें ही क्षुधातुर सर्प के द्वारा मूषकग्रासकी तरह सहसा अप्रमत्त कालभगवान् जीवों को ग्रास कर लेते हैं। महाभारतमें लिखा है:—

संचिन्वानकमेवैनं कामानामवितृप्तकम्।
व्याघ्रः पशुमिवासाद्य मृत्युरादाय गच्छति॥

वासनाबद्ध जीव स्त्री-पुत्र, संसार आदि वासनापूर्ति की वस्तुओंमें मुग्ध रहते हैं। परन्तु प्रकृतिके चञ्चला होनेसे स्त्री-पुत्र आदिके द्वारा वासनापूर्ण होनेके पहिले-ही—जिस प्रकार आयु शेष होनेके पहले ही पशुओंको व्याघ्र मार ले जाता है उसी प्रकार काल, संसारमेंसे विषयी पुरुषोंकी प्रिय वस्तुओंको मार लेता है और विषयी मनुष्यको घोर सन्ताप-समुद्रमें डाल देता है। जीवनप्रवाह बहता हुआ कालसिन्धु-की ओर जा रहा है, विलासका नन्दनकानन श्मशान रूपमें परिणित हो रहा है, विषयकी माधुरी बिजलीकी तरह थोड़ी देरके लिये चमकती हुई दूसरे क्षणमें ही हृदयको दशगुण दुःखरूप अन्धकारसे आच्छन्न कर रही है, सृष्टिका विशाल शरीर प्रलयके कराल गालमें धीरे-धीरे लय हो रहा है, मोहमुग्ध जीव अविद्या के चक्रमें पड़कर संसारके यथार्थ स्वरूपको जान नहीं सकते हैं और इसलिये अनित्य संसार-को नित्य समझकर परिणाममें अनन्त दुःखानलमें दग्ध होते रहते हैं। यही संसारमें जीवोंके लिये अविद्याजनित क्लेशका प्रथम कारण है। इसी भावको लक्ष्य करके ही भर्तृहरिजीने कहा था:—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्॥

सूर्यके उदयास्तके द्वारा दिन-दिन आयु क्षीण हो रही है, संसारप्रपञ्चके गुरुभारसे कालकी गतिका पता नहीं लग रहा है, चारों दिशाओंमें जन्म, जरा, विपत्ति और मृत्युकी भीषण मूर्तियों को देखते हुए भी हृदयमें भयका सञ्चार नहीं हो रहा है, कारण यह है कि मोहमयी प्रमाद मदिराको पान करके जगत उन्मत्त हो रहा है। अविद्याजनित क्लेशका द्वितीय कारण है अशुचिकर अपवित्र वस्तुमें शुचिताकी भ्रान्ति। श्रीभगवान् वेदव्यासजीने इसका व्याख्यान करते हुए योगदर्शन-भाष्यमें लिखा है :—

अशुचौ परमबीभत्से काये, उक्तं च—

स्थानाद्बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि।
कायमाधेयाशौचत्वात् पण्डिताह्यशुचिं विदुः॥

"इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते, नवेव शशांकलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितेव चन्द्रं भित्वा निःसृतेव ज्ञायते नीलोत्पलपत्रायताक्षी

हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति अशुचौ शुचिर्विपर्यासप्रत्यय इति ।"

अपवित्र शरीर जो मूत्र-विष्ठापूर्ण मातृगर्भरूप रहनेका स्थान, रजोवीर्य्यरूप शरीरबीज, अशुद्धद्रव्योंसे उत्पन्न शरीरधारणकारी पीत लोहितादि रस, प्रस्राव आदि मलिन वस्तु, स्पर्शमात्रसे अशुचिकारी, मरण और शुचित्वके लिये जलादिकी अपेक्षा रहनेके कारण स्वाभाविक अशुचिता—इन सब कारणोंसे परम घृणित है, ऐसे अपवित्र शरीरमें "नवीन चन्द्रलेखाकी तरह सुंदरीया यह स्त्री है, मानों मधु और अमृतके द्वारा इसके समस्त अवयव निर्मित हुए हैं, चन्द्रको भेद करके ही उसके सौन्दर्यको लेकर आयी हुई है, नीलकमलदलकी तरह इसकी आँखें सुन्दर और विस्तृत हैं, विलासमय और हावभावपूर्ण कटाक्ष के द्वारा संसार को मानों आश्वासन दे रही है" इस प्रकार वृथा चन्द्रादिके साथ उपमापूर्ण विपरीत बुद्धि अविद्याका ही फल है। इस प्रकारसे अपवित्र शरीरमें शुचिभ्रान्ति प्राप्त करके अविद्याग्रस्त जीव कामिनीप्रेममें मुग्ध होकर संसारमें अनन्त दुःखों को भोगते हैं, जो आगे बताया गया है। इसी भावको लक्ष्य करके भर्तृहरिजीने कहा है:—

स्तनौ मांसग्रंथी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशांकेन तुलितम् ।
स्रवन्मूत्रक्लिन्नं करिवरकरस्पर्द्धि जघन-
महो निंद्यं रूपं कविजनविशेषैर्गुरुकृतम् ॥

कैसे आश्चर्य्यका विषय है कि स्त्रीजातिका स्वरूप अत्यन्त निन्दनीय होने पर भी मोहवश होकर कविजनोंने उसकी बड़ी प्रशंसा की है। मांसग्रन्थिरूपी निन्दनीय स्तनोंको सुवर्ण कलशके समान करके वर्णन किया है; उनका मुख श्लेष्मा, थूक, कफका घर होने पर भी उसे चन्द्रमाकी उपमा दी है और मूत्र आदिसे अपवित्र ऊरुस्थलको हस्तिशुण्डके समान करके वर्णन किया है, ये सब प्रमादका ही कारण है इसमें संदेह नहीं। अविद्याजनित क्लेशका तृतीय कारण दुःखकर विषयोंमें सुखभ्रांति है। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने योगदर्शनमें लिखा है—

"परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।"

परिणाम दुःख, ताप दुःख और संस्कार दुःखके कारण तथा त्रिगुण जनित वृत्तियोंमें परस्पर विरुद्धताके कारण विवेकी पुरुषके लिये संसारका समस्त विषयसुख दुःखरूप ही है। विषयसुखके साथ परिणाम दुःखका किस प्रकार सम्बन्ध है इसके विषयमें योगदर्शनभाष्यमें श्रीभगवान् वेदव्यासजीने कहा है—

'या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिस्तत्सुखं या च लौल्यादनुपशान्तिस्तद्दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्त्तुं शक्यं यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति तस्मादनुपायः

सुखस्य भोगाभ्यास इति स खल्वयं वृश्चिकविषभीत इवाशीविषेण दष्टो यः सुखार्थी विषयानुवासितो महति दुःखपङ्के मग्न इति। एषा परिणामदुःखता नाम प्रतिकूला सुखावस्थायामपि भोगिनमेव क्लिश्नाति।

भोग्य वस्तुके भोग द्वारा इन्द्रियोंकी तृप्तिसे जो शान्ति है वही विषयसुख है और चाञ्चल्यसे जो अशान्ति है वही दुःख है। परन्तु इन्द्रियोंकी प्रकृति ही ऐसी है कि भोगद्वारा उसमें शान्ति और वितृष्णा नहीं आ सकती है। क्योंकि भोगके द्वारा भोग-तृष्णा और भी बढ़कर भोगीके चित्तमें चाञ्चल्य और अशान्ति उत्पन्न करती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥ (मनुः)

कामभोगके द्वारा कामकी शान्ति नहीं होती, किन्तु घृतकी आहुतिसे पुष्ट अग्निकी नाईं पुनः पुनः कामपिपासा वर्धित होती है। विषयसुख तमोगुणके द्वारा उत्पन्न होनेसे अन्तःकरण तन्मात्रा और इन्द्रियोंकी सहायतासे विषयमें एकाग्र होकर जो सुखबोध करता है वह चित्तकी एक तामसिक अवस्थाका सुख है। परन्तु प्रकृति तो परिणामधर्मिणी है इसलिये चित्तकी तामसिक अवस्थाजनित एकाग्रताके द्वारा विषयमें जो सुख प्रतीत होता है वह अवस्था बहुत ही क्षणकालस्थायिनी होती है। क्षणकाल के बाद ही पुनः रजोगुणके उत्पन्न होनेसे चित्त की तामसिक एकाग्रता नष्ट होकर रजोगुणका चाञ्चल्य चित्तमें उत्पन्न होता है, जिससे पुनः इन्द्रियचाञ्चल्य उत्पन्न होकर भोगीके चित्तमें अशान्ति उत्पन्न कर देता है। इस प्रकारसे विषय सम्बन्धके द्वारा भोगतृष्णा बलवती होकर पुनः पुनः चाञ्चल्य उत्पन्न होनेके कारण जिस प्रकार विच्छूके भयसे डरता हुआ मनुष्य सर्पदष्ट होकर और भी अधिक दुःख प्राप्त करता है, उसी प्रकार भोगकालमें भोगद्वारा सुख न पाकर विषयी पुरुष और भी अधिक दुःखपङ्कमें निमग्न हो जाता है। इसलिये विष्णुपुराणमें कहा है—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावतोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशंकवः॥

मनकी प्रिय वस्तुओं में मनुष्य जितना ही आसक्त होता है उतना ही उसके चित्तमें शोकरूपी शूल विद्ध होता है। गीतामें भी लिखा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय! न तेषु रमते बुधः॥

विषयके साथ इन्द्रियोंके स्पर्श होनेसे जो कुछ सुख होता है वह दुःखकी ही उत्पत्ति करनेवाला होनेसे दुःखरूप है। इस प्रकार सुख आदिअंतसे युक्त अर्थात् क्षणभङ्गुर है। इसलिये विवेकी पुरुषोंको विषयसुखमें रत नहीं होना चाहिए। परिणाम-दुःखका अन्य कारण विषयभोगके अन्तमें शरीर और मनपर प्रतिक्रियाजन्य विफलता है। कामादि विषयतृष्णा उत्पन्न होनेसे शरीरकी नसनसमें उत्तेजनाजनित वेग और गर्मी भर जाती है, परन्तु इन्द्रियसम्बन्धजनित भोगकार्य्य समाप्त होते ही समस्त शरीर

और मनपर वज्रपातके तुल्य उसकी जो प्रतिक्रिया होती है उससे विषयी पुरुष रतिके अन्तमें मुर्देकी तरह हो जाते हैं और जिस उन्मादके कारण सुखलेशहीन विषयमें सुखभ्रान्ति करके मत्त होकर इतना कष्ट पाते हैं उसकी चिन्ता करके अनुतापके अनलमें दग्ध होते रहते हैं। यथा महाभारतमें—

इषुप्रपातमात्रं हि स्पर्शयोगे रतिः स्मृता।
रसने दर्शने घ्राणे श्रवणे च विशांपते॥
ततोऽस्य जायते तीव्रा वेदना तत्क्षयात् पुनः।
अबुधा न प्रशंसन्ति मोक्षसुखमनुत्तमम्॥

धनुषसे वाणनिक्षेपके लिये जितनी देर लगती है उतनी ही देरका सुख कामादि इन्द्रियोंकी विषयसेवामें प्राप्त होता है। तदनन्तर दूसरे क्षण में ही सुखके क्षयमें तीव्र वेदना अनुभव होने लगती है। मूढ़ लोग विषयमें मत्त होकर अनुपम मोक्षसुखको तुच्छ देखते हैं। केवल इतना ही नहीं, श्रीभगवान् वेदव्यासके कथनानुसार रतिके अन्तमें इस प्रकार विफलता और अनुतापके बीचमें भी कामरिपु विषयीको नहीं छोड़ता है। शरीर विकल, मन दुर्बल, प्राण शुष्क, हृदय अनुतापपूर्ण और इन्द्रिय शक्तिनाशके कारण रतिक्रियामें अशक्त होनेपर भी विषयके पास रहनेसे दुर्बल चित्तमें पुनः पुनः कामपिपासा प्रबल होती रहती है। समस्त शरीरके सारभूत पदार्थ नष्ट हो जानेसे शरीर भीषण रोगग्रस्त हो जाता है तो भी कामवेग नहीं छूटता है। इसी भासको लेकर श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

जिह्वैकतोऽच्युत! विकर्षति मावितृप्ता
शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्।
घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्ति-
र्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥
यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं
कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्।
तृप्यन्ति नेह कृपणाः बहुदुःखभाजः
कण्डूतिवन्मनसिजं विषहेतु धीरः॥

जिस प्रकार किसी पुरुषकी कई एक स्त्रियाँ हों तो वे कामासक्त और परस्पर ईर्ष्यायुक्त होकर अपने पतिको कष्ट देती हैं, उसी प्रकार समस्त कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियगण विषयी पुरुषको कष्ट दिया करते हैं। उसे अतृप्त जिह्वा एक ओर खींचती है, तो दुष्ट कामेन्द्रिय दूसरी ओर खींचती है। और त्वचा, श्रवण, घ्राण, चञ्चल नेत्र तथा कर्मेन्द्रियगण भी अन्यान्य ओर खींचकर विषयी जीवको बहुत ही दुःख दिया करते हैं। जिस प्रकार शरीरमें दद्रु होनेसे उसे जितना ही खुजलाया जाय, खुजली न घटकर बढ़ने ही लगती है और अन्तमें वह स्थान क्षत-विक्षत होकर अत्यन्त कष्टप्रद हो जाता

है, उसी प्रकार विषयी पुरुष मैथुन द्वारा जो तुच्छ सुखलाभ की आशा करते हैं, उससे कामलालसा अधिक से अधिकतर बलवती होकर विषयी पुरुषको परिणाममें अनन्त दुःखमें डाल दिया करती है। इसलिये दद्रुरोगके लिये जिसप्रकार खुजलाना शांति का उपाय नहीं है; परन्तु खर्जनस्पृहाको धैर्य द्वारा सहन करके दद्रुनाशक अन्य औषधिप्रयोग करना ही शान्तिप्रद है, उसी प्रकार विषयभोगका निवारण भोग द्वारा कभी नहीं हो सकता है; परन्तु धैर्यके साथ कामादि रिपुओंके वेगको धारण करके त्याग और साधन द्वारा ही हुआ करता है। इसीलिये विष्णुपुराणमें कहा है—

यत्पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

समस्त संसारमें जितना शस्य, सुवर्ण, पश्वादि सम्पत्ति और स्त्रियाँ हैं, यदि सभी एक मनुष्यके भोगके लिये मिल जायँ तथापि तृप्ति नहीं हो सकती है। अतः जब भोग द्वारा कदापि तृप्ति और शांतिकी सम्भावना नहीं है तो त्याग द्वारा ही शांति लाभ करना उचित है। येही सब श्रीभगवान् पतञ्जलिकथित विषय सुखके साथ अवश्य होनेवाले भीषण परिणामदुःख हैं, जिनके कारण विवेकी पुरुष विषय-सुखको सदा ही दुःखमय जानकर वैराग्यका अवलम्बन करके अत्यन्त शांति और आनन्दके अधिकारी होते हैं। विषयसुख कोई तात्त्विक सुख न होकर चित्तका केवल एकप्रकार अभिमानजन्य सुख होनेसे नवीन भोग्य-वस्तुके साथ अभिमानकी भी नवीनता रहती है जिससे नवीन वस्तुमें विषयासक्तिकी वृद्धि और पुरातन तथा अभ्यस्त वस्तुमें अभिमान कम होनेसे विषयासक्ति और सुख बोधकी अल्पता हो जाती है। इसलिये विषयी स्त्री-पुरुष प्रायः एक प्रकारके भोग्य पदार्थमें बद्ध नहीं रह सकते और नवीन नवीन भोग्य पदार्थके लिये उनके हृदयोंमें तृष्णा लगी रहती है। इसीलिये विषयी पुरुष प्रायः व्यभिचारी और विषयिणी स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हुआ करती हैं। इसी भावको लेकर भर्तृहरिजीने कहा है—

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् ताञ्च तञ्च मदनञ्च इमाञ्च माञ्च॥

जिस स्त्रीके प्रति आसक्ति मेरे हृदयमें विद्यमान है, वह मुझमें आसक्त न होकर किसी दूसरे पुरुषके प्रति अनुरक्त है, वह दूसरा पुरुष भी उस स्त्रीमें आसक्त न होकर किसी अन्य स्त्रीके प्रति अनुरक्त है और मेरे ऊपर भी किसी तीसरी स्त्रीकी आसक्ति देखी जाती है; अतः इस प्रकारके मदनको धिक्कार, उस स्त्रीको, उस पुरुषको, इस स्त्रीको और मुझको भी धिक्कार है। यही विषयी स्त्री-पुरुषोंकी विषय-जनित चञ्चलवृत्ति है। इसी चञ्चलताके कारण कितना सुवर्णमय संसार जलकर खाक हो गया है; कितने शांतिमय मधुर नन्दनकानन दग्ध कंकरपूर्ण भीषण मरुभूमि बन

गये हैं, इसी चञ्चलताके कारण मायामय संसार कितने ही नित्य अनाचार, व्यभिचार, हिंसा, हत्या और आत्महत्या आदिके पापसे परिपूर्ण हो रहा है, कृतघ्नता और विश्वासघातकताकी अग्नि कितने ही हृदयकाननोंको दिवानिशि दग्ध कर रही है, इसका निर्णय कौन करेगा ? येही सब विषय-विलासके परिणाममें अवश्य होनेवाली घटनाएँ हैं। यह बात पहले ही उपासना यज्ञ नामक अध्यायमें कही गई है कि, समस्त संसारमें आनन्दमय परमात्माके व्याप्त रहनेसे संसारमें जो कुछ सुख प्राप्त होता है, वह सब आत्मासे ही उत्पन्न सुख है। सुख विषयमें नहीं है, परन्तु आत्मामें ही है। विषय केवल तन्मात्रा और इन्द्रियोंके द्वारा अन्तःकरणको एकाग्र कर देता है और उस एकाग्र अन्तःकरणमें आनन्दमय आत्माका जो प्रतिबिम्ब है उसीमें संयोगद्वारा चित्त विलीन होनेसे विषयीको सुख बोध होने लगता है। अतः जब विषयमें सुख नहीं है, और विषयसे सुख प्राप्त नहीं होता है, परतु अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्यसे ही सुख प्राप्त होता है और वह सुखप्राप्ति विषयसंयोग द्वारा चित्तकी एकाग्रता द्वारा ही संभव है तो इतने परिणामदुःखप्रद, शरीर, मन, प्राण और आत्माको कलुषित करनेवाले वैषयिक पदार्थोंके द्वारा अन्तःकरणको एकाग्र न कर परमात्माके साधन द्वारा ही चित्तकी एकाग्रताको लाभ करके अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित चैतन्य का आनन्द लाभ करना बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिताका कार्य होगा। जैसा कि पहले वर्णित किया गया है कि प्रकृति परिणामिनी होनेसे तमोगुण द्वारा वैषयिक वस्तुमें एकाग्र चित्त, इन्द्रियों की शांति द्वारा अधिक काल तक सुख भोग नहीं कर सकता है; परन्तु परक्षणमें ही रजोगुणके उदय होनेसे इन्द्रियचाञ्चल्य उत्पन्न होकर चित्तकी एकाग्रताको नष्ट कर देता है और जिससे विषयसंयोग द्वारा इन्द्रियशांतिजनित जो सुख था वह जाता रहा है। अतः संसारमें सुख लाभ करनेके लिये विषयभोग ठीक उपाय नहीं हो सकता है, परन्तु वासनानाश, त्याग और परमात्माकी उपासना ही श्रेष्ठ उपाय है। जिस भाग्यवान् पुरुषके अन्तःकरणसे वासनाका नाश हो जाता है, उसका त्यागयुक्त निर्मल अन्तःकरण कभी चञ्चल भावको प्राप्त न होकर सदा ही शांत और स्थिर रहता है। उसके शान्त अन्तःकरणमें सदा विद्यमान आनन्दमय आत्माका प्रतिबिम्ब उस संतोष रूपी अमृतसे तृप्त भाग्यवान् पुरुषको अनन्त आनन्दका अधिकारी कर दिया करता है। इसलिये आर्यशास्त्रमें भोगसे त्यागकी और वैराग्यकी इतनी महिमा गायी है। यथा महाभारतमें—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥
यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥
नात्यक्त्वा सुखमाप्नोति नात्यक्त्वा विदन्ते परम्।
नात्यक्त्वा चाभयः शेते त्यक्त्वा सर्वं सुखी भव॥

सन्तोषरूप अमृतपानसे तृप्त शान्तचित्त मनुष्यको जो सुख प्राप्त होता है, विषयतृष्णासे पीड़ित चारों ओर धावमान विषयी जीवको वह सुख कहाँसे प्राप्त हो सकता है। संसारमें कामभोगके द्वारा जो सुख होता है और स्वर्गमें विविध भोग द्वारा जो सुख प्राप्त होता है, वे सब विषयतृष्णाक्षयसे उत्पन्न सुखके षोडशांशके एकांश भी नहीं है। त्यागके बिना सुख नहीं प्राप्त होता है, त्यागके बिना परमात्माका लाभ नहीं हो सकता है, त्यागके बिना अभय होकर सो नहीं सकता है, त्यागही सकल सुखोंका निदान है। श्रीभगवान्‌ने गीताजीमें कहा है :—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥

जो मनुष्य आजीवन काम और क्रोधके वेगको धारण कर सकता है, वही सुखी और वही योगी है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

सन्तुष्टस्य निरीहस्य स्वात्मारामस्य यत्सुखम् ।
कुतस्तत्कामलोभेन धावतोऽर्थेहया दिशः ॥
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः शिवमया दिशः ।
शर्कराकण्टकादिभ्यो यथोपानत्पदः शिवम् ॥

सन्तोषी, वासनाशून्य, आत्माराम पुरुषको जो सुख है, काम और लोभादिके द्वारा प्रेरित होकर चतुर्दिशाओंमें धावमान पुरुषके भाग्यमें वह सुख कहाँ है ? जिस प्रकार जूता पहने हुए मनुष्यके लिये शर्करा (कङ्करी) हो या कण्टक हो, सर्वत्र ही जानेमें आनन्द है, उसी प्रकार सन्तोषी मनुष्यके लिये सर्वत्र ही विमल आनन्द विद्यमान है। इसलिये विवेकी पुरुष विषयसुखकी नश्वरता, तुच्छता और वासना-त्यागसे उत्पन्न सुखशान्तिकी महिमाको हृदयङ्गम कर वैराग्यभावके आश्रयसे मनुष्य-जन्मको कृतार्थ करते हैं।

जिस प्रकार कामिनीमें आसक्त होकर पूर्ववर्णनानुसार मनुष्य अनन्त परिणाम दुःखको प्राप्त करता है उसी प्रकार काञ्चनमें भी आसक्त होकर सदा तृष्णाके द्वारा पीड़ित हो उसे अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। महाभारतमें लिखा है—

अन्तो नास्ति पिपासायास्तुष्टिस्तु परमं सुखम् ।
तस्मात् सन्तोषमेवेह धनं पश्यन्ति पण्डिताः ॥

तृष्णाका अन्त नहीं है, परन्तु सन्तोष परम सुखकर है। इसलिये विवेकीगण काञ्चनको धन न समझकर सन्तोषको ही धन समझते हैं। परन्तु अर्थलोलुप तृष्णा-परायण विषयी मनुष्यके चित्तमें वह सन्तोष कैसे प्राप्त हो सकता है ? भर्तृहरिजीने कहा है:—

सन्त्यंते मम दन्तिनो मदजलप्रम्लानगण्डस्थलाः,
वातव्यायतपातिनश्च तुरगा भूयोपि लप्स्येऽपरान् ।

एतल्लब्धमिदं लभे पुनरिदं लब्धाधिकं ध्यायतां,
चिन्ताजर्जरचेतसां वत नृणां का नाम शान्ते कथाः ॥

मेरे पास अनेक मतवाले हस्ती हैं और वायुवेगसे दौड़नेवाले अनेक अश्व भी हैं और ऐसे अनेक मिलेंगे भी, यह मैंने प्राप्त किया है, इतना पाना है और इससे भी अधिक पाना चाहिये, इस प्रकार निरन्तर तृष्णापरायण चिन्तासे जर्जरचित्त मनुष्यके हृदयमें शांति किस तरहसे प्राप्त हो सकती है ? जिसको सौ रुपया प्राप्त हुआ है वह हजारके लिये इच्छा करता है, हजार मिल जाने पर लाखके लिये लालसा लगती है, लाख मिलनेपर राज्यकी लालसा होती है, राज्य मिलनेपर सम्राट् बननेकी इच्छा होती है, सम्राट् बनने पर इन्द्रत्व, ब्रह्मत्व आदिकी इच्छा होती है, इस प्रकार तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती और जिस हृदयमें तृष्णा समाप्त नहीं होती वहाँ शान्तिजनित सुखका उदय कैसे हो ? अतः संसारमें काञ्चनासक्त जीव इस प्रकारसे अनन्त दुःखको प्राप्त करते हैं। धनलोभमें उन्मत्त होकर धनसंग्रह करनेके लिये कितने प्रकारके पाप, नीच व्यवहार, विश्वासघातता, चोरी और हत्या आदिके करनेमें भी मनुष्य संकुचित नहीं होते, जिससे परिणाममें इस प्रकार लोभी और तृष्णापरायण व्यक्तिको अनन्त दुःखसमुद्रमें निमग्न होना पड़ता है। जराके आगमनसे सर्वाङ्ग जर्जर होकर समस्त इन्द्रियोंमें विकलता और शिथिलता आ जाती है। केवल तृष्णाही दिन प्रतिदिन बढ़ करके शान्तिरूपी कल्पतरुका मूलोच्छेद करती है। अज्ञानसे उत्पन्न यही तृष्णा आत्मज्ञानके उदयके विषयमें अन्धकारमयी रात्रिरूप है। रागद्वेषादि पेचक (उल्लू) समूह इसी रात्रिमें जीवरूप आकाशमें विहार करते हैं। इस तृष्णाके आगमनसे ही मानवके हृदयाकाशमेंसे विवेकज्योति एक वार ही लुप्त हो जाती है। ज्वलन्त अग्निको सुखआधार समझकर पतङ्ग जिस प्रकार उसमें प्रवेश कर जाता है, हरणी व्याधकी वीणाध्वनिसे उन्मादिनी होकर जिस प्रकार व्याधबाणसे मारी जाती है, तृष्णा पिशाचिनीकी मायामें मुग्ध होकर मनुष्यकी भी ऐसे ही दुर्दशा होती है। संसारमें जो कुछ भीषण दुःख देखा जाता है वह सब इसी तृष्णारूपी लताका फलस्वरूप है। यही तृष्णारूपिणी कुक्कुरी मनुष्यके मनोरूपगर्त्तमें रहकर अदृश्यरूपसे ही देहसे रक्त, अस्थि और मांसको भक्षण किया करती है। वर्षाकालीन नदीकी नाईं तृष्णा नदी क्षणकालके बीचमें ही वृद्धिको प्राप्त हो जाती है, पुनः क्षणकालमें कुछ नहीं रहती और पुनः तृतीय क्षणमें भीषण स्थानपर पड़कर घूमने लगती है। तृष्णा सूतसे बँधे हुए पक्षीकी तरह स्वयं घूमती है और मनुष्यको भी घुमाया करती है। इसी तृष्णाके चक्रमें पड़कर ही सौभरि मुनिको संसारी बनना पड़ा था और इसी कृष्णपिशाचिनीने ही ययाति राजाको सहस्रवर्षव्यापी भोगके दुःखका कारण कर दिया था। परिणामधर्मिणी प्रकृतिके राज्यमें सुखदुःख चक्रकी तरह घूम रहे हैं। मनुष्य जिस विषयमें तृष्णाके द्वारा बद्ध होता है वह विषय तो कभी चिरस्थायी हो नहीं सकता है अतः तृष्णाकी शान्ति न होते ही कालरूपी कुठार, जीवन वंशको काट देता है। चराचर समस्त जगत् स्वप्नलोकके सदृश अस्थिर हैं। आज जहाँ स्वर्गपुरीकी शोभा विराजमान है, कल ही यह स्थान भीषण श्मशानरूपमें

परिणत होकर पिशाच और वेतालकी नृत्यभूमि बन जाता है। बिजली चमकती है दस गुण अन्धकारके लिये, आँधी आनेसे पूर्व थोड़ी शान्ति होती है दसगुनी आँधीके लिये, बाल्यजीवनका निर्मल सुख यौवनमें स्वप्न हो जाता है, यौवनका तरल आनन्द वृद्धावस्थामें व्याधिरूपमें परिणत हो जाता है। जीवनके एक क्षणका विषयसुख द्वितीय क्षणमें दुःखजनक बन जाया करता है। मूढ़ मानव क्षण-परिणामी जगत्को न जान कर आशा और तृष्णाके मृगजलमें भूल जाता है और अन्तमें अनन्त दुःख और पश्चात्तापके कराल गालमें ग्रस्त हो जाता है। यही सब श्रीभगवान् पतञ्जलिकथित, परिणामदुःखशील विषयसुखका नित्य सहचर है, जिसके कारण मूढ़ जनोंके लिये ये सब बन्धनकारक होने पर भी विवेकी पुरुष वैराग्यका आश्रय ग्रहण करके सदाही इन सब तुच्छ सुखोंके सम्पर्कसे पृथक् रहते हैं।

आशा नाम नदी मनोरथजला तृष्णा तरङ्गाकुला,
रागग्राहवती वितर्कविहगा धैर्यद्रुमध्वंसिनी।
मोहावर्त्तसुदुस्तराऽतिगहना प्रोत्तुङ्गचिन्तातटी,
तस्याः पारगता विशुद्धमनसो नन्दन्ति योगीश्वराः॥

भोगा मेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनीचञ्चलाः,
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद् भंगुरम्।
लोला यौवनलालना तनुभृतामित्याकलय्य द्रुतं,
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद्भयम्,
माने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयम्,
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

संसारमें आशा नदीरूपिणी है, उसमें मनोरथ जलरूप और तृष्णा तरङ्गरूपा हैं जो सदा ही आशा नदीको नचाया करती है, उसमें राग मकरादि जन्तु रूपी है, कूटतर्क नदीतीरविहारी विहङ्ग हैं और धैर्य नदीतीरका वृक्ष है जिसको नदी अपने गर्भमें बहा लेती है, मोह भ्रमररूप है जिससे वह नदी अति गहन और सुदुस्तर हो रही है और चिंता उसकी उच्च तटरूप है; जिनके बीचमें आशा नदी बहा करती है। इस प्रकार आशानदीको पार कर तब योगिगण निर्मलचित्त हो ब्रह्मानन्दको लाभ करते हैं। भोग मेघ बीच बिजलीकी तरह चञ्चल है, आयु वायुसे उड़ाये मेघके जल की तरह क्षणभंगुर है, यौवनविलास अति चञ्चल और क्षणस्थायी है, ऐसा जानकर विषयविलास त्याग करके धैर्य, समाधि और सिद्धप्रद योगमें चित्तको अर्पण करना चाहिये। भोगमें रोगका भय, कुलमें कुलनाशका भय, धनमें राजाका भय, मानमें दैन्यभय, बलमें रिपुभय, रूपमें जराका भय, शास्त्रमें वाद भय, गुणमें खलसे भय

और शरीरमें यमभय, इस प्रकार संसारकी सभी वस्तुएँ भयपूर्ण हैं, केवल वैराग्य ही सर्वथा भयरहित है। इस प्रकारसे विषयसुखमें परिणामदुःखका विवेचन करके वैराग्य अवलम्बन करना उचित है।

विषयसुखके साथ सम्बद्ध परिणाम दुःखका वर्णन किया गया। अब श्रीभगवान् पतञ्जलिजीके सिद्धान्तानुसार विवेकी पुरुषको विषयसुखके साथ जो तापदुःखका अनुभव होता है सो बताया जाता है। सुखानुभवके समय प्रतिकूल विषयके प्रति जो स्वाभाविक द्वेषजनित दुःख सुखीके चित्तमें उत्पन्न होता है उसे ही तापदुःख कहते हैं। सुखके समय समसुखीको देखकर विषयी लोग ईर्ष्यान्वित होते हैं और अधिक सुखीके दर्शनसे सन्तापकी अग्निमें दग्ध होने लगते हैं। चित्तमें इस प्रकार ईर्ष्या और सन्तापके रहनेसे सुखदशामें भी विषयी मनुष्यको सुखबोध न होकर दुःखबोध ही होता है। "वह मेरे समान या मुझसे अधिक धनी क्यों रहेगा, मेरे सामने धनसम्पत्तिका दम्भ क्यों बतलावेगा, मेरे रहते हुए ऐसा कभी नहीं हो सकता है, मैं षड्यन्त्र रचकर उसका सब धन नष्ट कर दूँगा, उसे अत्यन्त विपत्तिमें अवश्य फँसा दूँगा" इत्यादि द्वेषजनित दुश्चिन्ता और कुटिल चेष्टा सुखी विषयीके चित्तमें सदा ही विद्यमान रहती है। जिससे सुखके समय भी द्वेषजनित तीव्र दुःख उसे प्राप्त होता रहता है, वह द्वेषविषसे अन्तःकरणको परिपूर्ण करके स्वयं भी कष्ट पाता है और उस द्वेषभावको चरितार्थ करनेके लिये दूसरोंको भी कष्ट दिया करता है, समसुखी वा अधिक सुखीको बदनाम या नष्ट करनेके लिये नीच कौशल, चातुरी और षड्यन्त्र-रचना करने लगता है जिसके विवेक-बुद्धिजनित तीव्र अनुताप और नरकतुल्य हृदयकी नीचताको प्राप्त करता है। किसी विषयी पुरुषके पास लक्ष्य रुपया है, वह धनमदसे मत्त होकर सुखानुभव कर रहा है, किसी विलासिनी कामिनीके अङ्गमें चार अलङ्कार हैं, वह अलंकारके अहङ्कारसे धराको तुच्छ देख रही है और समस्त स्त्रियोंको घृणादृष्टिसे देख रही है, परन्तु वह लक्ष रुपयाका आनन्द और अलङ्कारका सुख कब तक है? किसी दूसरे धनीके पास लक्षाधिक रुपया है ऐसा संवाद मिलते ही उसका वह लक्ष रुपया सुखका निदान न रहकर परम दुःखका निदान हो गया, अब उस लक्ष रुपयेको स्मरण करते ही दुःखकी अग्निमें चित्त दग्ध हो जाता है, अशान्तिकी अग्नि तुषाग्निकी तरह चित्तक्षेत्रको भीतर-भीतर दिवानिशि भस्म करती रहती है और उस विलासिनी कामिनीके लिये भी जबतक किसी अन्य स्त्रीके पास चार अलङ्कार नहीं हैं तभी तक आभूषणधारणका सुख है, परन्तु किसी दूसरी स्त्रीके शरीरमें एक और अधिक अलङ्कार देखते ही उसके वे चार अलङ्कार सुखकर न रहकर सर्पकी तरह समस्त शरीरको दंशन द्वारा जर्जरित और मनःप्राणको कलुषित करके अनन्त दुःखके समुद्रमें उस विलासिनीको निक्षिप्त कर देंगे। यही सब तापजनित दुःखका दृष्टान्त है। सुखभोगके समय इस प्रकार तापदुःखके द्वारा विषयी लोग सदा ही दुःख प्राप्त करते हैं जिससे उनका समस्त सुख दुःखरूपमें ही परिणत हो जाता है; परन्तु विवेकी पुरुष संसारमें तात्त्विक सुखके विचारसे इस प्रकार द्वन्द्वके दास न होकर वैराग्य द्वारा विषय सुखको परित्याग करके परमात्माकी उपासना द्वारा नित्यानन्दको लाभ करते हैं। जिस प्रकार संघातके

मध्यवर्त्ती परमाणुके प्रति सब ओरका आकर्षण समानरूप होनेसे वह परमाणु किसी ओर आकृष्ट न होकर मध्यस्थलमें ही रहता है, उसी प्रकार रागद्वेषविनिर्मुक्त महात्मा सर्वत्र समदर्शी होनेके कारण संसारसे निर्लिप्त होकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं और रागद्वेषमय संसार पारावारसे परे विराजमान परमात्माके सुखदुःखलेशविहीन अक्षय नित्यानन्दमें निमग्न रहते हैं। यही विषयसुखसंश्लिष्ट तापदुःख और उससे अतीत आनन्दमय दशाका वृत्तान्त है।

अब विषयसुखके साथ अवश्यम्भावी संस्कारदुःखका वर्णन किया जाता है। सर्वत्र ही आत्माके अनुकूल तथा प्रतिकूल विषयोंसे सुख और दुःख उत्पन्न होकर नाना सुखमय एवं दुःखमय संस्कार उत्पन्न करते हैं जिन संस्कारोंके चक्रमें पड़कर मनुष्य सदा ही अशान्तिमय जीवन लाभ करता है। यही विषयपरायण जीवके लिये संस्कारदुःख है। सुखदुःख चक्रकी तरह बदलते रहनेसे मनुष्यकी दशा सब समय एकसी नहीं रहती है। इसलिये अदृष्ट-चक्रमें घूमता हुआ मनुष्य जब दुःखकी दशामें आ पड़ता है उस समय सुखमय पूर्वसमयको स्मरण करके पूर्वसंस्कारजनित जो उसको दुःख होता है उसीका नाम संस्कारदुःख है। संसारमें कालकी लीला दुर्ज्ञेय है। एक अवस्थाका भोग सम्पूर्ण होते न होते ही कालके वशमें आकर जीव अवस्थान्तरको प्राप्त करता है। इस तरहसे अतृप्तचित्त जीवकी दशान्तरप्राप्ति कितनी कष्टकर है सो सभी लोग जानते हैं। यौवनकालकी अदम्य इन्द्रियप्रवृत्ति बाल्यकालके सरल जीवनके सरल आनन्दको एक बार ही नष्ट कर देती है। यौवनवासनासे दग्धचित्त युवकके लिये शिशुकालका निर्दोष आनन्द स्वप्न-स्मृतिकी तरह बन जाता है और यही स्मृतिजनित संस्कार युवाके लिये अत्यन्त दुःखका कारण बन जाता है। उसी प्रकार यौवनका विषयसुख भी जराके आगमनसे पूर्णतया नाशको प्राप्त हो जाता है। तुषाररूपी (कोहरा) वज्र जिस प्रकार कमल-दलोंका विनाश करता है, प्रचण्ड पवन जिस प्रकार शरत् कालकी वृष्टिको विदूरित करता है, वेगवती नदी जिस प्रकार तीरस्थ तरुओंको नष्ट कर देती है; उसी प्रकार विकट जरा यौवनसुलभ सुकुमार शरीरको विकृत करके किम्भूतकिमाकार बना देती है। यौवनमें जो शरीर भोगनिपुण था, वार्द्धक्यमें भोग्यवस्तुओंके सामने रहने पर भी शरीरमें भोगशक्तिके न रहनेसे समस्त भोग्य पदार्थ उसके लिये अशेष दुःखके कारण बन जाते हैं। जब जरा मनुष्यके सकल अङ्गको जजरित करके नितान्त अकर्मण्य कर देती है उस समय गृध्र जिस प्रकार अति प्राचीन वृक्षको आश्रय करता है ठीक उसी प्रकार लोभ रिपु आकर दुर्दशाग्रस्त, अकर्मण्य वृद्ध पर आक्रमण करता है। हृदयमें तापदायिनी कामना, वार्द्धक्यमें और भी वृद्धको प्राप्त होती है। "हाय! किस तरहसे मुझे स्वादिष्ट भोजन मिलेगा, यौवनमें मेरे दाँत थे, परिपाकशक्ति भी विशेष थी, कितनी वस्तु खायी जाती थी, अब कुछ भी नहीं खाया जाता है, यौवनमें मेरा शरीर सबल था, इन्द्रियाँ सबल थीं, उनके द्वारा यथेच्छ भोगविलास करता था, अब इन्द्रियभोग्य वस्तु सभी सामने रहने पर भी शक्तिहीन इन्द्रियोंके द्वारा कुछ भी भोग नहीं बन पड़ता, इस प्रकारसे पूर्वसंस्कारोंको स्मरण करके विषयी वृद्धके चित्तमें अत्यन्त चिन्ता और परिताप उत्पन्न होता है इसीका नाम संस्कारदुःख है।

इस प्रकार गुणवृत्तिविरोधसे उत्पन्न दुःखराशिके द्वारा भी विषयी लोग सदा ही उत्पीड़ित रहते हैं। प्रकृति सत्त्वरजस्तमोमयी होनेसे तदनुसार सुखदुःखमोहात्मिका है; अतः भोगदशामें परिणामिनी प्रकृतिके परिणामधर्मानुसार तीन गुणोंकी वृत्तियोंमें सदा ही परिवर्त्तन रहनेसे गुणत्रयसे उत्पन्न सुख-दुःख और मोहभावका परस्पर विरोध, विषयी पुरुषको अत्यन्त पीड़ित कर देता है। जहाँ सत्त्वगुण द्वारा सुखका सम्बन्ध, वहीं रजोगुणोत्पन्न दुःखका सम्बन्ध और वहीं तमोगुणजनित मोहका मिलन विषयभोग-दशामें सदा ही विद्यमान रहनेसे विषयी जीवको निरन्तर सुखभोग कभी नहीं मिल सकता है, अधिकन्तु सुखभोगके साथ दुःखभोग और मोहजनित विषादका सम्बन्ध रहनेसे चित्त-नदी सुख-दुःख तथा मोहरूपी भँवरके द्वारा सदा ही आलोड़ित और विध्वस्त होती रहती है। जो सुख दुःखपरिणामशील है, जिस कुम्भके ऊपर शोभा होने पर भी भीतर विष भरा है, जिस हास्यके साथ रोदन मिला हुआ है, जो सहास्य पुष्प विषादकीटसे भरा हुआ है, जो स्निग्ध पवन विष वहन करता है, जिस सुख-सौदामिनी (बिजली) का क्षणकाल प्रकाश कोटिगुण दुःखरूपी अन्धकारसे समस्त संसारको आच्छन्न करता है, उसमें विवेकी पुरुष किस प्रकारसे सुखानुभव कर सकते हैं ? यही गुणवृत्तिविरोधजनित दुःख है जिससे विवेकी लोग सांसारिक सुखको तुच्छ समझकर ब्रह्मानन्दमें निमग्न हो जाते हैं।

अविद्याजनित क्लेशका चतुर्थ कारण अनात्मामें आत्माकी भ्रान्ति है। अनात्मा अर्थात् आत्मासे अतिरिक्त स्थूल सूक्ष्म कारणरूप प्रकृति और शरीरमें आत्माको समझनेकी भ्रान्ति जीवको मायामय संसारमें बद्ध करके द्वन्द्वका दास और अनन्त दुःखके अधीन कर देती है। अविद्यामुग्ध जीव नित्यानन्दमय ब्रह्म-पदको त्यागकर अनात्मीय संसारको ही नित्य सुखका निदान समझ करके कैसे-कैसे दुःख पाते हैं सो श्रीमद्भागवत पञ्चम स्कन्धके त्रयोदश अध्यायमें भवाटवी वर्णनके प्रसङ्गमें सुन्दररूपसे वर्णित किया गया है। यथाः—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो
रजस्तमः सत्त्वविभक्तकर्मदृक्।
स एव सार्थोऽर्थपरः परिभ्रमन्,
भवाटवीं याति न शर्म विन्दते॥
यस्यामिमे षण्नरदेव! दस्यवः,
सार्थं विलुम्पन्ति कुनामकं बलात्।
गोमायवो यत्र हरन्ति सार्भकं,
प्रमत्तमाविश्य यथोरणं वृकाः॥
प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे,
कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः।

क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति,
क्वचित् क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ॥
निवासतोयद्रविणात्मबुद्धि-
स्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् ।
क्वचिच्च वात्योत्थितपांशुधूम्रा
दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ॥
कहिंस्मचित् क्षुद्ररसान् विचिन्वं-
स्तन्मक्षिकाभिर्व्यथितो विमानः ।
तत्रातिकृच्छ्रात् प्रतिलब्धमानो,
बलाद्विलुम्पन्त्यथ तं ततोऽन्ये ॥
द्रुमेषु रंस्यन् सुतदारवत्सलो,
व्यवायदीनो विवशः स्वबन्धने ।
क्वचित्प्रमादाद् गिरिकन्दरे पतन्
वल्लीं गृहीत्वा गजभीत आस्थितः ॥
अतः कथञ्चित् स विमुक्त आपदः
पुनश्च सार्थं प्रविशत्यरिन्दमः ।
अध्वन्यमुष्मिन्नजया निवेशितो,
भ्रमन् जनोऽद्यापि न वेद कश्चन ॥

त्रिगुणमयी मायाके द्वारा दुस्तर प्रवृत्तिमार्गमें पड़ कर कामना-परायण जीव संसाररूपी अरण्यमें सदा भ्रमण करता रहता है; परन्तु कदापि शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता है, इस घोर अरण्यमें छः इन्द्रिय रूपी दस्यु बलपूर्वक जीवके धर्मरूपी धनको लूटते हैं और शृगालतुल्य स्त्रीपुत्रादिगण, व्याघ्र जिस प्रकार भेड़को आकर्षण करता है उसी प्रकार संसारमदोन्मत्त जीवको चारों ओरसे आकर्षण करते हैं। वह जीव कहीं कहीं लता-तृण आदिसे आच्छादित गह्वरमें तीव्रदंशनकारी मक्षिका और मशकादिरूप काम्यकर्मादि द्वारा गंभीर गह्वररूप संसारमें दुर्जनोंके द्वारा उत्पीड़ित होता है। कहीं कहीं गन्धर्वपुरीकी तरह मिथ्या देहादिको सत्यरूपसे देखता है और कहीं कहीं अतिवेगवान् उल्कापिण्डके तुल्य काञ्चनको सुखदायक समझता है। वासस्थान और अर्थादिमें आत्मबुद्धि करके उन्हींके मोहमें दिवानिशी संसार-अरण्यमें जीव दौड़ता रहता है और कहीं कहीं कठिन आँधीसे उड़ाई हुई धूलिके द्वारा अन्ध होकर दश दिशाओंमें जीवको कुछ भी नहीं सूझता है। कभी कभी परस्त्रीरूप क्षुद्ररसमें आसक्तचित्त होकर मधुलोभसे मक्षिकादंशनतुल्य उन स्त्रियोंके पतियोंके द्वारा जीव

पीड़ित होता है और यदि क्लेशसे उसे पाता भी है, तो भी दूसरा कोई बलात्कारसे छीनकर जीवको दारुण दुःखमें डाल देता है। स्त्रीपुत्रादि दृष्ट वस्तुओंमें आसक्त, कामपिपासा द्वारा अति दीनभाव प्राप्त जीव संसारबन्धनमें विवश रहता है और गिरिकन्दरामें स्थित मृत्युभयभीत वृद्ध हस्तीके सदृश रोगादि दुःखके द्वारा जर्जरितकलेवर होकर प्राचीन कर्मका आश्रय करके उसी अरण्यमें रहा करता है। इस प्रकार घोर विपत्तियोंसे कभी उद्धार होनेपर भी वासनाके द्वारा प्रेरित होकर पुनः विपत्तिजालमें जीव विजड़ित हो जाता है। मोहमयी मायाके द्वारा प्रवृत्तिमार्गसे पतित जीव इस प्रकारसे संसार-अरण्यमें दिग्भ्रान्त होकर कदापि परमार्थ पदको प्राप्त नहीं कर सकता है। महाभारतमें लिखा है—

पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः।
सरःपंकार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव॥
निबन्धनी रज्जुरेषा या ग्रामे वसतो रतिः।
छित्त्वैतां सुकृतो यान्ति नैनां छिन्दति दुष्कृतः॥

स्त्री, पुत्र, कुटुम्बमें आसक्त होकर जीव पङ्कनिमग्न जीर्ण वनहस्ती की तरह संसारपङ्कमें मग्न होकर अत्यन्त दुःख पाते हैं। ग्रामनिवासी जनों की जो कामादि ग्राम्य कर्ममें आसक्ति है वही बन्धनकारी रज्जुतुल्य है। पुण्यात्मा लोग इस रज्जुको काट सकते हैं, परन्तु भाग्यहीन विषयी इसे काट नहीं सकता है और केवल कामही नहीं, आत्मामें आत्मभ्रान्ति उत्पन्न होने पर क्रोध, मोह, लोभ, अहङ्कार आदि सभी रिपु विषयी जीवको अत्यन्त कष्ट दिया करते हैं। श्रीभगवान्ने गीताजीमें लिखा है कि :—

"कामात् क्रोधोऽभिजायते"

कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है। कामनाकी तृप्ति न होनेसे ही अन्तःकरणमें क्रोधका उदय होता है; अतः जब संसारमें कामका अन्त नहीं है तो क्रोधका भी अन्त नहीं हो सकता है। इस क्रोधविषके द्वारा जर्जरित-हृदय जीव क्षण कालके लिये भी शान्ति लाभ नहीं कर सकता है। घूण जैसा भीतरमें रहकर पुरातन शुष्क तरुको कर्तन करता रहता है, उसी प्रकार क्रोधरिपु भी अन्तः-करणमें रहकर शान्तिवृक्षकी जड़ काटता रहता है। स्त्री-पुत्रादिके मोहमें मुग्ध होकर संसारमें जीव कितना ही दुःख भोगता है। अविद्यारूपिणी रजनीमें दुर्भेद्य मोहरूप प्रबल तुषारके द्वारा ज्ञानलोक आच्छन्न हो जानेसे शत-शत विषयरूप विकट चोरगण विवेकरूपी रत्नको हरण करनेके लिये चतुर्दिशाओंमें भ्रमण किया करते हैं। पुत्रके प्रति मोह है, उसको रात-दिन चिन्ता लगी हुई है, परन्तु हाय! पुत्र दुश्चरित्र निकला, जिस आशासे इतने परिश्रमके साथ उसे विद्याभ्यास कराया था वह आशा व्यर्थ हो गई। शायद वही पुत्र नृशंस होकर पिता-माता को ही मारता है। जिसके लिये तन-मन धनको नष्ट कर दिया था उसका यह आचरण है। इसे सोचकर क्षणिक श्मशान-वैराग्यका उदय भी होता है; परन्तु उसकी स्थिरता कहाँ है? पुनः

मोह की मधुर हँसी सब भुला देती है। प्रसवकी प्रबल यन्त्रणाएँ पुत्रकी हँसीके देखनेसे जननीको सभी विस्मृत हो जाती हैं। पुत्र पीड़ित हैं, उसके लिये माताका आहार निद्रा त्याग है, चिन्ता चित्ताकाशको आच्छन्न कर रही है, जीवन भारभूत हो गया है, शायद कभी-कभी इन सबोंसे पृथक् होना ही शान्तिप्रद जान पड़ता है, वैराग्यकी क्षीण ज्योति हृदयकन्दराको क्षणकालके लिये उद्भासित करती है; परन्तु इसकी स्थिरता कहाँ है? पुत्रकी ईषत् हास्यपूर्ण मुखछबिके देखते ही सब भूल जाता है। यही गहना मोहमहिमा है, मोहमदिराको पीकर समस्त जगत् उन्मत्त हो रहा है। इस तरहसे लोभरिपुके द्वारा आक्रान्त होकर विषयबद्ध चित्त लोभकी अतृप्ति और विषयकी क्षणभंगुरताके कारण दिवानिशि अनन्त दुःखको भोगता रहता है। शास्त्रमें लिखा है:—

लोभात्क्रोधः प्रभवति लोभात्कामः प्रजायते।
लोभान्मोहश्च नाशश्च लोभः पापस्य कारणम्॥

लोभसे क्रोध उत्पन्न होता है, लोभसे काम उत्पन्न होता है, लोभसे मोह और नाशकी प्राप्ति होती है, लोभ ही सब पापोंका कारणरूप है। इस प्रकार दम्भ और अहङ्कारके द्वारा भी जीवको संसारमें व्याधके जालविस्तारके सदृश अहङ्कार ही जीवके अन्तःकरणमें मोहिनी मायाका विस्तार करता है, अहङ्कार शान्तिरूपी, शशीके लिये राहुरूप है, अहङ्कार गुणरूप कमलसमूहके लिये तुषाररूप वज्र है, केवल अहङ्कारके द्वारा ही आकृष्टचित्त होकर जीव अनन्तजन्मपर्यन्त संसारचक्रमें घटीयंत्रवत् घूमता रहता है, अहङ्कार सांसारिक दुःखका निदानरूप है। यही सब अनात्मामें आत्म-भ्रांतिजन्य तीव्र संसार दुःख है, जिसको वैराग्य द्वारा ब्रह्मभावमें स्थितिलाभ करनेके पहले तक जीवको सदैव अनुभव करना पड़ता है। इसी विचित्र संसारगतिको देखकर ही किसी भक्तने कहा था:—

आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण ! या भूमिका,
व्योमाकाशखखाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि।
प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन् ! यद्वाञ्छितं देहि मे,
नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम्॥

हे भगवन्! नट जिस प्रकार सामाजिक जनोंको सन्तुष्ट करनेके लिये विविध वेश धारण करता है और उनके सम्मुख विविध दृश्योंको उपस्थित करता है और उसी प्रकार तुम्हारी प्रीतिके अर्थ मैंने भी आज तक चौरासी लक्ष वेश धारण एवं दृश्य-प्रदर्शन किया है। सन्तुष्ट सामाजिकोंके पाससे नट पुरस्कार प्राप्त करता है इसलिये हे भगवन्! यदि तुम मेरे द्वारा प्रदर्शित दृश्यों को देखकर सन्तुष्ट हो गये हो तो मुझे मेरा ईप्सित मुक्तिरूप पुरस्कार प्रदान करो और यदि मेरे प्रदर्शित दृश्योंसे तुम्हें प्रीति उत्पन्न नहीं हुई हो तो कहो "पुनः मेरे पास इस प्रकार दृश्य उपस्थित न करो।" यही सब विषयी जीवके लिये अवश्यभोग ऐहलौकिक दुःखराशि है। अब इस प्रकार

विषयी जीवको मृत्युकालमें तथा परलोकमें क्या-क्या दुःख प्राप्त होता है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

आजीवन विषयभोगके कारण विषयमुग्ध जीव मृत्युके समय भी उस चिन्ता-को छोड़ नहीं सकता है; क्योंकि मृत्युरूप भीषण परिवर्तनके चक्रमें आकर मानवचित्त स्वभावतः ही घबड़ाहटको पाकर कुछ दुर्बल हो जाता है और अन्तःकरण की प्रकृति ही ऐसी है कि दुर्बलचित्तमें आजीवन अभ्यस्त बलवती चिन्ता और कर्मसंस्कार उदय होकर प्रारब्धरूपमें स्थित हो जाते हैं। इस कारण विषयी जीव विषयचिन्ता करते-करते उसी चिन्ताके अनुरूप ही मृत्युके बाद गति लाभ करते हैं। श्रुतिमें लिखा है—

"प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति"

सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर और जीवात्मा चित्तमें स्थित सङ्कल्पके अनुसार ही परलोकमें निर्दिष्ट गतिको प्राप्त करते हैं। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है :—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥

जीव जिन जिन भावों का स्मरण करता हुआ स्थूलशरीरका त्याग करता है उन्हीं भावोंके अनुसार जीवको परलोकमें गति मिलती है। विषयके साथ सम्बन्ध रहनेसे मृत्युके समय जीवको जितने कष्ट होते हैं उनको चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। प्रथम क्लेशका नाम अभिनिवेश है। योगदर्शनमें लिखा है:—

"स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः"

जिसका सम्बन्ध पूर्वजन्मसे है और जो विद्वान् अविद्वान् सभीको आश्रय करता है और जिससे मृत्युभय है उसीको अभिनिवेश कहते हैं। बालक, वृद्ध सभीको मृत्युभय क्यों होता है? जो बालक मृत्युके विषयमें कुछ भी नहीं जानता है वह भी मृत्युके नामसे क्यों डरता है? इसका कारण अनुसन्धान करनेसे योगदर्शनोक्त पूर्वजन्मसंस्कार ही जान पड़ता है। मृत्यु स्थूलशरीरकी होती है, आत्माकी मृत्यु नहीं होती है, यथा—श्रुतिमें:—

"जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"

जीवात्माका एक स्थूलशरीर त्याग करके अन्य स्थूल रूप धारण करनेका जो व्यापार है, उसे ही मृत्यु तथा पुनर्जन्म कहते हैं, यथा—गीताजीमें:—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार पुरातन जीर्ण वस्त्र त्याग करके मनुष्य नूतन वस्त्र ग्रहण करता है उसी प्रकार जीवात्मा पुरातन जीर्ण शरीर त्याग करके नवीन शरीर धारण करता है। जीवात्माका वह पुरातन शरीर त्याग ही मृत्यु और नवीन शरीर ग्रहण ही पुनर्जन्म कहलाता है। मृत्युके समय जीवात्मा, कारणशरीर और सूक्ष्मशरीर जब प्राचीन

स्थूल देहका त्याग करने लगते हैं उस समय जीवको जो कष्ट होता है उसीका संस्कार सूक्ष्मशरीरमें रह जानेसे ही समस्त जीवोंको वही संस्कार मृत्यु नामसे भयोत्पादन कराता है। इसीको योगिराज पतञ्जलिजीने अभिनिवेशजन्य मृत्युभय कहा है। यह भय इतना भीषण है कि श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने संसारके पञ्च क्लेशोंका वर्णन करते समय इस भयको भी जीवराज्यका एक अवश्य भोग्य क्लेश कहा है, यथा—

"अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः"

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये संसारके पाँच क्लेश हैं। अब जीवको मृत्युके समय यह क्लेश कैसे उत्पन्न होता है सो बताया जाता है। मृत्युकालमें स्थूलशरीरके साथ सूक्ष्मशरीर, कारणशरीर और आत्माका विच्छेद होता है। जिस वस्तुके साथ बहुत दिनों तक घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है उसके साथ विच्छेदमें अवश्य ही दुःखबोध होगा। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि यदि दो खण्ड कागजोंको गोंदसे साट दिया जाय तो पुनः उन दोनोंका पृथक् करना बड़ा ही कठिन हो जाता है और बहुत बार तो वह कागज ही फट जाता है। ठीक उसी प्रकार पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और आत्मा जब विषय-वासनारूपी गोंदके द्वारा स्थूलशरीरके साथ बहुत दिनों तक फँसे हुए थे तो स्थूल शरीरसे उनके पृथक् होते समय जीवके अन्तःकरणमें भीषण दुःख बोध होगा इसमें संदेह ही क्या है! इसी दुःख का नाम मृत्युयातना है जिससे समस्त जीव डरते रहते हैं और जिसका पूर्वजन्मार्जित संस्कार सूक्ष्मशरीरमें रह जानेके हेतु जीवको मृत्युके नामसे ही डर लगता है। यही मृत्युके समयका प्रथम दुःख है जो धीर योगीके सिवाय विद्वान् अविद्वान् सभीको होता है। धीर भक्त योगीका सूक्ष्मशरीर और आत्मा विषयवासनारूप निर्यास (गोंद) से स्थूल शरीरके साथ सम्बद्ध न होकर भक्तिरूपी निर्यास द्वारा भगवान्के चरणकमलके साथ लगा हुआ होता है इसलिये मृत्युके समय उनको कोई कष्ट नहीं होता है। वे धीर होकर भगवच्चरणारविन्दमें अपने मनोमधुरको विलीन करते हुए शरीर त्याग कर सकते हैं इसलिये उनको शरीर-त्यागानन्तर उत्तमगति प्राप्त होती है। मृत्युके समय विषयी पुरुषके लिये द्वितीय दुःखका कारण 'मोह' है। जिन पुत्रकलत्रादिके प्रति आजीवन मोह था वे सब चारों ओर घिरकर रोदन करने लगते हैं। इस रोदनको सुन करके मोहग्रस्त विषयीके अन्तःकरणमें बहुत ही दुःख होता है। "हा! हम प्राणप्रिय सन्तानोंको छोड़कर कहाँ जायँगे, हमारी प्राणप्रिया अनाथिनीकी तरह रो रही है, उसको छोड़ते हुए मेरा हृदय विदीर्ण हो रहा है, हमारी मृत्युसे सबोंको अनाथ होकर रहना पड़ेगा, कितने कष्टसे इतनी सम्पत्ति मैंने कमाई थी, मकान बन रहे थे, कुछ भी भोग नहीं होने पाया, हाय! हम कैसे इन सबोंको छोड़ जायँगे" इत्यादि इत्यादि मोहमूलक चिन्ता द्वारा मुमुर्षु जीवका हृदय विदीर्ण होने लगता है। यही दूसरा दुःख है, यथा भागवतमें :—

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्मा जितेन्द्रियः।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः॥

मुमुर्षु विषयी पुरुषका तृतीय दुःख अनुतापजन्य है। मृत्युके समय विषयी जीवको निज जीवनके कुकर्मोंका स्मरण होकर अनुतापजनित अत्यन्त दुःख प्राप्त होता है। "हाय मैंने शास्त्रकी आज्ञा जानने पर भी विषयमदोन्मत्त होकर कुछ भी धर्मानुष्ठान नहीं किया, स्त्री-पुत्रादिके लिये कितनी चोरी, मिथ्या भाषण, प्रवञ्चना आदि की हैं, जिनके लिये इतना पाप किया था उनमेंसे कोई भी मेरे साथ नहीं जायगा, केवल मुझे ही एकाकी भीषण नरकमें पतित होकर समस्त पापोंका फल भोग करना पड़ेगा। हाय ! मैंने यौवनमदोन्मत्त होकर कितना व्यभिचार, सतियोंका सतीत्वनाश और भीषण पाप किया है, ये सब उस समय यौवनमदके कारण चित्त पर प्रभाव नहीं डाल सकते थे; परन्तु अब ये मेरे अन्तःकरणमें दारुण क्लेश उत्पन्न कर रहे हैं, क्या जाने इन सब पापोंके लिये मुझे कौन भीषण नरक भोगना पड़ेगा ? यौवनके अहंकारमें मत्त होकर स्वर्ग, नरक और शास्त्रादिकी ठट्ठा उड़ाया करता था, शास्त्रविरुद्ध आचरण करनेमें कुण्ठित नहीं होता था। परन्तु अब मुझको उन सब शास्त्रसम्मत विषयोंकी सत्यताकी छाया अनुभव हो रही है जिससे पूर्वकर्मजन्य दारुण दुःखप्राप्तिके भयसे चित्त भयभीत हो रहा है" इत्यादि इत्यादि पूर्व कर्मकृत अनुतापके अनलसे विषयी मुमुर्षुका चित्त दग्ध होने लगता है। बहुतसे विषयी तो इस प्रकार दुःखद्वारा अभिभूत और विकारग्रस्त होकर अपने पूर्व पापोंको विकारकी अवस्थामें बोलने लगते हैं जिससे समस्त परिवारके लोग अत्यन्त त्रासयुक्त और मर्मभेदी दुःखमें मग्न हो जाते हैं। यही मरणकालीन तृतीय दुःख है। मृत्युकालीन चतुर्थ दुःख कुछ अलौकिक और विचित्र है। यह बात विचार एवं शास्त्रसम्मत है कि मृत्युके समय मनुष्यकी प्रकृति उसी लोकके साथ एकभावापन्न हो जाती है जिस लोकमें मृत्युके अनन्तर जीवको निज कर्मानुसार जाना पड़ेगा, अतः इस प्रकार प्राकृतिक एकभावके कारण उन सब लोकोंके दृश्य उस मुमुर्षुके सामने स्वतः ही आने लगते हैं। इसी सत्य घटनाके अनुसार पापी लोग मृत्युके कुछ काल पहलेसे नारकी जीवोंको देखने लगते हैं और पुण्यात्मा लोग स्वर्गीय जीवोंको देखने लगते हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्च्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥

यज्ञफलसे दिव्य लोकके अधिकारी मनुष्यको ज्योतिष्मती आहुतिगण मृत्युकालमें सम्मुख आकर 'आओ आओ' कहकर पुकारती हैं और सूर्यरश्मि द्वारा उन्हें दिव्यलोकको ले जाती हैं, उनको मधुर वचनसे पुकारती और अर्चन भी करती हैं, यही पुण्यात्मा पुरुषका दिव्यलोकगमन है। पुराणमें भी अनेक स्थानोंमें पुण्यात्मा पुरुषके इस प्रकार दिव्य विमान पर चढ़ देवगणके साथ ऊर्द्ध्वलोकमें जानेका विवरण मिलता है। ये सब विमान और देवतादि पुण्यात्मा पुरुषको मृत्युके समय देखनेमें आते हैं। ठीक उसी प्रकार पापीको भी अधोलोक अर्थात् यमलोकके भीषणाकृति अनेक जीव मृत्युकालमें देख पड़ते हैं, यथा— श्रीमद्भागवतमें:—

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः सकृन्मूत्रं विमुञ्चति ।।

भीषण क्रोधसे रक्तलोचन यमदूतोंको मृत्यु समयमें देखकर भयभीत मुमुर्षुगण भयसे मलमूत्र त्याग कर डालते हैं। ये सब अधोलोकस्थित जीव भीषण मूर्तिके साथ पापी मुमुर्षुके सम्मुख आकर खड़े हो जाते, कोई विकट रूप दिखाते, कोई नरकका बीभत्स दृश्य दिखाते, कोई यमदण्ड हाथमें लेकर सताया करते और उसको बलात् आकर्षण करने लगते हैं। वे पापी अत्यन्त भयभीत होकर चिल्लाने लगते या मूर्छित हो जाते हैं। यही मुमुर्षु विषयीके चतुर्थ क्लेशका हेतु है। यह बात निश्चय है कि अति कठिन क्लेश प्राप्त होनेसे प्रायः मनुष्यको मूर्छा आ जाया करती है। जब तक मनुष्यका सम्बन्ध और अभिमान स्थूलशरीरके साथ रहता है तब तक अधिकांश क्लेशका प्रभाव स्थूल और सूक्ष्म दोनों ही शरीरों पर पड़नेसे एक शरीरपर क्लेशकी उतनी अधिकता प्रतीत नहीं होती, परन्तु मृत्युके समय जीवात्माका अभिमान स्थूलशरीरके साथ नष्टप्राय हो जानेसे उल्लिखित चार प्रकारके दुःखोंका प्रभाव केवल सूक्ष्मशरीर पर ही पड़ता है जिससे मुमुर्षुका सूक्ष्मशरीर अति कठिन क्लेशके आघातसे विकल तथा मूर्च्छित हो जाता है और इसी प्रकार मूर्च्छाभाव प्राप्त सूक्ष्मशरीरकी अवस्थाको ही शास्त्रमें 'प्रेतत्व' कहते हैं। यह बात अवश्य स्मरण रखनी चाहिये कि स्थूल-शरीरकी मूर्च्छाकी तरह इस मूर्च्छावस्थामें जड़ता नहीं आती है। केवल उल्लिखित मोहादि दुःखोंसे पूर्ण अभिभूत होकर प्रेत एक प्रकारके अज्ञानमूलक उन्मादकी दशाको प्राप्त करता है। कहीं-कहीं शास्त्रसे ऐसा प्रमाण मिलता है कि पूर्वशरीरको त्यागते ही जीवको दूसरा शरीर मिल जाता है। यथा श्रुतिमें—

"तद् यथा तृणजलौका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुप-संहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्या-त्मानमुपसंहरति।"

भागवतमें - देहे पञ्चत्वमापन्ने देहि कर्मानुगोऽवशः ।
देहान्तरमनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः ।।
व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति ।
तथा तृणजलौकेव देही कर्मगतिं गतः ।।

एक स्थूलशरीरके मृत होने पर अन्य स्थूलशरीर प्राप्त करके जीव पूर्णदेहको छोड़ देता है। जिस प्रकार जोंक आगेके तृणको पकड़कर पश्चात् पूर्वतृणको छोड़ देती है उसी प्रकार जीव भी आगेके शरीरके तैयार होनेपर पूर्व शरीरको त्याग देता है; परन्तु इस प्रकार पूर्व शरीर त्यागते ही अन्य शरीर-प्राप्ति तभी सम्भव हो सकती है जब जीवको विषयकल्पना आदिके फलसे प्रेतयोनि प्राप्त न हो अथवा अन्य लोकमें सूक्ष्मशरीर द्वारा भोग्य कोई प्राक्तन कर्म न हों, अन्यथा जबतक प्रेतत्व रहता

है या सूक्ष्मशरीर द्वारा स्वर्ग-नरकादिमें भोग्य अन्य कर्म रहता है तब तक पुनः इस लोकमें देह-प्राप्ति नहीं हो सकती है। इस प्रकारसे सूक्ष्मशरीरकी मूर्छा द्वारा प्रेतत्वप्राप्त जीव, जिस वासनाके द्वारा प्रेतत्वप्राप्ति हुई है उसको प्रेतयोनिमें भी नहीं छोड़ सकता है। वह वासनामुग्धचित्त होकर पागलकी तरह घूमता रहता है। अज्ञान-मय यह दीन दशा प्रेतत्वप्राप्त जीवके लिये बड़ी कष्टकर है; क्योंकि जिस तीव्रवासनाके द्वारा उसका अन्तःकरण अभिभूत होनेसे उसे प्रेतयोनि प्राप्त हुई है उसका दुःख तुषाग्निकी तरह प्रेतके हृदयमें जलता रहता है जिससे प्रेत चारों ओर तड़फता रहता है। उसको कहीं भी शान्ति नहीं मिलती है। अज्ञानके द्वारा चित्त आच्छन्न होनेसे प्रेतको पागलकी तरह अनेक समय प्रतीत नहीं होता है कि क्यों उसके चित्तमें इतनी अशान्ति हो रही है। वह अज्ञानी उन्मत्तकी तरह दुःखकी यन्त्रणासे अधीर होकर हा! हा! करता हुआ इधर-उधर भागता रहता है। प्राण क्या चाहता है, मालूम नहीं; हृदयमें क्यों अशान्ति है, पता नहीं; परन्तु दुःखकी अग्नि दिवानिशि चित्तको भस्मसात् कर रही है, इससे अधिक दुःखजनक विषय और क्या हो सकता है? कभी-कभी पूर्ववासनासे प्रेरित होकर प्रेत अपने स्त्री-पुत्रादिके पास आता है, उनके साथ पूर्व विषयवासनाके अनुसार विषयभोगादि करनेके लिये या उनको मार कर अपनी योनिमें आकर्षण करनेके लिये चेष्टा करता है, अथवा विषयवासनाकी चरितार्थताके लिये अन्य स्त्री-पुरुषोंको भी अभिभूत करनेका प्रयत्न करता है और उस प्रयत्नमें सफलकाम न होनेसे बहुतही दुःख प्राप्त करता है। कभी-कभी श्मशान आदि एकान्त स्थानमें जाकर भीतरके दाहसे रोने लगता है, तड़फने लगता है, छटपटाता है, दन्त और नख द्वारा अपने शरीरको ही क्षतविक्षत करते लगता है, केश, चक्षु आदिको उखाड़ने लगता है इत्यादि इत्यादि। पूर्ववासनाके अनुसार अनन्त दुःख प्रेतको—जब तक उस अज्ञानमयी दशासे उसकी मुक्ति नहीं होती है तब तक—प्राप्त करना पड़ता है। यही सब विषयसुखका परिणाम है। प्रेतत्व सम्बन्धीय शास्त्र और विचार-सिद्ध विस्तारित विवरण तथा श्राद्धक्रिया द्वारा प्रेतत्व नाश कैसे हो सकता है इसका भी शास्त्रसङ्गत पूर्ण वर्णन आगे के अध्यायोंमें किया जायगा।

मृत्युके अनन्तर पुनर्जन्मके पहले तक परलोकमें कर्मफल भोगनेके लिये जीवको अन्य प्रकारके शरीर प्राप्त होते हैं। प्रेतत्वका भोग भी उन्हींमें से किसी एक शरीरके द्वारा होता है। जिस मनुष्यको प्रेतत्व प्राप्त नहीं होता है और तृण-जलौकाकी तरह उसी समय जन्म भी नहीं हो जाता है उसको तथा प्रेतत्वनाशके अनन्तर यदि ऐसा कोई कर्म-संस्कार अवशेष रहे तो प्रेतयोनिसे उत्तीर्ण जीवको भी पूर्वकर्मानुसार प्राप्त देह द्वारा जो नरक और स्वर्गका भोग प्राप्त होता है उसमें भी दुःखका विशेष सम्बन्ध विद्यमान रहता है, जो क्रमशः नीचे बताया जाता है। पापकर्मके फलसे रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन आदि नरकप्राप्त नारकी जीव उन सब घृणित स्थानोंमें भीषण दुःखको भोगता है। श्रुतिने आत्मघाती पापीके लिये अन्धकारमय नरकमें यन्त्रणाभोगका निर्देश किया है, यथा:—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

आत्मघाती जनोंकी गति घोर अन्धकारमय असुरोंके गन्तव्य अधोलोकोंमें होती है। मनुसंहिताके द्वादश अध्यायमें भी लिखा है :—

यथा यथा निषेवन्ते विषयान् विषयात्मकाः ।
तथा तथा कुशलता तेषां तेषूपजायते ॥
तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः ।
सम्प्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु ॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्त्तनम् ।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च ॥
विविधाश्चैव सम्पीडाः काकोलूकैश्च भक्षणम् ।
करम्भवालुकातापान् कुम्भीपाकांश्च दारुणान् ॥
बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात् ।
संसारान् प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान् ॥

विषयमुग्ध जीव इन्द्रियोंके द्वारा जितना ही विषयभोग करता है उतनी ही भोग-कुशलता उत्पन्न होकर परलोकमें जीवोंको भीषण दुःख देती है और तामिस्र, असिपत्रवन, बन्धनच्छेदन आदि नरकमें जीवको यन्त्रणा भोगनी पड़ती है। अनेक प्रकारका पीड़न, काक, उलूक आदि द्वारा भक्षण, सन्तप्त बालुका पर गमन और कुम्भीपाक आदि भयानक नरकयन्त्रणा पापियोंको प्राप्त होती है। इस प्रकारसे बहुवर्ष तक घोर नरकयन्त्रणा भोग करने पर पापक्षयके अनन्तर पुनः संसारमें जीवका जन्म होता है।

मृत्युके पश्चात् यमलोकमें जाते समय पापीको कैसे कैसे कष्ट दिये जाते हैं सो श्रीमद्भागवतमें निम्नलिखितरूपसे बताया गया है। यथा—

यातनादेहमावृत्य पाशैर्बध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दंड्यं राजभटा यथा ॥
तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्त्तोऽघः स्वमनुस्मरन् ॥
क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलैः, सन्तप्यमानः पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्चलत्यशक्तोऽपि निराश्रयोदके ॥
तत्र तत्र पतन् श्रान्तो मूर्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तमसा यमसादनम् ॥

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्त्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥

जिस प्रकार राज-कर्मचारी अपराधी व्यक्तिको कष्ट देते हुए ले जाते हैं उसी प्रकार यमदूतगण पापीको गलेमें फाँसी लगाकर कष्ट देते हुए बहुत दूरवर्त्ती यमलोक पर्यन्त खींचकर ले जाते हैं। इस प्रकार दुःखसे भग्नहृदय यमदूतोंके सतानेसे कम्पितशरीर पापी निज पापको स्मरण करता हुआ चलता है। रास्तेमें बहुतसे कुत्ते उसे काटने लगते हैं। क्षुधा और तृष्णाके द्वारा पीड़ित प्रचण्ड-सूर्यताप, अनल और वायुके द्वारा व्यथित, तप्त बालुकापर चलनेसे सन्तप्त और पृष्ठपर कषाघात द्वारा व्यथित और बहुत दूर होनेके कारण चलनेमें असक्त होनेपर भी आश्रय और जलहीन स्थानोंमें होते हुए पापीको जाना पड़ता है। अधिक श्रम और क्लेशके कारण पापीको मूर्छा आने लगती है, परन्तु पुनः मूर्छाभंगके बाद यमदूतगण बलात् उसे खींचकर ले जाते हैं। इस तरहसे सहस्र-सहस्र योजन पथ दो-तीन मुहूर्त्तके भीतर घसीटकर ले जानेसे पापीको बड़ा ही क्लेश अनुभव होता है। यही सब दुःख यमलोक जानेके रास्तेमें पापीको मिलते हैं। तदनन्तर यमलोकमें यातनादेहके द्वारा पहुँचकर निज कुकर्मके अनुसार पापी जीवको जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी नरकयन्त्रणा मिलती है उसको श्रीमद्भागवतमें निम्नलिखितरूपसे बताया गया है :—

आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसोदनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा ॥
जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारं श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥
कृन्तनश्चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिश्रृङ्गेभ्यो रोधनश्चाम्बुगर्त्तयोः ॥
यास्तामिस्रान्धतामिस्ररौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥
अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनास्तु ताः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥

उसका समस्त शरीर अग्निशिखा द्वारा वेष्टन करके जलाया जाता है। वह कभी अपने शरीरका मांस खुद ही काटकर खाता है अथवा दूसरा कोई उसका मांस काटकर खिलाता है। कुत्ते और गीदड़ोंके द्वारा उसकी सारी अतड़ियाँ फाड़-फाड़कर निकाली जाती हैं और साँप-बिच्छू और अन्यान्य दंशक कीटोंके द्वारा वह दष्ट होकर अत्यन्त दुःख पाता है। शरीर काटकर खण्ड खण्ड कर देना, हाथियोंसे पीस डालना, पर्वतश्रृङ्गसे गिरा देना और जलपूर्ण गर्तमें बन्द कर देना

आदि अनेक यन्त्रणाएँ तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव आदि नरकोंमें स्त्री और पुरुष दोनोंको ही भोगनी पड़ती हैं। इस प्रकारसे मनुष्य लोकके अधःस्थित लोकोंमें जितनी यातनाएँ हैं सो सब निजकर्मानुसार भोग करके जीव पुनः संसारमें मनुष्ययोनिको प्राप्त करता है। नरककी इस प्रकारकी भीषण यन्त्रणाका वर्णन अन्यान्य पुराणोंमें भी मिलता हैं। यथा—

तत्राग्निना सुतीव्रेण तापितांगारभूमिना।
तन्मध्ये पापकर्माणं विमुञ्चन्ति यमानुगाः॥
स दह्यमानस्तीव्रेण वह्निना परिधावति।
पदे पदे च पादोऽस्य जायते शीर्यते पुनः॥
घटीयन्त्रेण बद्धा ये बद्धा तोयघटी यथा।
भ्राम्यन्ते मानवा रक्तमुद्गिरन्तः पुनः पुनः॥
हा मातर्भ्रातस्तातेति क्रन्दमानाः सुदुःखिताः।
दह्यमानांघ्रियुगला धरणीस्थेन वह्निना॥

कहीं तीव्र अग्निके द्वारा विशेष रूपसे उत्तप्त स्थान है उसके भीतर यमदूतगण पापीको निक्षिप्त कर देते हैं। वह पापी अग्निके द्वारा दग्ध होता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगता है और पद-पदपर उसका पाँव और शरीर जल जाता है। कहींपर पापियोंको घटी-यन्त्रकी तरह ताड़नकर एकत्र घुमाया जाता है जिससे वे सब पुनः पुनः रक्त वमन करने लगते हैं। हा मातः! हा भ्रातः! हा पितः! आदि शब्दोंसे पापी हाहाकार करने लगते हैं और भूमि पर स्थित अग्निके द्वारा उनका सारा पाँव जल जाता है। इस तरहसे कहीं दग्ध, कहीं छिन्न-भिन्न और कहीं विदीर्ण-शरीर होकर रौरव, कुम्भीपाक, असिपत्रवन, अन्धतामिस्र आदि नरकोंमें निज निज पापोंके अनुसार विषयमुग्ध पापियोंको अशेष दुःख भोगना पड़ता है। शास्त्रमें यमलोकस्थित वैतरणी नदी पार होते समय पापियोंकी जो दुर्दशा और अनुतापका वर्णन किया गया है उसके देखनेसे किसका हृत्कम्प न होगा? पापी वैतरणीमें विलाप कर रहा है, यथा :—

मया न दत्तं न हुतं हुताशने तपो न तप्तं त्रिदशा न पूजिताः।
न तीर्थसेवा विहिता विधानतो देहिन्! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥
न पूजिता विप्रगणाः सुरापगा न चाश्रिता सत्पुरुषा न सेविताः।
परोपकारा न कृताः कदाचन देहिन्! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥
जलाशयो नैव कृतो हि निर्जले मनुष्यहेतोः पशुपक्षिहेतवे।
गोविप्रवृत्त्यर्थमकारि नाण्वपि देहिन्! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥

पापी अनुतप्त होकर अपनी आत्माको सम्बोधन करके कहता है, हे देहिन्! मैंने दान, हवन, यज्ञ, तप आदि कुछ भी नहीं किया और देवपूजा और तीर्थसेवा

भी विधिके अनुसार नहीं की थी; अब अपने कर्मोंका फल भोगते हुए जो भाग्यमें है सो भोगो। मैंने ब्राह्मणोंकी पूजा नहीं की, सुरधुनी गङ्गाकी भी शरण नहीं ली, साधु-जनोंकी सेवा नहीं की और परोपकार व्रतके द्वारा भी कभी अपने जीवनको कृतार्थ नहीं किया, इसलिये हे देहिन्! अब निजकर्मानुसार तुम्हारे भाग्यमें जो है सो भोगो। मैंने निर्जल देशमें मनुष्य, पशु, पक्षियोंके पिपासा नाशके लिये कभी एक भी जलाशय नहीं खुदवाया और गो-ब्राह्मणके पोषणके लिये भी कुछ दान नहीं किया, इसलिये हे देहिन्! अब तुम्हारे भाग्यमें जो है सो भोगो। कोई पापिनी स्त्री अनुतप्ता होकर दुःख करती है—

> भर्त्तुर्मया नैव कृतं हितं वचः पतिव्रतं नैव कदापि पालितम्।
> न गौरवं क्वापि कृतं गुरूचितं देहिन्! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥
> न धर्मबुद्ध्या पतिरेव सेवितो वह्निप्रवेशो न कृतो मृते पतौ।
> वैधव्यमासाद्य तपो न सेवितं देहिन्! क्वचिन्निस्तर यत्त्वया कृतम्॥

मैंने पतिके लिये प्रिय और हितकारी वचन कभी नहीं कहा था और पाति-व्रत्य धर्मका पालन भी कदापि नहीं किया, पतिके प्रति गुरुभावसे कदापि गौरव-प्रदर्शन नहीं किया, इसलिये हे देहिन्! अब तुम्हारे भाग्यमें जो है सो ही विवश होकर भोगो! मैंने धर्मबुद्धिसे कभी पतिसेवा नहीं की और पतिकी मृत्युके बाद सहमरणके लिए अग्निप्रवेश भी नहीं किया, वैधव्य प्राप्त होनेपर तपोधर्मके अनुष्ठान द्वारा वैधव्यव्रत पालन भी नहीं किया, इसलिये हे देहिन्! अब अपने भाग्यफलको विवश होकर भोगो! यही सब विषयवासनासे प्रेरित होकर पापकर्मानुष्ठानके फलसे आतिवाहिक देहमें नरकयन्त्रणाभोगका दृष्टान्त है।

नरकका दुःख वर्णन किया गया। अब स्वर्गमें प्राप्य सुखके साथ और उसके परिणाममें जीवको जो दुःख होता है—जिस कारण दृष्ट विषयोंकी तरह आनुश्रविक विषयोंमें भी विवेकी पुरुषकी वैराग्यबुद्धि रहती है—उसका वर्णन किया जाता है। इष्टापूर्त्तादि यज्ञ करनेसे सकाम कर्मी लोगोंको किस प्रकारसे स्वर्ग प्राप्त होता है, सो छान्दोग्योपनिषद्में बताया गया है। यथाः—

> अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्त्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति। धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड् दक्षिणैति मासांस्तान्नेते संवत्सरमभि-प्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।

जो लोग इष्टापूर्त्त आदिका अनुष्ठान करते हैं वे धूमयानगतिको प्राप्त करके प्रथमतः धूमाभिमानिनी देवता, पश्चात् क्रमशः रात्रि देवता कृष्णपक्ष देवता और दक्षिणायन देवता और तदनन्तर पितृलोक, पितृलोकसे आकाश और आकाशसे चन्द्रलोकको प्राप्त होते हैं। चन्द्रलोकमें उनके भोगोपयोगी जलमय देह उत्पन्न

होती है और वे वहाँके देवताओंके भोगके उपकरण बनने पर भी अपने कर्मानुसार स्वयं भी भोग करते हैं जैसा कि, श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है—

"अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्"

स्वर्गमें वे लोग दिव्यभोगोंको भोगते हैं, परन्तु इस स्वर्गसुखभोगके भीतर भी कितने प्रकारके दुःखबीज भरे हुए हैं उनपर विचार करनेसे स्वर्गसुख दुःखरूप ही जान पड़ता है। यह बात पहले ही सिद्ध की गयी है कि शान्ति ही सुखका निदान है, प्राकृतिक चांचल्य सुखका निदान नहीं है; अतः स्वर्गवासी जीव भी जब त्रिगुणमयी प्रकृतिकी स्वाभाविक चञ्चलताके अधीन हैं तो उनको प्राकृतिक गुण-परिणामयुक्त तथा भोगचञ्चल चित्तमें शान्तिपरिणामी आनन्दकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? जिस तापदुःखके कारण इहलोकमें विषयसुख, सुखके बदले दुःखको ही उत्पन्न करता है, स्वर्गमें वही तापदुःख विशेष बलवान् है; क्योंकि कर्मके तारतम्यके कारण स्वर्गवासी जीवोंके उन कर्मोंके अनुसार सुखप्राप्तिमें भी तारतम्य है। इसीसे अधिक दिव्यसुख प्राप्त स्वर्गवासी जीवको देखकर अल्पतर दिव्यसुख प्राप्त स्वर्गवासी द्वेषाग्निमें जल मरते हैं। यह सुखभोगकालीन द्वेषजनित तापदुःख ऐहलौकिक तापदुःखकी अपेक्षा भी अधिक है; क्योंकि इहलोकसे स्वर्गलोकमें जब राग और सुख अधिक है तो उसकी प्रतिक्रियाजनित द्वेष और तापदुःख भी अधिक होगा। इस प्रकार भीषण तापदुःखके कारण स्वर्गवासी जीवोंमें निरन्तर पारस्परिक संग्राम बना रहता है जिससे स्वर्गसुख भी उनके लिये विशेष पीड़ाका कारण बन जाया करता है।

इन्द्रियभोगसुखप्रधान स्वर्गका स्वरूप समझनेके लिये स्वर्गका कुछ रहस्य यहाँ पर प्रकट करने योग्य है। स्वर्ग केवल सुखभोगप्रधान लोक है। जैसे नरक केवल दुःखभोगप्रधान लोक है उसी प्रकार स्वर्ग केवल सुखभोगप्रधान लोक है। स्वर्गमें पहुँचे हुए जीव स्वर्गमें रहते समय अपने इन्द्रिय-सुखके लिये जो कुछ इच्छा करते हैं उनको तत्क्षणात् उनके अधिकारके अनुसार भोग्य पदार्थ प्राप्त हो जाते हैं। उदाहरण रूपसे समझने योग्य है कि कोई पुरुष दो, कोई पुरुष चार, कोई ततोधिक अप्सरा रूप भोग्य विषयकी इच्छा करने पर अथवा कोई स्त्री उसी प्रकार देवताओंकी इच्छा करनेपर उनको वैसे ही भोग्य विषय प्राप्त हो जाते हैं; परन्तु वह भोग दुःखसे रहित नहीं है। उस स्वर्गीय भोगके साथ दुःखका सम्बन्ध भी रहना स्वतःसिद्ध है। अप्सरोंका अन्य स्वर्गीय व्यक्ति अथवा देवताओंकी भोग्या होना उक्त स्वर्गसुखप्राप्त पुरुषके लिये समयान्तरमें घोर ईर्षानल उत्पत्तिका कारण होगा। इसी प्रकारसे सब प्रकारके विषयोंकी क्षणभङ्गुरता और प्रबल सुखके साथ प्रबल दुःखका सम्बन्ध समझने योग्य है और यह तो निश्चय ही है कि जो व्यक्ति विषयभोगकालीन अपनी चित्तवृत्तिके द्वारा जितना सुख अनुभव करेगा उसकी विरुद्ध दशामें ईर्षा आदि क्लिष्ट वृत्तिके द्वारा आक्रान्त होनेपर वह व्यक्ति उतना ही अधिक दुःख अनुभव करेगा, इसमें संदेह नहीं। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि स्वर्गका सुख भी अन्तमें दुःखप्रद ही है। विशेषतः उच्च अवस्था होनेसे स्वर्गप्राप्त

जीवोंको नरकप्राप्त जीवोंकी अवस्था जब वे चाहें, उनको दिखाई देने लगती है। इस कारण नरकका दृश्य और नरकमें पहुँचनेका भय उनके चित्तकी सुखदशाको नाशकारी बन जाता है।

पुराणमें लिखा है :—

स्वर्गेऽपि दुःखमतुलं यदारोहणकालतः।
प्रभृत्यहं पतिष्यामि इत्येतद्धृदि वर्त्तते॥
नारकांश्चैव सम्प्रेक्ष्य महद्दुःखमवाप्यते।
एवं गतिमहं गन्तेत्यहर्निशमनिर्वृतः॥

स्वर्गमें भी बहुत दुःख है; क्योंकि वहाँ पर गमनकालसे लेकर ही पतनकी शङ्का हृदयमें रहती है। नारकी जनोंको देखकर महान् दुःख प्राप्त होता है, क्योंकि 'ऐसी गति मुझे भी मिलने वाली है' ऐसी चिन्ता और भय नारकियोंके देखनेसे स्वर्गवासी जनोंके चित्तमें उदित होता है। जिस परिणामदुःके कारण भोगकालमें भी ऐहलौकिक विषयभोग दुःखद होता है उसी परिणामदुःखका भीषण प्रकोप स्वर्गसुखभोगके साथ भी लगा हुआ है, क्योंकि स्वर्गसुखके साथ स्वर्गसे पतनभयजनित दुःखका अच्छिन्न सम्बन्ध विद्यमान रहता है। विशेषतः उन स्वर्गीय जीवोंको नरकके जीवोंकी दशा जाननेका मौका बराबर रहता है। इसलिए इस प्रकार परिणामदुःखभययुक्त सुखभोग वास्तवमें सुखदायी नहीं हो सकता है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि यदि किसी मनुष्यके सामने अपूर्व भोज्यवस्तुसमूह भोजनके लिये रक्खे जायँ, परन्तु यह कह दिया जाय कि उन दिव्य भोगोंके भोगके बाद ही उसकी मृत्यु होगी तो यह निश्चय है कि उन भोज्य वस्तुओंके प्रत्येक ग्रासके साथ सुखभोगके बदले हलाहल विष ग्रासकी तरह कष्ट उस भोक्ताको प्राप्त होगा। जिस सुकोमल शय्याके ऊपर तीक्ष्ण असि टँगी हुई है उस शय्याकी कोमलता कोमलता प्रतीत होगी अथवा कठिन कण्टकयन्त्रणाकी उत्पत्ति करेंगी, इसपर विचारवान् पुरुष विचार कर सकते हैं। इस तरहसे स्वर्गसुखके साथ परिणामदुःखचिन्ता विद्यमान रहनेसे समस्त सुख दुःखरूपमें ही परिणत हो जाता है और यह भी निःसन्देह है कि इस तरहसे जीव स्वर्गवास-कालमें विविध-भोग्यवस्तुसे युक्त होने पर भी निरन्तर पतनचिन्ता बलवती होनेके कारण जो वस्तु जितनी अधिक भोग्य है उससे उतना ही अधिक दुःख स्वर्गवासीको प्राप्त होगा, क्योंकि जिस वस्तुसे प्रीति जितनी अधिक होती है उसका वियोग भी उतना ही अधिक दुःखकर होता है। इस सिद्धान्तके अनुसार स्वर्गसुखका परिणामदुःख ऐहलौकिक सुखके परिणामदुःखकी अपेक्षा अनेक गुण अधिक होगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता है। पुनः स्वर्गभोगकालमें नारकीयोंकी नरकयन्त्रणाको स्मरण करके स्वर्गभोगियोंके चित्तमें भीषण दुःख उत्पन्न होता है; क्योंकि वे सोचने लगते हैं कि अब तो पुण्यफलरूप स्वर्गसुखभोग उनको प्राप्त हो रहा है, परन्तु इस पुण्यकर्मके बाद भोग होनेवाले कितने नरक-

यन्त्रणाप्रद तामसिककर्म उनके सर्म्माशयमें प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं इसका क्या ठिकाना है। और उन तामसिक कर्मोंके फलसे स्वर्गसुखभोगके पश्चात् उनको कौन भीषण रौरव या कुम्भीपाकयन्त्रणा भोगनी पड़ेगी इसका भी क्या ठिकाना है। इस प्रकार चिन्ता स्वर्गप्राप्त जीवके हृदयमें सदा ही विद्यमान रहनेसे सुखभोगकालमें भी स्वर्गवासीको सुख नहीं मिलता; अतः इन सब कारणोंसे सिद्ध होता है कि विवेकी पुरुषके लिये स्वर्गसुख भी तुच्छ और दुःखमय ही हैं। इन सब स्वर्ग-नरकादि उन्नत और अवनत लोकोंका विस्तारित वर्णन किसी अगले समुल्लासमें किया जायगा। इस प्रकार कर्मक्षयपर्यन्त चन्द्रलोकमें वास होकर पश्चात् स्वर्गप्राप्त जीवका चन्द्रलोकसे पतन होता है, यथा—छान्दोग्योपनिषद्में—

तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते।

जिस पुण्यकर्मके फलभोगके लिये जीव चन्द्रलोकमें जाता है, उसके फलभोगके उपरांत क्षणकालके लिये भी जीव चन्द्रलोमें ठहर नहीं सकता है; किन्तु जिस रास्तेसे ऊपर गया था उसी रास्तेसे पीछे लौटता है जो जीवके लिये अवश्य ही बहुत ही कष्टकर है; क्योंकि जिस दशा और पथको अवलम्बन करके जीव उन्नतिके मार्गमें स्वर्गलोकको पहुँचा था, उसी मार्गको अवलम्बन करके नीचे गिरते समय कष्टकी सीमा नहीं रह सकती। इस प्रकारसे स्वर्गसे पतनानन्तर तथा नरकादि दुःखभोगानन्तर सब जीव पिताके रेतः को आश्रय करके मातृगर्भमें प्रवेश करते हैं। यथा—श्रीमद्भागवतमें—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

इस प्रकारसे प्रेतयोनि तथा नरकादिमें दुःख भोगकर जीव तदनन्तर देवताओंके द्वारा सञ्चालित प्रारब्ध कर्मानुसार पुनर्देहप्राप्तिके अर्थ पुरुषके वीर्यको आश्रय करके स्त्रीके गर्भाशयमें प्रवेश करता है। जिस प्रकार कोई मनुष्य जब वृक्ष पर चढ़ता है तो उसे सम्यक् ज्ञान रहनेपर भी यदि दैवात् वृक्षसे गिर जाय तो गिरते समय पूर्ववत् ज्ञान नहीं रह सकता है। वृक्षच्युत जीवको पृथिवी माता अपनी माध्याकर्षण शक्तिके द्वारा खींच लेती है; ठीक उसी प्रकार परलोकसे कर्मक्षयके अनन्तर जब प्रारब्ध-कर्मवेगके द्वारा जीव प्रारब्धानुकूल गर्भमें आकृष्ट होता है उस समय गर्भाकृष्ट जीव हतज्ञान हो जाता है। इस प्रकारसे हतज्ञान जीव गर्भमें प्रविष्ट होकर जब तक गर्भस्थ शरीर पूर्ण न हो तब तक हतज्ञान ही रहता है और सप्तम मास में जब कि गर्भस्थ भ्रूण पूर्णावयव हो जाता है तभी जीवको अतीत और भविष्यत् कालीन समस्त घटनाओं का ज्ञान उदित हो जाता है। इसके विषयमें तथा गर्भमें धीरे-धीरे अङ्ग-प्रत्यङ्ग बननेके विषयमें निम्नलिखित प्रकारका प्रमाण गर्भोपनिषद् और श्रीमद्भागवतमें मिलता है—

कललन्त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम्।
दशाहेन तु कर्कन्धुः पेश्यण्डं वा ततः परम्॥

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्घ्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिंगच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥
चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीत कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥
मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्त्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥
कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः ॥
कटुतीक्ष्णोष्णलवणक्षाराम्लादिभिरुल्वणः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वांगोत्थितवेदनः ॥
उल्वेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥
अकल्पः स्वांगचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे ।
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात् कर्म जन्मशतोद्भवम् ॥
स्मरन् दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ।
आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः ।
नैकात्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥

एक रात्रिमें शुक्र और शोणितका मिश्रण और पाँच रात्रियोंमें मिश्रित रजोवीर्य गोलाकार हो जाता है। दस दिनोंमें वही गोलाकार पदार्थ बदरी फलकी तरह कठिन हो जाता है। तदनन्तर पेशी अथवा अन्य योनिमें मांसपिण्डके सदृश पदार्थ हो जाती है। एक मासमें मस्तक और हस्त-पदादिका विभाग होकर उत्पत्ति हो जाती है। तीन मासमें नख, रोम, अस्थि, चर्म, लिङ्ग और लिङ्ग-छिद्रका उद्भव हो जाता है। चार मासमें सप्तधातु और पाँच मासमें क्षुधा तृष्णाका उदय हो जाता है। छठे मासमें जरायुके द्वारा आवृत्त होकर गर्भस्थ शिशु माताके दक्षिण कुक्षिमें भ्रमण करता है। मातृभक्षित अन्न पानादिके द्वारा उसकी धातु पुष्ट होती है। वह विष्ठामूत्रपूर्ण जीवके उत्पत्तिस्थान गर्भरूप गर्त्तमें इस तरहसे अनिच्छापूर्वक पड़ा रहता है। उसका कोमल शरीर वहाँके क्षुधित कृमियोंके द्वारा पुनः पुनः दष्ट होता है जिससे क्षतसर्वाङ्ग उत्कटक्लेशप्राप्त वह जीव क्षण क्षणमें मूर्छित होने लगता है। मातृभक्षित कटु, तीक्ष्ण, ऊष्ण, लवण, क्षार और अम्ल आदि पदार्थके रस द्वारा संस्पृष्ट होनेसे उसके सर्वाङ्गमें तीव्र वेदना उत्पन्न होती है। वह गर्भचर्मके द्वारा तथा बहिर्देशमें अन्त्रोंके द्वारा आवृत होकर मस्तकको कुक्षिदेशमें रख विषम कष्टके साथ टेढ़ी पीठ और गले के साथ अपने अङ्गोंको थोड़ा भी हिलानेमें असमर्थ होकर

पिञ्जरबद्ध पक्षीकी तरह पड़ा रहता है। इसी समय जीवको पूर्वकर्मवशात् स्मृतिका उदय होकर प्राक्तन अनेक जन्मके विविध कर्मोंके विषय विदित होने लगते हैं जिससे जीव प्राक्तन मन्द कर्मोंको स्मरण करके बहुत ही दुःखित और अशान्तचित्त हो जाता है। सप्तम माससे लेकर लब्धज्ञान होने पर भी वह जीव गर्भस्थ कृमिकी तरह प्रसव-वायु द्वारा कम्पित होकर एक स्थानमें नहीं रह सकता है। इस समय स्मृतिप्राप्त होकर जोव देखता है कि पूर्वजन्ममें उसका कहाँ जन्म था और कैसे कैसे कार्य उसने किये थे जिनके फलसे किस प्रकारके गर्भमें उसे आना पड़ा है और इससे निकलते ही पूर्व कर्मानुसार उसे कैसा कैसा भीषण कष्ट मिलेगा। यथा—गर्भोपनिषद्में:—

पूर्वजातिं स्मरति, शुभाशुभं च कर्म विन्दति।

इस प्रकार प्राक्तन दुष्कर्मजन्य चिन्ताके द्वारा जीव अत्यन्त व्यथित और अनुतप्त होकर शोक करने लगता है। "अहो! किस भीषण पापके फलसे दुरत्यय कर्मस्रोतमें प्रवाहित होकर पराधीनकी तरह मुझे इस नरकयन्त्रणापूर्ण रौरवरूप गर्भमें आना पड़ा। हाय! मैं पूर्वजन्ममें ब्राह्मण था, परन्तु ब्राह्मणकी तरह आचरण न कर के कुसंगसे पापकर्माचरण द्वारा मुझे इस चाण्डालिनीके गर्भमें आना पड़ा है। इस नीच स्त्रीके द्वारा भक्षित तामसिक अन्नके द्वारा मेरा शरीर भी तामसिक बन रहा है जिसके फलसे आगामी जन्ममें मुझे चाण्डाल योनि प्राप्त करके और भी पापानुष्ठानकी प्रवृत्ति होगी जिसके परिणामसे और भी हीन पश्वादि जन्म मुझको प्राप्त होगा। अहो! यौवन मन्दोन्मत्त होकर शास्त्रकी आज्ञाका उल्लंघन करके मैंने कितना प्रमाद किया, धर्माधर्मका विचार न करके कितनी नरहत्या की, उस पापके फलसे मुझे इस जन्ममें हत्यारूप दण्ड प्राप्त करना पड़ेगा, मेरा पूर्व शत्रु भीषण यन्त्रणा देकर मेरी हत्या करेगा, कर्मकी प्रतिक्रियाको कौन रोक सकता है? यह सब मुझे पहले मालूम नहीं था, अब गर्भमें वे सब कर्मफल प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। मैंने कितने क्षुधातुर जीवोंको अन्न नहीं दिया था। कुमार्ग-परायण होकर अन्न, जल और सम्पत्तिका कितना ही अपव्यवहार किया था, क्षुधातुर जीर्ण भिक्षुकोंके मेरे प्रासादके द्वारपर करुण स्वरसे वारवार प्रार्थना करने पर भी धनयौवनमदोन्मत्त मेरे पाषाण हृदयमें करुणाका अंकुर उत्पन्न नहीं होता था, इन सब पापोंके फलसे इस गर्भमें प्रत्यक्ष हो रहा है कि मुझे दरिद्र भिक्षुक बनकर निरन्न निर्जल मरुमय देशमें जन्म ग्रहण करके हा अन्न, हा अन्न करते हुए दुर्भिक्षके करालग्रासमें प्राण देना पड़ेगा।" इस प्रकारसे जीव अतीत और भविष्यत् जीवनकी घटनावलियोंको स्मरण करके अत्यन्त दुःखार्त्त होने लगता है और असहायरूपसे दीनशरण श्रीभगवान्के चरणकमलमें कर जोड़कर प्रार्थना करता है। यथा—श्रीमद्-भागवतमें—

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः॥

गर्भदुःखसे सन्तप्त, भीत, सप्तधातुरूप सप्तबन्धनसे बद्ध जीव कृताञ्जलि होकर

जिसने उसे कर्मानुसार गर्भवास दुःख दिया है उसी श्रीभगवान्‌के चरण-कमलोंकी स्तुति और उनके पास प्रार्थना करने लगता है। यथा—

गर्भोपनिषद्‌में:—

पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः॥
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।
यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्॥
एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः।
अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येहं तत्पप्रद्ये नारायणम्।
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्साङ्ख्ययोगमभ्यसे।
अशुभक्षयकर्त्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्॥
यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं ध्याये ब्रह्म सनातनम्॥

मैंने पूर्व पूर्व जन्मोंमें अनेक योनियाँ प्राप्त कीं अर्थात् अनेक प्रकारके भोजन और अनेक माताओंके स्तन पान किये, पुनः पुनः जन्ममरण-चक्रमें मैं घूमता रहा। मैंने स्त्री-पुत्रादिकोंके लिये जो कुछ शुभाशुभ कर्मका अनुष्ठान किया, उन सबोंका फल मुझे ही एकाकी भोगना पड़ा और कोई भी उसके फलभोगी न बने। अहो! मैं भीषण दुःखसमुद्रमें निमग्न हूँ इससे निस्तारका कोई भी उपाय मुझे नहीं सूझ रहा है। हे महेश्वर! अबकी बार गर्भसे निकलते ही तुम्हारी ही शरण लूँगा जिससे अशुभ कर्मोंका क्षय और मुक्तिफल प्राप्त हो सकेगा। हे नारायण! अबकी बार योनिसे मुक्त होते ही तुम्हारे चरणकमलोंका आश्रय लूँगा जिससे मन्दकर्मका क्षय मुक्तिफल मुझे प्राप्त हो। अबकी बार यदि गर्भसे निकल सका तो ज्ञानयोगका अवश्य ही अभ्यास करूँगा और सनातन परब्रह्मकी साधना करूँगा जिससे पुण्य पाप क्षय होकर मोक्षप्राप्ति हो।

श्रीमद्भागवतमें भी गर्भस्थ जीवका दुःख और प्रार्थनाका वर्णन उत्तम रीतिसे किया गया है, यथाः—

तस्योपसन्निमवतुं जगदिच्छयात्त
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम्।

सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतो भयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतोऽनुरूपा ॥
देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेशः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन् स्वमासान्
निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन् कदा नु ॥
तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्ये
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥

हे भगवन्! निराश्रय भोगमुग्ध जगज्जनोंके प्रति कृपा करके उनके उद्धारार्थ आपका अवतार युग-युगमें संसारमें होता है। मैं अपने मन्द कर्मके फलसे इस प्रकार दुःसह गर्भवासदुःखमें पड़कर अनन्यशरण हो तुम्हारे ही अभय चरणकमलोंकी शरण लेता हूँ। इस गर्भरूप रक्तविष्ठामूत्रपूर्ण गर्तमें पतित और अत्यन्त दुःखितदेहान्तःकरण होकर कब इससे मेरी मुक्ति होगी इसके लिये दिन गिनता रहता हूँ। हे नारायण! अबकी बार गर्भसे निकलते ही संसार जालमें मुग्ध होकर आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार अवश्य ही करूँगा जिससे परम ब्रह्मपद प्राप्त होकर मुझे अत्यन्त दुःखमूलक मनुष्य जन्म पुनः प्राप्त न हो सके। इस प्रकारसे विलाप और प्रार्थना करते करते दस मास पूर्ण होते ही जीव गर्भसे निकलता है। यथा—श्रीमद्भागवत्में—

एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषि ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥
तेनावसृष्टः सहसा कृत्वा वाक्शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥
पतितो भुव्यसृङ् मिश्रो विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरितां गतिं गतः ॥

इस प्रकारसे प्रसवके पूर्वकालपर्यन्त श्रीभगवान्‌के पास प्रार्थना करते-करते हठात् प्रसववायु किसी दिन प्रवल होकर गर्भस्थ शिशुको घुमाकर निम्नमुख ऊर्द्ध्व-पद कर देती है जिससे वह शीशु उसी वायुके पीड़नद्वारा उसी प्रकार, ऊर्द्ध्वपद अधोमुख होकर योनियन्त्रके द्वारके द्वारा दबाये जाकर अत्यन्त क्लेशित और स्मृतिभ्रष्ट हो गर्भसे निकलता है। रक्तमयदेह और भूमिपर पतित वह जीव विष्ठाक्रमिकी तरह हिलने लगता है और गर्भस्थ समस्त ज्ञानको भूलकर इस प्रकार विपरीत गतिकी प्राप्ति के कारण रोने लगता है। गर्भोपनिषद्‌में भी लिखा है:—

अथ योनिद्वारं संप्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति ।

प्रसव वायु द्वारा सञ्चालित हो योनिद्वारमें आकर योनियन्त्रके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो महान् दुःखके साथ भूमिष्ठ होते-होते ही वैष्णवी वायुके द्वारा संस्पृष्ट होकर वह जीव गर्भस्थ कोई भी बात और पूर्व कर्म और जन्मका कोई भी विषय अथवा शुभाशुभ कर्म नहीं स्मरण कर सकता है। संसारमें देखा जाता है कि किसी कठिन रोग या दुःखके होनेसे प्रायः लोग अनेक पूर्व घटनाओंको भूल जाते हैं और आगामी नवीन घटना तथा नवीन जीवनके नवीन परिवर्तनके द्वारा भी प्राचीन संस्कार चित्ताकाशके लुप्त होकर अन्तःकरणके गम्भीर तलदेशमें प्रच्छन्न हो जाते हैं। ठीक इसी तरहसे गर्भाशयसे निकलते समय अत्यन्त कष्ट होनेसे तथा नवीन दृश्यके नवीन परिवर्तनके भीतर आजानेसे गर्भस्थितिकी अवस्थाकी प्राचीन जीवनकी सभी बातें जीवको विस्मृत हो जाती हैं। जिस वैष्णवी मोहनी मायाके द्वारा जगत् मुग्ध हो रहा है उसका तमोमय आवरण जीवके अन्तःकरण पर पड़ जानेसे जीव पूर्व विषयोंको कुछ भी स्मरण नहीं कर सकता है। केवल जो धीर योगी प्रसवकालके कठिन क्लेशमें भी धैर्यच्युत नहीं होते हैं और जिनपर वैष्णवी मायाका भी विशेष प्रभाव नहीं होता है वे ही जातिस्मर होते हैं। वामदेव आदि महर्षि इसी प्रकारसे जातिस्मर हुए थे। इसका विस्तारित रहस्य 'परलोकतत्त्व' नामक अध्यायमें बताया जायगा। इस प्रकारसे भूमिष्ठ जीव प्राक्तन समस्त विषयोंको भूलकर पुनः मोहिनी मायाकी भूलभुलैया में फँसकर पूर्व वर्णित अनन्त संसार दुःखोंको भोगते रहते हैं। मोहमदिरापानसे पागल जीव इसी प्रकारके संसारचक्रमें अनादि कालसे घूम रहा है। पुनः पुनः जन्ममरणके नाना दुःख पाकर भी जीवका चैतन्योदय नहीं हो रहा है। यही मायामय संसारकी आश्चर्यजनक वार्त्ता है जिसको धर्मराज युधिष्ठिरने यक्षराजके प्रश्नके उत्तरमें कहा था। यथा—महाभारतमें—

अस्मिन् महामोहमये कटाहे
सूर्याग्निना रात्रिदिवेंधनेन ।
मासर्तुदर्वीपरिघट्टनेन
भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता ॥

महामोहमय इस ब्रह्माण्डरूप कटाहमें समस्त जीवोंको डालकर काल नित्य उनको पकाता रहता है। इस कटाहमें जीवोंके पकानेके लिये अग्नि है सूर्य, इन्धन है रात्रि और दिन, मास और ऋतुरूपी करछुलके द्वारा ब्रह्माण्डरूपी कड़ाहमें जीवोंको हिलाकर पकाया जाता है। यही संसारकी वार्त्ता है। मूढ़ जीव निशिदिन इस तरह पकाये जाने पर भी कालकी लीला और संसारके स्वरूपको नहीं जान सकते हैं। केवल विवेकी पुरुष ही जन्मजन्मान्तरके विचारसे सभी दुःखमय जान कर संसारको

त्याग करके परम शान्तिमय परमात्माके चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करते हैं। विविध दुःखपूर्ण घोर अन्धकारमय जीवन-रजनीके दुःखमय परिणामको जानकर तत्त्वविचार द्वारा संसारसे निज चित्तवृत्तिको धीरे-धीरे उपराम करके साधनमार्गमें प्रवृत्त कर देते हैं। यही परमशान्तिप्रद वैराग्यकी महिमा है। उनका विचार इस प्रकारका होता है—

सुखाद् बहुतरं दुःखं जीविते नाऽत्र संशयः।
स्निग्धत्वं चेन्द्रियार्थेषु मोहान्मरणमप्रियम् ॥
परित्यजति यो दुःखं सुखं वाप्युभयं नरः।
अभ्येति ब्रह्म सोऽत्यन्तं न तं शोचन्ति पण्डिताः ॥
सर्वारम्भपरित्यागी निराशी निष्परिग्रहः।
येन सर्वं परित्यक्तं स विद्वान् स च पण्डितः ॥
तत्र मृत्युजरादुःखै सततं समभिद्रुतः।
संसारे पच्यते जन्तुस्तत्कथं नावबुध्यसे ॥
अहिते हितसंज्ञस्त्वमध्रुवं ध्रुवसंज्ञकः।
अनर्थे चार्थसंज्ञस्त्वं किमर्थं नावबुध्यसे ॥
यदा सर्वं परित्यज्य गन्तव्यमवशेन ते।
अनर्थे किं प्रसक्तस्त्वं स्वमर्थं नानुतिष्ठसि ॥
अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदैशिकम् ।
तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि ॥
न हि त्वां प्रस्थितं कश्चित्पृष्ठतोऽनुगमिष्यति।
सुकृतं दुष्कृतं च त्वां यास्यन्तमनुयास्यति ॥
इहलोके हि धनिनां स्वजनः स्वजनायते।
स्वजनस्तु दरिद्राणां जीवतामपि नश्यति ॥
अनुगम्य विनाशान्ते निवर्त्तन्ते हि बान्धवाः।
अग्नौ प्रक्षिप्य पुरुषं ज्ञातयः सुहृदस्तथा ॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च।
अनागत्यान्यतीतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥
अहमेको न मे कश्चिन्नाहमन्यस्य कस्यचित्।
न तं पश्यामि यस्याहं तन्न पश्यामि यो मम ॥

अस्थिस्थूणं स्नायुयुतं मांसशोणितलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गन्धं पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यज ॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा ।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनोवाचं च विद्यया ॥
प्रणयं प्रतिसंहृत्य संस्तुतेष्वितरेषु च ।
विचरेदसमुन्नद्धः स सुखी स च पण्डितः ॥

[महाभारते]

जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःखही अधिक है इसमें संशय नहीं। इन्द्रिय सम्बन्धीय विषयोंमें स्नेह-भाव और मोहके हेतु अनिवार्य मरण भी अप्रिय होता है, इसलिये जो महात्मा सुखदुःख दोनोंको ही परित्याग कर देते हैं, वेही सुख दुःखातीत नित्यानन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान हो जाते हैं। सर्वारम्भत्यागी, आशापाशनिर्मुक्त और परिग्रहशून्य होकर जिन्होंने सब कुछ त्याग दिया है वे ही विद्वान् और ब्रह्मज्ञ हैं। संसारमें जरा, मृत्यु और दुःखके द्वारा पीड़ित होकर संसारपङ्कमें जीव सड़ रहा है ऐसा देखकर भी क्यों नहीं चैतन्य होता है? अहितमें हितभ्रान्ति, अनित्यमें नित्यभ्रान्ति और अनर्थमें सार्थकताभ्रान्ति करके हे जीव! तुम दुःख पाते हो, क्यों नहीं तुम्हारा चैतन्योदय होता है? जब विवश हो समस्त संसारको छोड़कर तुम्हें यमालयमें जाना पड़ेगा तो क्यों तुम अनर्थमें आसक्त हो और परमार्थका अनुष्ठान नहीं करते हो? जहाँ पर कोई विश्राम स्थान नहीं है, कोई अवलम्बन नहीं है, पाथेय नहीं है और परिचय भी नहीं है इस प्रकारके तमोमय वन पथमें एकाकी कैसे जाओगे? तुम्हारी मृत्युके बाद तुम्हारे साथ कोई नहीं जायगा, केवल शुभाशुभकर्म्म ही साथ जायगा। स्वार्थपरतामय संसारमें जब तक धन है तभी तक आत्मीय स्वजन अपने बने रहते हैं। दरिद्र व्यक्तिके स्वजन भी पर हो जाते हैं। तुम्हारे सुहृद् और ज्ञातिगण मृत्युके बाद श्मशान पर्यंत साथ जाकर तुम्हें आग पर फेंककर लौट आवेंगे। इस तरहसे हजारों पिता-माता और सैकड़ों पुत्र-कलत्र हो गये हैं और भविष्यत्‌में भी होंगे। इनमेंसे कौन मेरे हैं और मैं भी किसका हूँ? मैं एकाकी हूँ, कोई मेरा नहीं है, मैं भी किसीका नहीं हूँ, मैं जिसका हूँ वह भी नहीं दीखता है और जो मेरा कहलाता है उसका भी पता नहीं है। हे जीव! शरीररूपी यह अनित्य गृह है जो अस्थिरूपी स्तम्भके ऊपर स्नायुसे युक्त मांस शोणितसे लिप्त चमड़ेसे ढाँककर बनाया गया है, जो दुर्गन्ध और मल मूत्रसे परिपूर्ण है तथा जरा और शोक द्वारा युक्त रोगोंका स्थान और दुःखद है,

इसको त्याग करके मुक्ति पद प्राप्त करो। इस प्रकार विचार द्वारा इहलोक और परलोकमें प्राप्त समस्त क्षणिक सुखको दुःखरूप समझ करके मनुष्य वैराग्य-वृत्तिको प्राप्त करता है। इसी वैराग्य-वृत्तिके शास्त्रकारोंने चार भेद बताये हैं जिसका वर्णन पहले ही किया गया है।

वैराग्यकी उत्पत्तिके प्रधान प्रधान कारण और वैराग्य दशाके चार भेद विस्तारित रूपसे ऊपर वर्णन किये गये हैं। अब वैराग्य-उत्पत्तिका वैज्ञानिक रहस्य कुछ कह देना उचित है। जगद्धारक धर्मकी अलौकिक गतिका रहस्य यह है कि जड़ पदार्थ क्रमशः तमकी ओर अग्रसर होकर पूर्ण तमोगुणको प्राप्त करता हुआ लयको प्राप्त होता है; परन्तु चेतन पदार्थ जीव क्रमशः तमोराज्यसे रजोगुणके राज्यमें और रजोगुणसे सत्वगुणके राज्यमें अग्रसर होता हुआ पूर्ण सत्त्वगुणको प्राप्त करके अन्तमें सत्त्वातीत होकर मुक्त हो जाता है। अतः उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज जीव अपनी तमोमयी दशाको उल्लंघन करके जब मनुष्य-योनिको प्राप्त करते हैं उस समय मनुष्यभावापन्न जीवको रजः और सत्त्वका अधिकार प्राप्त होता है। जब तक मनुष्यको रजः और सत्त्वकी मध्यम दशा प्राप्त रहती है तबतक उसकी मनोवृत्ति इन्द्रिय सुखमें ही फँसी रहती है; परन्तु उद्र्ध्वगामी जीवकी गति स्वभावतः आत्माकी ओर होनेके कारण क्रमशः उसको सत्त्वराज्यका अधिकार मिलना स्वतःसिद्ध है। सत्त्वगुणका लक्षण शान्ति और ज्ञान है। अतः उन्नत मनुष्यको क्रमशः शांतिप्रद और ज्ञानप्रद अधिकार मिलना स्वतःसिद्ध है। भाग्यवान् मनुष्य जैसे-जैसे सत्त्वमय उन्नत अधिकारको प्राप्त करता जायगा, वैसे-वैसे उसको विषयोंकी क्षणभंगुरता और वैषयिक सुखकी परिणामदुःखता अपने आप ही अनुभवमें आती जायगी। इस कारण उन्नत मनुष्यमें विषयवैराग्यका प्रकट होना स्वतःसिद्ध है। क्रमशः वह भाग्यवान् ज्ञानी व्यक्ति अध्यात्मराज्यमें जैसे-जैसे अग्रसर होता जायगा वैसे-वैसे उसको यथाक्रम मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य, अधिमात्रवैराग्य और परवैराग्यकी प्राप्ति होगी। फलतः मनुष्यत्वके उन्नत अधिकारमें वैराग्यकी उत्पत्ति होना स्वतःसिद्ध है। जिस मनुष्यने विषयोंकी क्षणभंगुरताका अनुभव नहीं किया है, जिस मनुष्यने वैषयिक सुखकी परिणामदुःखताको जान नहीं लिया है, जिस मनुष्यने वैराग्य-वृत्तिकी उत्कृष्टताका अनुभव नहीं किया है, उस मनुष्यका अधिकार अभी रजस्तमोभूमिका ही है ऐसा समझने योग्य है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंके विचारानुसार मृदुवैराग्य, मध्यवैराग्य और अधिमात्रवैराग्यकी दशाएँ रजःसत्त्वकी पहली, दूसरी और तीसरी कोटिकी हैं और केवल परवैराग्यकी अवस्था सर्वोत्तम और शुद्ध सत्त्वगुणकी है इसमें सन्देह नहीं।

योगशास्त्रमें व्युत्थान दशासे लेकर निरोधदशापर्यन्त चित्तकी पाँच भूमियाँ बताई गई हैं, यथा—मूढ़, क्षिप्त, विक्षिप्त एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी मूढ़भूमि वह कहाती है जिस समय सदसद्विचारहीन होकर आलस्य, विस्मृति आदिके वशवर्त्ती होता हुआ बे-लगाम घोड़ेकी तरह चित्त कुछसे कुछ करता रहता हो। यह भूमि

तमोगुणकी है। चित्तकी रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम क्षिप्त है। इस समय चित्त किसी एक कार्यमें लगकर बुद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है। यथा—लगामवाला घोड़ा या विचारवान् प्रवृत्तिपर मनुष्योंके चित्तकी भूमि। चित्तकी तीसरी भूमिका नाम विक्षिप्त है। यह भूमि सत्त्वगुणकी है और क्षिप्तसे विशिष्टतायुक्त होनेसे ही इसका नाम विक्षिप्त है। इस इस भूमिमें चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदिसे पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओंमें अधिक और सांसारिक जीवोंमें कभी-कभी बहुत थोड़ी देरके लिये होता है। तदनन्तर चित्तकी जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्थाकी हैं। इनमेंसे एकाग्र भूमिमें ध्याता ध्यानयोगके द्वारा ध्येयवस्तुमें चित्तको ठहरानेका प्रयत्न करता है जिसके लिये श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने यम-नियम, आसन-प्राणायामादि अष्टाङ्ग योगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्न-निद्राज्ञानालम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि पूर्वोल्लिखित कई एक असाधारण उपाय बताये हैं। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण उपायोंके द्वारा एकाग्रभूमिमें उन्नतिलाभ करके अन्तमें जब साधकके चित्तमें ध्याता ध्यान ध्येयरूपी त्रिपुटिका विलय साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्धभूमिका उदय होता है। इसी निरुद्धभूमिमें ही योगीको क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधिकी चार अवस्था प्राप्त होकर अन्तमें निर्बीज असम्प्रज्ञात समाधिकी प्राप्ति हो जाती है जिससे साधक योगी सिद्धावस्थाको लाभ करके मुक्त हो जाता है; अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्ते से ही चले योगशास्त्रकी बताई हुई एकाग्रभूमिसे निरुद्ध भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

भक्ति और योग तथा मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग नामक अध्यायोंमें साधनका लक्षण, साधनके अभ्यासका क्रम और साधनका लक्ष्य सब कुछ विस्तारित रूपसे वर्णित किये गये हैं इस कारण साधनका विस्तारित वर्णन इस अध्यायमें करनेकी आवश्यकता नहीं है केवल—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"

इस शास्त्रीय वचनके अनुसार वैराग्यके साथ अभ्यासका जो साधारण सम्बन्ध है वही साधारणतया कह देना ही यथेष्ट होगा। सो हम इस अध्यायके प्रथममें कुछ कह ही चुके हैं। अनात्मामें आत्माका बोध करके, विषयके साथ विषयीका कल्पित सम्बन्ध आरोपित करके और भ्रममूलक मिथ्या वैषयिक सुखमें ब्रह्मानन्दके आभास-सम्बन्धका अनुमान करके जो जीव विषयोंमें फँसा था उसके उस प्रबल बन्धनके काटनेके लिये सबसे प्रथम वैराग्यकी आवश्यकता है और तत्पश्चात् जितना जितना वह वैराग्यवान् अधिकारी उन्नत होता जायगा, उतना उतना ही वह उन्नतर योग और भक्तिमय उपासनारूपी साधन का अधिकारी बनता जायगा। यह हम पहले ही अन्यान्य अध्यायोंमें भली भाँति दिखा चुके हैं कि योगसाधन उपासनाका शरीर है

और भक्ति उपासनाकी प्राण है और योग और भक्तिमय उपासनाके साधनक्रमको ही शास्त्रकारोंने अभ्यास करके वर्णन किया है। उपासकके अन्तःकरणमें जो विषयबन्धन था वैराग्यभूमिके क्रमोन्नतिके साथ ही साथ जैसे-जैसे वह विषयबन्धन टूटता जायगा, वैसे-वैसे वह उपासक स्वरूपकी ओर अग्रसर होता जायगा। अभ्यास द्वारा चित्त-वृत्तियोंका स्वाभाविक निरोध करता हुआ वह भाग्यवान् व्यक्ति क्रमशः भगवद्राज्यमें अग्रसर होता रहेगा और प्रथम दशामें सविकल्प समाधि और अन्तिम दशामें निर्विकल्प समाधिको प्राप्त करके ब्रह्मसायुज्यको प्राप्त कर लेगा। यही वैराग्य और साधनका चरम लक्ष्य है।

चतुर्थ समुल्लासका सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुमका साधन वर्णन नामक चतुर्थ समुल्लास समाप्त हुआ।



पञ्चम समुल्लास

—०:❀:०—

आत्मतत्त्व

(ब्रह्म–ईश्वर–विराट् तत्त्व)

'मैं कौन हूँ' सर्वत्र दृश्यमान स्थूल प्रपञ्चसे मेरा कोई प्रभेद है या नहीं, मेरी सत्ता पञ्चभूत विकारमय संसारके नाशके साथ ही नष्ट हो जायगी अथवा इससे अतिरिक्त कोई अविनाशीभाव क्षणभंगुर विश्वके बीचमें सदाही विद्यमान रहेगा, इस प्रकारका प्रश्न न जाने किस अन्तर्लोकविहारी परोक्ष पुरुषकी कृपासे स्वतः ही जीवके हृदयमें उदित होने लगता है। विषयमदिरापानोन्मत्त जीव तमोगुणके अन्धकूपमें निमज्जित रहनेपर भी मदोन्मादकी अत्यन्त दुःखमय प्रतिक्रिया दशामें इस प्रश्नको अपनेसे पूछे बिना रह नहीं सकता। दुर्भिक्षपीड़ित भिखारी भी जीवन-संग्रामकी कठिनताकी ओर दृष्टिपात करके इस प्रश्नके उत्तरके लिये निज हृदयके भीतर टटोलता रहता है। स्नेहपाशबद्ध विरह-कातर माता-पिता भी संसारकी अनित्यताको देखकर इसी प्रश्नको अपने हृदयमें पूछते रहते हैं। प्रकृतिके उन्नत राज्यमें विचरणशील साधकके लिये तो यह विचार आध्यात्मिक जीवनका अनन्य विलासरूप ही है। अतः आत्मविचार जब समस्त जीवोंके लिये स्वतःसिद्ध वस्तु है तो आत्माके अपूर्व तत्त्वकी पर्यालोचना प्रत्येक मनुष्यको ही अवश्य कर्त्तव्य होगी इसमें संदेह ही क्या है। इसलिये प्रकृत प्रबन्धमें आत्माके विविध स्वरूपका वर्णन करते हुए आत्मा और अनात्माका प्रभेदविचार तथा उस विषयमें दार्शनिक जगत्के मतविन्यास किये जायँगे।

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य-
स्तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"

आत्माका दर्शन करना चाहिये, उनके विषयमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिये, आत्माके जाननेसे ही जीव मृत्युको अतिक्रम करके निःश्रेयसपदवी पर प्रतिष्ठा लाभ कर सकता है, घोर संसारसिन्धुसे पार होनेके लिये आत्मदर्शनके बिना और कोई भी उपाय नहीं है। इस प्रकारसे भगवती श्रुतिने गम्भीरभावसे आत्मदर्शन-की परमावश्यकताका उपदेश किया है। श्रीभगवान् मनुजीने कहा है :—

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
प्राप्यैतत् कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥
यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥

समस्त धर्मोंमें आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ धर्म है; क्योंकि इसीको प्राप्त करके द्विजगण कृतकृत्य हाते हैं, अन्यथा नहीं। अन्यान्य समस्त कर्मोंको भी परित्याग करके ब्राह्मणको आत्मज्ञान, शम और वेदाभ्यासके लिये यत्नवान् होना चाहिये। महर्षि याज्ञवल्क्य-जीने कहा है:—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम्।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

यागयज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय आदि धर्म कर्मोंमेंसे योग द्वारा आत्मदर्शन करना ही परम धर्मकार्य है। सामवेदीय तलवकारोपनिषद्में लिखा है:—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन्महति विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माँल्लोकादमृता भवन्ति॥

यदि इस संसारमें आकर आत्माका साक्षात्कार लाभ हुआ तभी मनुष्यजन्म सार्थक है; अन्यथा जीवको जननमरणचक्रमें बहुत ही कष्ट उठाना पड़ेगा। इसलिये धीर योगिगण सर्वत्र आत्माकी अद्वितीय सत्ताको उपलब्ध करके दृश्यप्रपञ्चसे अतीत होकर अमृतत्व लाभ करते हैं। श्रीभगवान् शंकराचार्यने कहा है—

लब्ध्वा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं
तत्रापि पुँस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स आत्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्॥

अनेक कष्टसे दुर्लभ मनुष्यजन्म और उसमें भी पुरुषशरीर तथा वेदविद्याको प्राप्त करके जो मूढ़बुद्धि मानव आत्माके उद्धारके लिये प्रयत्न नहीं करता है, वह आत्मघाती है। नीतिशास्त्रकारोंने भी कहा है:—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

कुलकी रक्षाके लिये एकको, ग्रामके लिये कुलको, देशके लिये ग्रामको और आत्माके लिये पृथ्वीको त्याग करें; क्योंकि श्रुतिमें कहा है:—

'तदेतत् प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मत्सर्वस्मादन्तरतरो यदयमात्मा'

हृदयविहारी आत्मा पुत्र, धन, जन और संसारके समस्त वस्तुओंसे प्रिय है। इसीलिए श्रीभगवान्ने गीताजीमें आत्माके उद्धारके लिए आज्ञा की है। यथा:—

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

आत्माके द्वारा आत्माका उद्धार करना चाहिये, आत्माको अवसादग्रस्त नहीं करना चाहिये। इस प्रकारसे श्रुतिस्मृत्यादि समस्त शास्त्रोंमें एकवाक्य हो

आत्मदर्शन और आत्मतत्त्वान्वेषणकी प्रशंसा की है। अब नीचे आत्माके अस्तित्वके विरोधी मतमतान्तरोंका निराकरण करके स्थूल, सूक्ष्म, कारण प्रकृति तथा पञ्चकोषसे अतीत, निष्कल, निरञ्जन, नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव आत्माका यथार्थ स्वरूपका प्रतिपादन किया जाता है।

संसारमें कोई भी शब्द निरर्थक नहीं है। शब्द भावका ही प्रकाशक होनेके कारण प्रत्येक शब्दके मूलमें कोई न कोई भाव या अर्थ है। अतः आत्मन् और अहं शब्दका भी कोई न कोई अर्थ होगा। साधारणतः नैयायिक आचार्योंके मतमें आत्मा अहंप्रत्ययगम्य है। अहं यह अनुभव आत्मविषयक है। घटपटादि अहंप्रत्ययगम्य नहीं है, यह स्पष्ट ही विदित होता है। 'अहमिदं जानामि' यह अनुभव सर्वजनप्रसिद्ध है। इस अनुभवसे निश्चय होता है कि, अहं और इदम् एक पदार्थ नहीं है। मैं और यह, भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं। 'मैं' ज्ञानका कर्त्ता है और 'यह' ज्ञानका विषय है। मैं 'यह जानता हूँ' इसमें 'मैं' ज्ञाता है और 'यह' ज्ञेय है। ज्ञाता और ज्ञेय एक पदार्थ नहीं हो सकते। अतः जो अहं प्रत्ययका विषय है वही आत्मा है। 'अहमस्मि'–मैं हूँ, इस सर्वजनप्रसिद्ध अनुभवसे ही आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि आत्मा न होता 'नाहमस्मि'–मैं नहीं हूँ, इस प्रकार अनुभवकी तथा 'अहमस्मि न वा'–मैं हूँ या नहीं—इस प्रकार सन्देहकी भी सम्भावना रहती सो कहीं नहीं देखनेमें आती है, अतः आत्माका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। अनुभव द्वारा स्वतःसिद्ध आत्माका निराकरण नहीं हो सकता है; क्योंकि जो निराकरण करनेवाला है वही आत्मा है; निराकर्त्ता नहीं, परन्तु निराकरण हो रहा है अथवा निराकर्त्ता अपना ही निराकरण कर रहा है इससे अधिक हास्यजनक बात और क्या हो सकती है? अतः आत्मा स्वतःसिद्ध है। श्रुतिमें कहा है:—

"न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।"

सबके लिये सब प्रिय नहीं होता है; परन्तु आत्माके लिये ही सब प्रिय होता है। विषयमें प्रीति आत्माके लिये ही होती है। यदि आत्मा न होता तो किसके लिये विषयमें प्रीति होती? इष्टसाधनता-ज्ञान ही प्रवृत्तिका हेतु है। इससे मेरी इष्टसिद्धि होगी, इस प्रकार ज्ञान न होनेसे किसीकी किसी विषयमें प्रवृत्ति नहीं होती है। इस ज्ञानमें 'मेरी इष्टसिद्धि' इस बातके द्वारा आत्माका अस्तित्व प्रतिपन्न हो रहा है। आत्मा है नहीं, परन्तु आत्माकी इष्टसिद्धि होगी इस प्रकार ज्ञान असम्भव है। जिनको ज्ञान हो रहा है कि, इष्टसिद्धि होगी वही आत्मा है। और भी विचार करनेकी बात है कि, ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाधीन होकर सिद्ध होता है। लोग ज्ञेय पदार्थके ही जाननेकी इच्छा करते हैं, ज्ञानके जाननेकी इच्छा नहीं करते हैं। अतः ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध है। ज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध होनेसे ज्ञाता अत्यन्त प्रसिद्ध होगा, क्योंकि ज्ञाता है नहीं, परन्तु ज्ञान है; ऐसा हो नहीं सकता है अतः आत्मा स्वतःप्रसिद्ध है। आत्मा है, इस विषयमें प्रमाण क्या है? इस प्रकार प्रश्न भी अकिञ्चित्कर है; क्योंकि आत्माका अस्तित्व स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध विषयमें प्रमाण निष्प्रयोजन है। आत्माको

अस्तित्व प्रमाणाधीन नहीं है; क्योंकि आत्माके विना प्रमाणका प्रमाणत्व ही नहीं हो सकता है। प्रमाका जो करण है उसे प्रमाण कहते हैं। यथार्थ अनुभवका नाम प्रमा है। अनुभविताके विना अनुभव नहीं हो सकता है। अनुभवके बिना प्रमाणका प्रमाणत्व नहीं है, अतः प्रमाणमें प्रवृत्ति अनुभविता आत्माके अधीन है। आत्माके न होनेसे प्रमाणमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। जिस आत्माकी कृपासे प्रमाणका प्रमाणत्व है वह आत्मा प्रमाणके अधीन होकर सिद्ध नहीं है, परन्तु प्रमाणके पहले ही सिद्ध है। प्रमाण प्रमेय-व्यवहार आत्माके प्रयोजनसम्पादनके लिये है। आत्मा स्वतःसिद्ध है। आत्माके अस्तित्वके विषयमें प्रमाण क्या है, इस प्रकारके प्रश्नके द्वारा ही आत्माका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है; क्योंकि इसमें प्रश्नकर्त्ता ही आत्मा है। प्रश्नकर्त्ता है नहीं, परन्तु प्रश्न हो रहा है इस प्रकार कहना सर्वथा असम्भव है। वादीके अस्तित्वके बिना वाद प्रतिवाद नहीं चल सकता है अतः आत्माका नास्तित्व प्रमाण हो नहीं सकता, क्योंकि जो आत्माका नास्तित्व प्रमाण करना चाहेगा वही आत्मा है। अतः शून्यवाद विज्ञान मिथ्या कपोलकल्पना मात्र है और आत्माका अस्तित्व सर्वजनप्रसिद्ध स्वतःसिद्ध अविसम्वादित सत्य है।

सांख्यदर्शनकारने कहा है:—

"अस्त्यात्मा नास्तित्वसाधकाभावात्"

आत्मा है; क्योंकि आत्मा है नहीं—इसका कोई प्रमाण नहीं है। प्रमाणाभावसे नास्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता है। नास्तित्व सिद्ध न होनेसे ही तद्विपरीत अस्तित्वकी सिद्धि होती है; क्योंकि अस्तित्व और नास्तित्व परस्पर विरुद्ध हैं। उनमेंसे एकके अभावमें दूसरा अवश्य ही सिद्ध होगा। अतः आत्माका अस्तित्व सिद्ध है; परन्तु आत्माका अस्तित्व सिद्ध होने पर भी 'कोऽहम्'–मैं कौन हूँ–इस प्रश्नके अनेक प्रकारके उत्तर संसारमें पाये जाते हैं। अतः प्रसङ्गोपात्त कुछ कुछ मतोंपर विवेचन करके आत्माका यथार्थ स्वरूप निर्णय करना आवश्यकीय है। भूतचैतन्यवादी चार्वाकके मतमें स्थूल शरीर ही आत्मा है, यथा:—

अत्र चत्वारि भूतानि भूमिवार्यनलानिलाः।
चतुर्भ्यः खलु भूतेभ्यश्चैतन्यमुपजायते॥
किण्वादिभ्यः समेतेभ्यो द्रव्येभ्यो मदशक्तिवत्।
अहं स्थूलः कृशोऽस्मीति सामानाधिकरण्यतः॥
देहः स्थौल्यादियोगाच्च स एवाऽऽत्मा न चापरः।
मम देहोऽयमित्युक्तिः संभवेदौपचारिकी॥

पृथिवी, जल, अग्नि और वायु संसारमें ये ही चार भूत हैं, जिनके मेलसे चैतन्य उत्पन्न होता है। जिस प्रकार तण्डुलचूर्णादि सम्मिलित होकर मद्यरूपमें परिणत होनेसे उसमें मद शक्तिका आविर्भाव हो जाता है, ठीक उसी प्रकार चार भूतोंके मेलसे शरीर बनने पर उसमें चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। 'मैं स्थूल हूँ', 'कृश

हूँ' इत्यादि अनुभव द्वारा देह ही आत्मा है, ऐसा सिद्ध होता है; क्योंकि इस प्रकारके अनुभव द्वारा चेतना और रूपका सामानाधिकरण्य प्रतीत हो रहा है। मेरा यह शरीर है, इस प्रकार कहना औपचारिक वचन मात्र है। इस प्रकारसे नास्तिक चार्वाकने स्थूल शरीरको ही आत्मा कहा है। आजकलके पश्चिमी अनेक नास्तिक पण्डितोंने अनेक नास्तिक मत प्रचार किये हैं सो सब इसी सिद्धान्तसे मिले हुए हैं। अब नीचे इस भ्रान्तिका निराकरण किया जाता है।

यदि 'स्थूलोऽहं जानामि, गौरोऽहं जानामि' इत्यादि प्रयोगके देखनेसे शरीरको आत्मा कहना युक्तियुक्त है, तो 'अन्धोऽहं जानामि, बधिरोऽहं जानामि' इत्यादि वचनों द्वारा इन्द्रियोंको आत्मा क्यों नहीं कहा जायगा? तात्पर्य यह है कि उस प्रकारकी कल्पनाओंके द्वारा देह आत्मा है या इन्द्रिय आत्मा हैं इसका निर्णय ही नहीं हो सकता। प्रत्युत इसमें एकके अनेक आत्मा होनेकी भ्रांति हो सकती है। इस प्रकार दोनों प्रत्यक्ष विषयोंके बीचमें चार्वाकके लिये यह निर्णय करना दुःसाध्य होगा कि, शरीर और इन्द्रियोंमेंसे कौन आत्मा है। पक्षान्तरमें 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ' इस प्रकार अनुभवकी तरह 'मेरा शरीर स्थूल हो रहा है या कृश हो रहा है' इस प्रकारके अनुभव भी प्रत्यक्षसिद्ध हैं, जिससे देहातिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है। अतः विचारकी तराजूपर तौलनेसे यह प्रतिपादित होता है कि, जिस अनुभव पर निर्भर करके चार्वाकने देहको ही आत्मा कहनेका साहस किया है वह अनुभवप्रमाण कोटिमें कुछ भी प्रतिष्ठा पाने योग्य नहीं है। प्रमाणके अभावसे प्रमेय सिद्ध नहीं हो सकता है। अतः चार्वाकका देहात्मवाद असिद्ध है। चार्वाककी द्वितीय युक्ति यह है कि, जिस प्रकार तण्डुलचूर्णादिकोंमें मदशक्तिके न रहने पर भी उसके सम्मेलन द्वारा मद्य बनने पर उसमें मदशक्तिका आविर्भाव हो जाता है, ठीक उसी प्रकार चार भूतोंमें चैतन्य न रहने पर भी उनके मेल होनेसे चैतन्यका आविर्भाव हो जाता है। इस युक्तिका उत्तर यह है कि, जिन पदार्थोंके मेलसे मद्य उत्पन्न होता है यदि उनमें मदशक्ति कुछ भी न होगी तो उनके मेलसे कदापि मदशक्ति उत्पन्न नहीं हो सकेगी। तिलके निष्पेषणसे ही तैल निकलता है, बालुके निष्पेषणसे तैल उत्पन्न नहीं हो सकता है। तिलमें अव्यक्त रूपसे जो तैल भीतर रहता है वही निष्पेषण द्वारा बाहर निकल आता है। बालुमें तैल है नहीं इसलिए पीसने पर भी तैल नहीं निकल सकता। श्रीगीताजीमें कहा है:-

"नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।"

असत् वस्तुका भाव नहीं है और सद्वस्तुका अभाव भी नहीं है। जिसमें जो वस्तु नहीं है उससे वह कभी नहीं निकल सकती है। इसमें प्रश्न यह हो सकता है कि, हरिद्रा और चूना दोनोंमेंसे किसीमें भी लालिमा नहीं है, परन्तु इनके मेलसे लाल रङ्ग कैसे उत्पन्न हो जाता है? उसी प्रकार तण्डुलचूर्णादिमें मदशक्ति न रहने पर भी उनके मेल होनेसे मदशक्ति उत्पन्न हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि, हरिद्रा और चूनेमें अव्यक्त रूपसे भी लौहित्य नहीं है यह बात मिथ्या है। क्योंकि जिस प्रकार शब्दमयी सृष्टि सातों स्वरोंके ही सम्बन्धसे प्रकट होती है।

उसी प्रकार रूपमयी सृष्टिमें स्वाभाविक सातों रङ्गका होना स्वतःसिद्ध है। ये सब बातें आधुनिक पदार्थविज्ञान (Science) से भी सिद्ध हैं। उन सात रङ्गोंमेंसे किसीमें कोई रङ्ग व्यक्त और किसीमें अव्यक्त रहता है इतना ही भेद मात्र है। अतः हरिद्रा और चूनेके मेलसे नवीन रूपसे लाल रङ्ग उत्पन्न नहीं होता है; उनमें अव्यक्त रूपसे जो लाल रङ्ग था संयोगके द्वारा वही प्रकट हो जाता है। अतः चार्वाककी यह भी कल्पना मिथ्या निकली। जिस कारणके साथ जिस कार्यका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, उस कारणके द्वारा उस कार्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती है। सांख्यदर्शनकारने कहा है:—

"मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टेः सांहत्ये तदुद्भवः।"

प्रत्येक कणमें मदशक्ति है नहीं, परन्तु उनके मिलनेसे मदशक्ति आगई ऐसा नहीं हो सकता। अधिकन्तु तण्डुलचूर्णादि प्रत्येक वस्तुमें सूक्ष्मरूपसे मदशक्तिकी स्थिति रहनेसे ही उनके मेलसे उस शक्तिका आविर्भाव देखनेमें आता है।

"स्वल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका।"

वस्तु थोड़ी थोड़ीसी होने पर भी उनके मेलसे बड़ी शक्ति उत्पन्न होकर बड़ा कार्य-साधन हो सकता है। उसी प्रकार प्रत्येक तण्डुलादि कणमें थोड़ी-थोड़ी मदशक्ति रहने पर ही उनके मेलसे अधिक मदशक्ति प्रकट होकर नशा उत्पन्न कर देती है और यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध भी है। साधारणतः देखा जाता है कि अन्न खानेसे कुछ नशासा मालूम पड़ता है। वह तण्डुलकणमें मदशक्तिके अन्तर्निहित रहनेका ही फल है। परन्तु तण्डुलकणोंकी तरह चार भूतोंमेंसे किसीमें भी चैतन्य देखा नहीं जाता है और न सूक्ष्म रूपसे उनमें चैतन्यकी स्थिति प्रमाणित ही हो सकती है; अतः जब प्रत्येक भूतमें चैतन्यकी व्यक्त या अव्यक्त किसी प्रकारकी स्थिति नहीं है तो उनके मेलसे चैतन्यकी उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। यदि प्रत्येक चैतन्यमें भूत होता तो भूगर्भप्रोथित शवदेहकी मिट्टी हो जाने पर उसमें भी चैतन्य देखनेमें आता सो नहीं आता है; अतः चार्वाककी भूतचैतन्यवादकल्पना सर्वथा मिथ्या है। सांख्य और वैशेषिक आचार्यगण और भी कहते हैं कि चार्वाकके मतानुसार भूतपरिणामजात देहमें चैतन्यकी कल्पना करनेसे देहोत्पत्तिकारी प्रत्येक परमाणुमें चैतन्यकी कल्पना करनी पड़ेगी, परन्तु ऐसा होनेसे एक शरीरमें अनेक चैतन्यका समावेश स्वीकार करना पड़ेगा सो बहुत ही गौरवग्रस्त है। प्रत्येक मनुष्य अपनेको-एकही जानता है, अनेक नहीं जानता है। मैं एक व्यक्ति हूँ, यही सबका ज्ञान है। इस दशामें प्रत्येक व्यक्तिका अनेकत्व समर्थन करना उन्माद और निर्बुद्धिताका परिचय मात्र है। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु एक शरीरमें अनेक चैतन्यका समावेश होनेसे शरीर या तो उन्मथित हो जायगा या निष्क्रिय हो जायगा; क्योंकि अनेक चैतन्योंका ऐकमत्य प्रायः देखनेमें नहीं आता है, चैतन्य-भेदसे मतभेद हुआ ही करता है। अतः किसी मनुष्यके भिन्न-भिन्न अङ्गोंको पकड़कर यदि दो-चार मनुष्य खींचें तो जिस प्रकार उसका शरीर उन्मथित हो

जाता है ठीक उसी प्रकार एक शरीर-स्थित अनेक चैतन्योंके अनैक्यसे शरीर उन्मथित हो जायगा। द्वितीयतः यदि उस प्रकारका चारों ओरसे आकर्षण विषमबल हो तो शरीर उन्मथित न होकर निष्क्रिय हो जायगा; क्योंकि सब ओरका बल समान होनेसे शरीर किसीकी ओर आकृष्ट न होकर बीचमें ही खड़ा रह कर निष्क्रिय हो जायगा। एकही कालमें अनेक प्रभुओंके परस्परविरुद्ध-आज्ञाप्राप्त भृत्यके लिये तूष्णीम्भाव अवलम्बन करनेके अतिरिक्त और गत्यन्तर क्या हो सकता है ? अतः भूतचैतन्यवाद सर्वथा भ्रमयुक्त है, इसमें अणुमात्र भी सन्देह नहीं है। भूतचैतन्यवादीके प्रति यह भी जिज्ञास्य हो सकता है कि चैतन्य देहका स्वाभाविक धर्म है या आगन्तुक धर्म ? देह भूतोंकी समष्टिसे उत्पन्न होता है। चैतन्य उसका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता है। सांख्यकारने कहा है :—

"न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः।"

चैतन्य देहका स्वाभाविक धर्म नहीं है क्योंकि प्रत्येक भूतमें चैतन्य देखा नहीं जाता है। जो भूतका स्वाभाविक धर्म होता है वह भूतसमष्टिकी तरह प्रत्येक भूतमें भी रहता है; परन्तु चैतन्य भूतसमष्टिरूप शरीरमें ही उपलब्ध होता है, प्रत्येक भूतमें उपलब्ध नहीं होता है; अतः चैतन्य देहका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता है। सांख्यकार और भी कहते हैं :—

"प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च"

चैतन्य देहका स्वाभाविक धर्म होनेसे किसीकी मृत्यु नहीं हो सकती है। चैतन्यके अभावके बिना मृत्यु नहीं होती। चैतन्य देहका यदि स्वाभाविक धर्म हो तो देहसे उसका अभाव नहीं हो सकता। क्योंकि स्वाभाविक धर्म यावद्द्रव्यभावी हुआ करता है; परन्तु संसारमें जीवोंकी मृत्यु देखी जाती है; अतः चैतन्य शरीरका स्वाभाविक धर्म नहीं हो सकता है। द्वितीयतः चैतन्यको देहका आगन्तुक धर्म स्वीकार करनेसे चार्वाकका मत स्वयं ही खण्डित हो जाता है, क्योंकि चैतन्य देहका आगन्तुक धर्म होनेसे चैतन्यके आविर्भावके लिये देहसे अतिरिक्त किसी पदार्थकी सहायता अपेक्षित होगी और देहमें चैतन्य लानेके लिये देहसे अतिरिक्त वह पदार्थ भी चेतन ही होगा, इसमें भी कोई सन्देह नहीं रह सकता है; क्योंकि देह चैतन्यवादीके मतमें देह ही चेतनका कारण होनेसे जिस प्रकार देहको चेतन कहा गया है उसी प्रकार देहातिरिक्त वह पदार्थ भी देहमें चैतन्य उत्पादनका कारणरूप होनेसे अचेतन नहीं हो सकता है; अतः इस प्रकारके विचारद्वारा चार्वाककी कल्पना सम्पूर्ण मिथ्या जान पड़ती है। सांख्यदर्शनकारने लिखा है:—

"संहतपरार्थत्वात्।"

संहत पदार्थ अन्य किसीका प्रयोजनसाधक होता है। गृह, शय्या, आसन आदि संहत पदार्थ होनेके कारण दूसरेके और गृहपतिके प्रयोजन सिद्ध करनेके लिए होते हैं; उसी प्रकार शरीर भी संहत पदार्थ है; अतः शरीरको भी परार्थ होना चाहिए। शरीर परार्थ होनेसे चेतन नहीं हो सकता है। शरीरसे अतिरिक्त और

कोई चेतन पदार्थ होगा जिसका प्रयोजन अचेतन शरीर सिद्ध करेगा; क्योंकि अचेतन पदार्थका अपना प्रयोजन नहीं रहता, वह दूसरे चेतन पदार्थका प्रयोजन सिद्ध करता है; अतः शरीर चेतन नहीं हो सकता है। शरीर चेतन होनेसे परार्थ नहीं होता, क्योंकि चेतन स्वतन्त्र है, किसी परके अर्थ उसकी प्रवृत्ति नहीं होती है इसलिये अचेतन शरीर जिस चेतनका प्रयोजन सिद्ध करता है वह शरीरसे भिन्न असंहत आत्मा है यह सिद्ध हुआ। शरीरमें जो चेतनाकी प्रतीति होती है वह जवाकुसुमसन्निधानहेतु स्फटिक लौहित्यकी तरह चेतन आत्माके सान्निध्यके द्वारा प्रकट होती है, परन्तु वास्तवमें संहत शरीर अचेतन है और असंहत आत्मा ही चेतन है। सांख्यदर्शनमें लिखा है—

"भोक्तुरधिष्ठानाद्भोगायतननिर्माणमन्यथा पूतिभावप्रसंगात्"

भोक्ता आत्माके अधिष्ठानहेतु ही गर्भमें भोगायतनरूप शरीरका निर्माण होता है, अन्यथा शुक्रशोणित सड़ जायगा। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः॥

दैवप्रेरित कर्मके द्वारा चालित होकर जीव पुनर्जन्मग्रहणके लिए पुरुषका रेतःकण आश्रय करके स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है। जरायुमें इस प्रकार मिश्रित शुक्रशोणितके भीतर जीवात्माके रहनेसे शुक्रशोणितके क्रमपरिणाम द्वारा जरायुमें जीवशरीरकी उत्पत्ति और वृद्धि होने लगती है। यदि आत्मा उसमें न रहता तो शुक्रशोणित सड़ जाता, उसमेंसे जीवशरीरकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। जब तक शरीरमें आत्माकी स्थिति रहती है तब तक शरीर नहीं सड़ता। आत्माके शरीरसे निकलते ही मृत शरीर सड़ने लगता है। श्रुतिमें कहा है—

"जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।"

जीवात्मा नहीं मरता है, जीवात्मासे परित्यक्त स्थूल शरीर ही मर जाता है। वृक्ष आदिके शरीरमें जब तक जीवात्मा रहता है तब तक भग्नक्षत संरोहण होता है अर्थात् कोई शाखा टूट जाने पर उसके स्थानमें नवीन शाखा निकलती है। वृक्षके मर जानेपर अर्थात् उसमेंसे आत्माके निकल जानेपर कदापि ऐसा नहीं हो सकता। उसी प्रकार जीवित मनुष्य, पशु आदिके शरीरमें भी क्षतस्थान पुनः पूर्ण हो जाता है। शरीरसे आत्माके निकल जानेपर कभी ऐसा नहीं हो सकता है; अधिकन्तु शरीर सड़कर अकर्मण्य हो जाता है; अतः गर्भमें जीवशरीरकी पुष्टि और संसारमें स्थूलशरीरकी रक्षाके लिए स्थूलशरीरसे अतिरिक्त कोई चेतन आत्मा है, यह सिद्ध हुआ। यह शास्त्र और अनुभवसिद्ध सत्य है कि मनुष्य स्वप्नमें देवशरीर परिग्रह करके देवोचित भोगोंका अनुभव करता है। स्वप्नमें अन्धव्यक्ति भी अपनेको कभी-कभी पद्मचक्षु देखता है और पंगु भी कभी अपनेको कमलचरण समझता है। पलितकेश, गलितदन्त वृद्ध भी अपने को नवयौवनसम्पन्न समझ कर प्रसन्न हो जाता है, इस प्रकार स्वप्न दुर्लभ नहीं है। स्वप्नसे जाग्रत होनेपर स्वप्नदृष्ट-व्यापारकी

स्मृति रहती है। देहात्मवादमें कभी ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि इन सब स्थानोंमें स्वप्नदेह और जाग्रत्‌देह एक नहीं हैं, भिन्न-भिन्न हैं। जिस देहमें स्वप्नानुभव हुआ था, जाग्रत दशामें वह देह नहीं है। जाग्रत अवस्थामें वह पहलेकी तरह अन्ध, पंगु या वृद्ध है; परन्तु ऐसा होने पर भी जाग्रदवस्थामें स्वप्नावस्थाका स्मरण होता है। यदि देह ही आत्मा हो तो, स्वप्नदेह और जाग्रद्‌देहके भिन्न-भिन्न होनेसे स्वप्नावस्थाका आत्मा और जाग्रदवस्थाका आत्मा भिन्न-भिन्न होगा। इसलिये जाग्रदवस्थामें उन सब स्वप्नदृष्ट विषयोंकी स्मृति नहीं रह सकती, परन्तु स्मरणकर्त्ता स्वप्नदेह और जाग्रद्‌देहमें भेद अनुभव करने पर भी अपनेको अभिन्नरूपसे दोनों ही देहमें अनुस्यूत समझता है; अतः इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवके द्वारा सम्यक् सिद्ध होता है कि आत्मा देह नहीं है, परन्तु देहसे अतिरिक्त पदार्थ है। केवल स्वप्नावस्थाकी बात ही क्यों, परन्तु देहात्मवादमें पूर्वदिनका अनुभूत विषय परदिन स्मरण नहीं हो सकता है; क्योंकि पूर्व दिनका शरीर परदिनमें नहीं है। शरीर प्रतिक्षण परिणामी है। यह बात पाश्चात्य विज्ञानसे भी सिद्ध है कि कुछ दिनोंके बाद शरीरके परमाणु बदल जाते हैं और बाल्यकालका शरीर यौवनमें नहीं रहता है और यौवनका शरीर वार्द्धक्यमें नहीं रहता है। देह आत्मा होनेसे बाल्यकालमें जो अनुभविता है सो यौवनमें नहीं रहता और यौवनका अनुभविता वार्द्धक्यमें नहीं रहता, अतः बाल्यकालका अनुभूत विषय यौवनमें स्मरण नहीं हो सकता है और यौवनका अनुभूत विषय वार्द्धक्यमें स्मरण नहीं रह सकता है; परन्तु इस प्रकार अनुभव प्रत्यक्षसिद्ध है। यथा—

योऽहं बाल्ये पितरावन्वभवं स एव स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामि।"

जो मैं बाल्यकालमें पिता-माताका दर्शन करता था सो ही मैं वृद्धावस्थामें पौत्रोंका दर्शन कर रहा हूँ, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवका अपलाप नहीं कर सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि बाल्यशरीर, यौवनशरीर और वृद्धशरीरके भिन्न-भिन्न होने पर भी उन तीनोंसे अतिरिक्त—परन्तु उन तीनोंमें एक रूपसे व्याप्त कोई पृथक् पदार्थ है जिसने इन भिन्न-भिन्न दशाओंका अनुभव किया है, वह पृथक् पदार्थ देहातिरिक्त चेतन आत्मा है। योगसिद्ध पुरुष योगैश्वर्य प्राप्त करके परकाय प्रवेश कर सकते हैं, यह विषय योगशास्त्रीय सत्य और प्रत्यक्षसिद्ध भी है, किन्तु देहात्म-वादमें ऐसा नहीं हो सकता है, क्योंकि एक स्थूल शरीरका उस प्रकारसे दूसरे स्थूल-शरीरमें प्रवेश करना असम्भव है। अतः परकायप्रवेशमें जो वस्तु अन्य देहमें प्रवेश करती है वह स्थूलशरीरसे अतिरिक्त कोई सूक्ष्म वस्तु है। वही सूक्ष्म वस्तु देहाति-रिक्त आत्मा और सूक्ष्मशरीर है जो मृत्युके अनन्तर भी देहसे देहान्तरको ग्रहण करता है। सद्योजात शिशुकी स्तन्यपानप्रवृत्ति, भयानक दृश्य देखने पर भयका सञ्चार आदि प्रत्यक्षसिद्ध अनेक विषय पूर्वजन्मसे उत्पन्न संस्कारको सूचित करते हैं। जिसका पूर्वजन्म हुआ था वह स्थूलशरीर नहीं हो सकता है, उससे अतिरिक्त सूक्ष्म पदार्थ अवश्य है जो भिन्न-भिन्न स्थूलशरीरको कर्मानुसार ग्रहण करता रहता है।

वही सूक्ष्म पदार्थ देहातिरिक्त आत्मा है। इन सब पर ऊपर लिखित प्रमाण और युक्तियोंसे चार्वाकका देहात्मवाद सम्पूर्ण मिथ्या है यह सिद्धान्त हो गया। इसीलिए श्रीभगवान् शंकराचार्यने स्वप्रणीत अपरोक्षानुभूतिमें वर्णन किया है :—

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो नियम्यो बाह्यकः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥
आत्मा नित्यो हि सद्रूपो देहोऽनित्यो ह्यसन्मयः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम्॥

आत्मा निष्कल और अद्वितीय है, परन्तु शरीर अन्नमयादि अनेक कोषोंके द्वारा आवृत है। इन दोनोंको जो एक समझता है उससे अज्ञानी और कौन हो सकता है? आत्मा नियामक और अन्तर्जगत्सम्बन्धीय है, परन्तु देह नियम्य और बाह्यजगत्की वस्तु है। इन दोनोंको जो एक समझता है उससे अज्ञानी और कौन हो सकता है? आत्मा ज्ञानमय और शुद्ध है, परन्तु देह मांसमय और अशुद्ध है। इन दोनोंको जो एक समझता है उससे अज्ञानी और कौन हो सकता है? आत्मा प्रकाशक और स्वच्छ है, परन्तु देह प्रकाशहीन तमोभावापन्न है। इन दोनोंको जो एक समझता है उससे अज्ञानी और कौन हो सकता है? आत्मा नित्य और सद्रूप है, परन्तु देह अनित्य और असद्रूप है। इन दोनोंको जो एक समझता है उससे अज्ञानी और कौन हो सकता है? अतः स्थूलशरीरको आत्मा समझना सम्पूर्ण भ्रान्तियुक्त है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

आत्मा स्थूलशरीर नहीं है, यह सिद्धान्त प्रतिपन्न हुआ; परन्तु इससे भी आत्माके यथार्थ स्वरूपके विषयमें समस्त सन्देह निराकृत नहीं होते हैं; क्योंकि देहातिरिक्त आत्मवादियोंके बीचमें भी अनेक मतभेद पाये जाते हैं। किसी किसीकी यह सम्मति है कि आत्मा देह नहीं है यह बात सत्य है; परन्तु आत्मा इससे अतिरिक्त कोई अन्य पदार्थ नहीं है। देहाधिष्ठित इन्द्रिय ही आत्मा है। "मैं देखता हूँ", "मैं सुनता हूँ" इत्यादि अनुभव स्वतःसिद्ध हैं। चक्षुरिन्द्रियके विना दर्शन नहीं होता है और कर्णेन्द्रियके विना श्रवण नहीं होता है; अतः इस प्रकारके अनुभवके अनुसार चक्षुरादि इन्द्रिय ही आत्मा होना चाहिये। इन्द्रियोंसे अतिरिक्त आत्माका अस्तित्व विवाद-ग्रस्त है। इन्द्रियात्मवादिगण और भी कहते हैं कि पारस्परिक श्रेष्ठता प्रतिपादनके लिये इन्द्रियगणका विवाद श्रुतिसिद्ध हैं जिससे निश्चय होता है, कि इन्द्रियगण चेतन हैं;

क्योंकि अचेतन वस्तुओंका विवाद सम्भव नहीं है; अतः जब इन्द्रियगण स्वयं ही चेतन हैं तो इनसे अतिरिक्त चेतनान्तरकी कल्पना निरर्थक है, अतः इन्द्रिय ही आत्मा है। अब इस प्रकारके पूर्वपक्षका निराकरण क्रमशः नीचे किया जाता है।

इन्द्रियात्मवादकी भित्ति नितान्त अकिञ्चित्कर है, "मैं देखता हूँ", "मैं सुनता हूँ" इत्यादि अनुभव इसका मूल है, परन्तु "मैं देखता हूँ" इस प्रकार अनुभवके द्वारा चक्षुरिन्द्रियका आत्मत्व प्रतिपन्न नहीं होता है। "मैं दर्शन ज्ञानका आश्रय हूँ" इतना ही प्रतिपन्न होता है। "मैं कौन हूँ, चक्षु या चक्षुसे अतिरिक्त और कोई पदार्थ हूँ" इस प्रकारका ज्ञान उक्त अनुभवके द्वारा प्रतिपन्न नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रियके बिना दर्शन नहीं होता, इसलिये यदि चक्षुरिन्द्रियको दर्शनका कर्त्ता कहना हो तो अग्निके बिना पाक नहीं होता है इससे अग्निको भी पाकका कर्त्ता कहना चाहिये, परन्तु इस प्रकारकी कल्पना सर्वथा मिथ्या है। पक्षान्तरमें जिसप्रकार चक्षुरिन्द्रियके बिना दर्शन नहीं होता है इसलिये चक्षुरिन्द्रियको दर्शनका कर्त्ता कहा जाता है, उसी प्रकार द्रष्टव्य विषयके बिना भी दर्शन नहीं होता है, इसलिये द्रष्टव्य विषयको भी दर्शनका कर्त्ता कहना चाहिये, परन्तु ऐसा कहना सर्वथा अयौक्तिक है, अतः सिद्ध हुआ कि कारण होनेसे ही कर्त्ता नहीं होता है। चक्षुरिन्द्रिय दर्शनका करण है, परन्तु कर्त्ता नहीं है और कर्त्ता न होनेसे आत्मा भी नहीं है। जो वस्तु दर्शनका कर्त्ता है, वही आत्मा है। कर्त्ता करणकी सहायतासे कार्य्य सम्पादन करता है। पाचक अग्निकी सहायतासे पाक करता है। हन्ता अस्त्रकी सहायतासे हनन करता है। जिसकी सहायतासे कार्य्य सम्पादन होता है वह करण है और जो कार्य्य सम्पादन करता है वह कर्त्ता है। इस तरहसे विचार करनेपर सिद्धान्त होगा कि चक्षुरिन्द्रिय दर्शनका करण है और उससे भिन्न आत्मा दर्शनका कर्त्ता है। करण कर्त्ता नहीं हो सकता है इसलिये इन्द्रिय आत्मा नहीं हो सकती है। इन्द्रियोंको आत्मा माननेसे एक शरीरमें अनेक आत्माको अंगीकार करना पड़ेगा, क्योंकि उसमें "मैं जाता हूँ" इसलिये चरण आत्मा है; "मैं सुनता हूँ" इसलिये कर्ण आत्मा है, "मैं देखता हूँ" इसलिये चक्षु आत्मा है, इस प्रकारसे समस्त ज्ञानेन्द्रियों और समस्त कर्मेन्द्रियोंको पृथक् पृथक् आत्मा स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार स्वीकार करना केवल गौरवग्रस्त ही नहीं है अधिकन्तु इस प्रकारसे एक शरीरमें अनेक आत्मा होनेसे, जैसा कि देहात्मवादके खण्डनप्रसंगमें बताया गया है, शरीर या तो उन्मथित हो जायगा या निष्क्रिय हो जायगा; अतः इन्द्रियात्मवाद मिथ्या है। चक्षुरिन्द्रिय दर्शनका कर्त्ता होने पर किसी वस्तुके दर्शनके बाद चक्षु विनिष्ट होनेसे पूर्वदृष्ट वस्तुका स्मरण नहीं हो सकता है, क्योंकि चक्षु जब द्रष्टा है तो स्मर्ता भी चक्षु ही होगा। जो जिस विषयको देखता है वही उस विषयका स्मरण कर सकता है; अतः चक्षु नष्ट होनेके अनन्तर कर्णादि अन्यान्य चेतन रहने पर भी पूर्व दृष्ट वस्तुका स्मरण नहीं हो सकता है, क्योंकि चक्षु ही ने देखा था, कर्णादिकोंने नहीं। परन्तु ऐसा नहीं होता है, पूर्वदृष्ट विषय चक्षुनाशके बाद भी स्मरण रहता है, अतः इन्द्रियात्मवादनिराकृत है। चक्षुरादि इन्द्रियसंहत पदार्थ हैं। संहत पदार्थ

परार्थ होता है। इस विषयको देहात्मवादनिराकरण प्रसंगमें पहले ही कहा जा चुका है, अतः चक्षुरादि इन्द्रिय परार्थ हैं, वहीं पर आत्मा है। चक्षुरादि इन्द्रिय आत्मा नहीं है, इनके आत्मा होनेसे 'चक्षुषा पश्यति' चक्षुके द्वारा देखता है, इस प्रकार व्यपदेश नहीं हो सकता है। इस प्रकार व्यपदेशके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, चक्षुरादि इन्द्रिय दर्शनादि व्यापारके करण हैं, कर्त्ता नहीं है। कर्त्ता कोई दूसरा ही पदार्थ है।

"यदहमद्राक्षं तदेवाहं स्पृशामि"

मैंने पहले जो देखा था उसीको अब स्पर्श करता हूँ, इस प्रकार का अनुभव सर्वजनप्रसिद्ध है, परन्तु इंद्रियात्मवादमें इस प्रकारका अनुभव कदापि प्रतिपादित नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें दर्शनकर्त्ता चक्षु और स्पर्शनकर्त्ता त्वगिन्द्रिय है। चक्षुमें स्पर्श करनेकी शक्ति नहीं है और त्वगिन्द्रियमें दर्शन करनेकी शक्ति नहीं है। अतः इन्द्रियात्मवादमें दर्शन और स्पर्शनके कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं, एक नहीं है। परन्तु "जो मैंने पहले देखा था, उसीको अब स्पर्श करता हूँ", इस प्रकारके अनुभवमें दर्शन और स्पर्शन दोनोंका एकही कर्त्ता है, ऐसा प्रतिपन्न होता है। चक्षु और त्वगिन्द्रिय पृथक्-पृथक् रूपसे दर्शन और स्पर्शनके कर्त्ता होने पर उस प्रकार अनुभव नहीं हो सकता था। प्रत्युत उसमें यह अनुभव होता कि चक्षुने जो देखा था, त्वचाने उसे स्पर्श किया। परन्तु इस प्रकार अनुभव नहीं होता है। द्वितीयतः इस प्रकारका अनुभव होने पर भी उससे इन्द्रियात्मवाद सिद्ध नहीं होता है। प्रत्युत उसके द्वारा चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रियसे अतिरिक्त आत्माकी ही सिद्धि होती है। क्योंकि "चक्षुने जो देखा था, त्वगिन्द्रियने उसे स्पर्श किया" इस प्रकारका अनुभव न तो चक्षुरिन्द्रियको ही हो सकता है। और न त्वगिन्द्रियको ही हो सकता है यह अनुभव दोनों इन्द्रियोंसे अतिरिक्त किसी भिन्न पदार्थको अवश्य होगा जिस पदार्थको चक्षुरिन्द्रियका दर्शन और त्वगिन्द्रियका स्पर्श दोनों विषयोंकी ही अभिज्ञता है। अतः इसके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, चक्षुरिन्द्रिय और त्वगिन्द्रियसे अतिरिक्त दोनोंका ही ज्ञाता अन्य कोई पदार्थ आत्मा है, इन्द्रिय आत्मा नहीं है। इन्द्रियसमूह व्यवस्थित-विषयक है अर्थात् एक इन्द्रिय एक ही विषयको ग्रहण कर सकती है, अनेक विषयोंको नहीं ग्रहण कर सकती। चक्षुरिन्द्रिय रूप ग्रहण करने पर भी रस ग्रहण नहीं कर सकती। रसनेन्द्रिय रस ग्रहण करने पर भी रूप या गन्ध ग्रहण नहीं कर सकती। घ्राणेन्द्रिय गन्ध ग्रहण करने पर भी रूप और रस ग्रहण नहीं कर सकती। परन्तु देखा जाता है कि, अम्लरसयुक्त वस्तुके दर्शनसे ही रसनामें जल आने लगता है। ऐसा कैसे हुआ? रूपके देखनेसे जिह्वामें जल कैसे आ गया? इन्द्रियात्मवादमें इसका कोई भी सदुत्तर नहीं मिल सकता है। इन्द्रियातिरिक्त आत्माके माननेसे इसका सम्पूर्ण समर्थन हो सकता है। क्योंकि जिस मनुष्यने पहले कभी किसी अम्लरस द्रवका अनुभव किया है, उसीकी जिह्वामें पुनः कभी उसी अम्लद्रव्यके देखनेसे जल आ सकता है। जिस द्रव्यका रस आस्वादन नहीं किया गया है वह वास्तवमें अम्लरसयुक्त होने पर भी उसके दर्शनसे जिह्वामें जल नहीं आता है।

अतः यह बात अवश्य अनुमेय है कि, पूर्वास्वादित किसी अम्लद्रव्यका रूप दर्शन करके तदन्तर्गत अम्ल रसकी स्मृति होती है और उसीसे जिह्वामें जल आता है। रसनेन्द्रिय अम्ल-रसकी अनुभविता है। इसलिये उसकी स्मर्त्ता भी हो सकती है। परन्तु रसनेन्द्रिय अम्लद्रव्यकी द्रष्टा नहीं है। चक्षुरिन्द्रिय अम्लरसकी द्रष्टा होने होने पर भी स्मर्त्ता नहीं हो सकती है। क्योंकि चक्षुरिन्द्रिय अम्लरसकी अनुभविता नहीं है। परन्तु रूपके दर्शनसे रसकी स्मृति प्रत्यक्ष हो रही है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, रूप और रसका अनुभविता एक ही व्यक्ति है, भिन्न-भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। क्योंकि भिन्न-भिन्न व्यक्तिके रूप और रसके अनुभविता होनेसे रूपविशेषके दर्शनसे रसविशेषकी अनुमिति नहीं हो सकती है। चक्षुरिन्द्रिय और रसनेन्द्रिय इनमेंसे कोई भी रूप और रस दोनोंके ग्रहणमें समर्थ नहीं है। अतः उनके लिये रूपविशेष और रसविशेषका साहचर्य्यग्रहण कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इस प्रकार साहचर्यग्रहण दोनोंसे अतिरिक्त अथच दोनोंके ज्ञाता किसी एक पदार्थके द्वारा साध्य है। वही इन्द्रियोंसे अतिरिक्त पदार्थ आत्मा है। अतः इन्द्रिय आत्मा नहीं हो सकती है। इन्द्रियात्मवाद केवल अज्ञानी जनोंकी मिथ्या कपोलकल्पना मात्र है। श्रुतिमें जो इन्द्रियोंका वादानुवाद बताया गया है; वह प्राणकी श्रेष्ठता प्रतिपन्न करनेके लिये आख्यायिका मात्र है। उसके द्वारा इन्द्रियोंकी चेतनता-सिद्धि लक्ष्यीभूत नहीं होती है, केवल प्रतिपाद्य विषय ही लक्ष्यीभूत होता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रियका अभिमानी चेतन देवता भी शास्त्रसिद्ध है। चेतन-जनोचित वादानुवादमें उन देवताओंके कर्तृत्व प्रतिपन्न हो सकते हैं। अतः इससे भी इन्द्रियोंकी चेतना सिद्ध नहीं हो सकती है। इन्द्रिय-समूह अचेतन ही है। चेतन उनसे अतिरिक्त और उनका ज्ञाता आत्मा है।

देहात्मवाद और इन्द्रियात्मवाद निराकृत हुआ। आत्मा देह और इन्द्रियोंसे पृथक् है, इस प्रकार प्रतिपादित होने पर भी आत्मा प्राण है कि नहीं, यह सन्देह निवृत्त नहीं होता है, प्रत्युत प्राणकी अपूर्व शक्तिको देखकर प्राणात्मवादिगण प्राणको ही आत्मा कहने लगते हैं। अतः यह विषय विचार्य है। छान्दोग्य उपनिषद्में प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें एक अपूर्व आख्यायिका है, जिसमें चक्षुरादि समस्त इन्द्रियोंके प्रजापतिके पास जाकर—"हममें कौन श्रेष्ठ है ?" ऐसी जिज्ञासा करने पर प्रजापतिने उत्तर दिया कि, "तुम लोगोंमें जिसके शरीरसे निकल जाने पर शरीर मर जायगा वही श्रेष्ठ है।" तदनन्तर श्रेष्ठताकी परीक्षाके लिये एक एक करके चक्षुरादि इन्द्रियाँ शरीरसे निकल गयीं। परन्तु किसीके भी निकलने-पर शरीर मृत नहीं हुआ। अन्तमें जब प्राण निकलने लगा तो इन्द्रियसहित समस्त शरीर मृत होने लग गया। इससे यह बात सिद्ध हो गई कि, प्राण ही सबसे श्रेष्ठ है। इस आख्यायिकाके आधार पर प्राणात्मवादी कहते हैं कि जब प्राण ही सर्व-श्रेष्ठ है तो, प्राण ही आत्मा होना चाहिये। इस प्रकारके पूर्वपक्षके उत्तरमें कहा जा सकता है कि उक्त श्रौत आख्यायिकाके द्वारा चक्षुरादि इन्द्रियोंसे प्राणकी श्रेष्ठता अवश्य प्रतिपन्न होती है। परन्तु इससे प्राण आत्मा है, यह सिद्धान्त नहीं निकलता है। प्रत्युत इससे विपरीत श्रुति देखनेमें आती है। यथाः—

कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा
प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत।

शरीरसे किस पदार्थके निकल जानेपर मैं निकल जाऊँगा और शरीरमें किसके प्रतिष्ठित रहने पर मैं प्रतिष्ठित रहूँगा, ऐसा विचार करके परमात्माने प्राणकी सृष्टि की। इस श्रुतिके द्वारा स्पष्ट सिद्ध होता है कि, आत्मा प्राणसे अतिरिक्त है, प्राण शरीरमें सर्वश्रेष्ठ है, परन्तु आत्मा नहीं है। यदि प्राण के द्वारा शरीरकी रक्षा होने से ही प्राणको आत्मा कहना पड़े तो मस्तिष्क, हृद्यन्त्र या पाकस्थलीके भी किसी किसी अंशके नष्ट होने पर शरीरकी रक्षा नहीं होती। इसलिए उनको भी आत्मा कहना पड़ेगा। परन्तु ऐसा कहना सर्वथा भ्रान्तियुक्त है। श्रुतिमें लिखा है—

तान् वरिष्ठः प्राण उवाच—मा मोहमापद्य यथाहमेवैतत्
पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि।

प्राणने इन्द्रियवर्गको कहा कि तुम लोग भ्रान्त मत हो, क्योंकि मैं ही प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान इन पाँच विभागोंमें अपनेको विभक्त करके इस शरीर को धारण करता हूँ। परन्तु जिस प्रकार स्तम्भादिके द्वारा गृहकी रक्षा होने पर भी स्तम्भादि गृहके प्रभु नहीं हो सकते हैं, गृहका प्रभु कोई दूसरा चेतन व्यक्ति है, उसी प्रकार प्राणके द्वारा शरीरकी रक्षा होनेपर भी प्राण शरीरका प्रभु नहीं है। शरीरका प्रभु चेतन आत्मा है, स्तम्भादिकी तरह प्राण भी अचेतन है, केवल चेतन आत्माकी चेतनासे युक्त होकर चेतनवत् शरीरकी रक्षा करते हैं। इसलिये श्रुतिमें कहा है:—

"स उ प्राणस्य प्राणः"

यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

आत्मा प्राणका भी प्राणरूप है। अचेतन प्राणका प्राणरूप चेतन आत्मा है। जो प्राणके द्वारा प्राणनयुक्त नहीं होते हैं, परन्तु जिनके कारण ही प्राणमें प्राणन शक्ति उत्पन्न होती है वे ही स्वरूपदशागत परमपद ब्रह्म हैं। गम्भीर रजनीमें जिस समय—

"प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं"

अर्थात् प्राणके द्वारा देहकी रक्षा करते हुए आत्मा सुषुप्त हो जाता है उस समय शरीर, इन्द्रियाँ मन आदि समस्त ही सुषुप्त होने पर भी—

"प्राण एव जागर्ति"

अर्थात् केवल प्राण ही जागता रहता है। प्राण चेतन है कि नहीं, इस विषयके प्रतिपादनके लिये इस सुषुप्तिकालीन व्यापारको अवलम्बन करके श्रुति में एक अपूर्व आख्यायिका है। किसी समय गार्ग्य मुनि ब्रह्मतत्त्वज्ञ अजातशत्रुके पास

ब्रह्मज्ञान लाभके लिये गये थे। ब्रह्म प्राण नहीं है, परन्तु अचेतन प्राणसे अतिरिक्त चेतन वस्तु है, इस बातको प्रत्यक्ष उपलब्ध करानेके लिये अजातशत्रुने राजपुरीके अन्तर्गत किसी निभृत देशमें प्रसुप्त किसी मनुष्यके पास गार्ग्य मुनिको ले जाकर प्राणके कतिपय वैदिक नाम उच्चारण करके उसे पुकारा, परन्तु उससे निद्रित व्यक्ति जाग्रत नहीं हुआ। पश्चात् हाथ पकड़कर खींचने पर वह मनुष्य जाग उठा। इसके द्वारा अजातशत्रुने गार्ग्यको समझा दिया कि, प्राण आत्मा नहीं है। क्योंकि यदि प्राण चेतन भोक्ता आत्मा होता तो, उच्चारित शब्दोंको अवश्य भोग करता और उत्तर देता, सो नहीं किया इसलिये प्राण आत्मा नहीं हो सकता है। इस पर यह सन्देह हो सकता है कि, प्राण आत्मा होनेपर भी निद्रावस्थामें श्रोत्रादि इन्द्रियव्यापारोंके अभाव होनेसे प्राणने पुकारको नहीं सुना। उसका उत्तर यह है कि आत्मा इन्द्रियवर्गका अधिष्ठाता है। आत्माके अधिष्ठानके कारण ही इन्द्रियवर्गकी चेष्टा होती है। सुषुप्तिकालमें आत्मा निद्रित होनेपर अधिष्ठानाभाव हेतु इन्द्रियवर्गके रहनेपर भी उसमें चेष्टा नहीं हो सकती है। प्राण यदि आत्मा होता तो निद्रावस्थामें भी तो प्राण जाग रहा था, इसलिये निद्रावस्थामें इंद्रियोंपर प्राणका अधिष्ठान रहनेके कारण प्राणको श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा अजातशत्रुकी पुकारको सुनकर उत्तर देना चाहिये था सो नहीं हो सकता। इसलिए सिद्ध हुआ कि, प्राण चेतन आत्मा नहीं है, अचेतन है। प्राणके प्राण आत्मा ही चेतन और समस्त शरीर, इंद्रिय और प्राणके भोक्ता तथा सञ्चालक हैं अतः ऊपर-लिखित युक्ति और प्रमाणोंके द्वारा प्राणात्मवाद सम्पूर्णरूपसे निरस्त हो गया।

आत्मा देह, इन्द्रिय तथा प्राणसे पृथक् है, इस प्रकारके सिद्धान्तका निश्चय होनेपर भी आत्मा मनसे पृथक् है, यह निश्चय नहीं होता। प्रत्युत ऊपर जिन उक्त कारणोंसे देहात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद तथा प्राणात्मवाद निराकृत हुआ है, मन ही आत्मा है ऐसा माननेसे उन कारणोंकी उत्पत्ति होती है। अतः मन ही आत्मा है। इस प्रकार पूर्वपक्षके उत्तरमें निम्नलिखित रूपसे विचार करनेपर यह निश्चय होगा कि मन आत्मा नहीं है। आत्मा मनसे पृथक् पदार्थ है। अब नीचे उन विचारोंकी क्रमशः अवतारणा की जाती है।

अनुभवके अनुसार पदार्थोंका अस्तित्व या नास्तित्व सिद्ध होता है, यह एक दार्शनिक सत्य है, मन और आत्मा पृथक् पृथक् वस्तु हैं यह अनुभवसिद्ध है। "मेरे मनमें ऐसा हो रहा है, मेरा मन खराब हो रहा है, चञ्चल हो रहा हैं, मनोयोग न करनेसे मैं वह विषय समझ न सका" इत्यादि हजारों अनुभव संसारमें विद्यमान हैं जिनका किसी प्रकारसे भी खण्डन नहीं हो सकता है। इन सब अनुभवोंके द्वारा मन और आत्माका प्रभेद स्पष्ट सिद्ध होता है। अतः मन आत्मा नहीं है। मन आत्मा होनेसे इन्द्रियोंका अधिष्ठाता होगा। क्योंकि आत्मा इन्द्रियोंका अधिष्ठाता है। इन्द्रियगण करण हैं। कर्ताके अधिष्ठानके बिना करणमें कार्यकारिता नहीं आती। छेत्ताके बिना परशु छेदन नहीं कर सकता। आत्माके अधिष्ठानके बिना चक्षुरादि इन्द्रियाँ रूपदर्शनादि कार्य्योंको नहीं कर सकतीं। मनके आत्मा होनेसे एक कालके

अनेक ज्ञान अपरिहार्य हो जायँगे। इसको एक दृष्टान्त द्वारा समझ सकते हैं। दीर्घशष्कुली (एक वैदिक पूड़ी) भक्षणके समय एक ही समय अनेक इन्द्रियव्यापार होते हैं। शष्कुली प्रथम हस्त द्वारा धृत होकर मुखमें आती है, तदनन्तर दन्त द्वारा चर्वित होकर भक्षित होती है। अतः शष्कुलीभक्षणके समय शष्कुली स्पर्शके साथ त्वगिन्द्रियका, रूपके साथ चक्षुका, रसके साथ रसनेन्द्रियका और गन्धके साथ घ्राणेन्द्रियका सम्बन्ध होता है। ये सब इन्द्रियाँ आत्माके द्वारा अधिष्ठित न होनेसे इनका सम्वन्ध विषयके साथ नहीं हो सकता। मन आत्मा होनेसे एक ही समय उक्त इन्द्रियोंका ज्ञान होना सम्भव हो जायगा। क्योंकि आत्मा व्यापक और ज्ञानरूप है। परन्तु ऐसा देखनेमें नहीं आता, प्रत्युक्त शष्कुलीभक्षणके साथ भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंका ज्ञान भिन्न-भिन्न समय पर ही होता है। वह समय अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे उत्पलशत-पत्रवेध-न्यायके अनुसार (अर्थात् कई कमलके पत्ते एक ही सूई के द्वारा विधनेके अनुसार) युगपत् होनेकी भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मन आत्मा होनेसे इन्द्रियज्ञानका क्रम नहीं रह सकता है। अतः मन आत्मा नहीं है। अन्यान्य इन्द्रियोंकी तरह मन भी करणजातीय पदार्थ है। सुखादि प्रत्यक्षका करण मन ही है। परन्तु आत्मा ज्ञानका करण नहीं है। आत्मा ज्ञानका कर्त्ता है। कर्त्ता और करण एक नहीं हो सकते हैं। अतः मन आत्मा नहीं हो सकता है। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने कहा है—

"सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्"

चित्तवृत्ति सदा ही परिज्ञात हो जाती है, क्योंकि चित्तवृत्तिके प्रभु अपरिणामी हैं। यदि पुरुष परिणामी होते तो कदाचित् आन्ध्यपरिणाम होनेसे चित्तवृत्ति अपरिज्ञात भी रह जाती। परन्तु पुरुष अपरिणामी है, इसलिये पुरुषको चित्तवृत्ति परिज्ञानके विषयमें किसी आगन्तुक कारणकी अपेक्षा नहीं रहती। चित्तवृत्ति समुत्पन्न होते ही परिज्ञात हो जाती है। घटपटादि ग्राह्य वस्तु प्रदीपके सम्मुख आनेसे ही परिज्ञात हो जाती है। अतः चित्तवृत्ति जब दृश्य हैं तो, वृत्ति और वृत्तिमान्का अभिन्न सम्बन्ध होनेसे चित्त भी दृश्य है। चित्त या मन द्रष्टा नहीं है। केवल आत्मा ही द्रष्टा है। अतः मन आत्मा नहीं है और आत्मा परिणामी नहीं है, यह पहले ही कहा गया है; परन्तु चित्त परिणामी है। अतः मन आत्मा नहीं है। नैयायिक आचार्योंकी सम्मतिके अनुसार ज्ञान, इच्छा, कृति आदि आत्माके गुण हैं। मनके आत्मा होनेसे ज्ञानादिका आश्रय मन ही होगा। ऐसा होनेपर ज्ञानादि प्रत्यक्ष नहीं हो सकते हैं। क्योंकि प्रत्यक्षका कारण महत्तत्त्व है। मन महत् नहीं है। ज्ञानादिके यौगपद्य निवारणार्थ मन अंगीकृत हुआ है इसलिये न्यायदर्शनानुसार मन अणुपरिमाण है, महत् नहीं है। अतः मनकी आत्मत्वकल्पना करने पर भी महत्त्वकल्पना असम्भव होनेसे ज्ञानादिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। परन्तु ज्ञानादिका प्रत्यक्ष होना संसारमें सदाही देखा जाता है। अतः मन आत्मा नहीं है। मनका महत्त्व स्वीकार करने पर एक कालमें अनेक ज्ञानोंका युगपत् होना अपरिहार्य हो जायगा। महर्षि गौतमजीने मनके आत्मत्व सम्बन्धमें आशङ्का करके पश्चात् उसका खण्डन किया है। उनका पूर्वपक्षीय सूत्र यह है:—

"नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सद्भावात्"

आत्मा मनसे अतिरिक्त नहीं है। क्योंकि जिन सब कारणोंसे आत्मा शरीर तथा इन्द्रियोंसे पृथक् प्रतिपादित होता है, मनको आत्मा माननेसे उन सब कारणोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार से पूर्वपक्ष बता कर महर्षि गौतमजीने सिद्धान्तरूपसे सूत्र सन्निवेश किया है। यथा—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्।

ज्ञाताके ज्ञानसाधनकी उपपत्ति होती है। अतः केवल संज्ञा या नाममात्रका भेद होता है, पदार्थका भेद नहीं है। महर्षि गौतमजीका अभिप्राय यह है कि, ज्ञाता अवश्य स्वीकार्य है, क्योंकि जब ज्ञानकी साक्षात् अनुभूति हो रही है तो ज्ञाता बिना ज्ञानकी अनुभूति असम्भव होनेसे ज्ञाताके अस्तित्वके विषयमें कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। अब विप्रतिपत्ति है केवल इस विषयमें कि वह ज्ञाता कौन है। कोई कहते हैं कि ज्ञाता देह है, कोई कहते हैं कि ज्ञाता इन्द्रिय हैं इत्यादि। अतः यही विषय विचार्य है। ज्ञाता और उसका ज्ञान स्वीकृत होनेसे ज्ञानसाधन अवश्य ही स्वीकार्य होगा। क्योंकि करण और ज्ञानसाधनके बिना कर्त्ता या ज्ञाताके द्वारा कोई ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञाताके रूपज्ञानसाधन रूपसे चक्षु, रसज्ञान-साधन रूपसे रसना आदि इन्द्रियवर्गको स्वीकार किया गया है। अतः जिस प्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि ज्ञानसाधनरूपसे चक्षु, जिह्वा, नासिका, त्वचा आदि बहिरिन्द्रियोंका स्वीकार करना आवश्यकीय है, उसी प्रकार सुखादि ज्ञानसाधन-रूपसे कोई अन्तरिन्द्रिय स्वीकार करना भी अवश्यम्भावी है। क्योंकि यदि बिना करणके सुखादिज्ञानसम्पन्न हो सके तो बिना करणके सुखादिज्ञान भी सम्पन्न हो सकेगा। इस दिशामें चक्षुरादि इन्द्रियोंका रहना ही निरर्थक हो जायगा। अतः यह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि, सुखादि अन्तर्विषयोंके ज्ञानार्थ किसी अन्तरिन्द्रियकी सत्ता अपरिहार्य है। समस्त क्रियाएँ इच्छाजन्य हैं। इसलिये सुखादिसाधन अन्तरिन्द्रिय क्रिया भी इच्छाजन्य होगी। परन्तु इच्छा स्वाश्रयसे क्रिया उत्पन्न नहीं करती, भिन्नाश्रयसे क्रिया उत्पन्न करती है। छेत्ताकी इच्छाके अनुसार परशुमें क्रिया होती है, योद्धाकी इच्छानुसार असिमें क्रिया होती है, आत्माकी इच्छानुसार शरीरमें क्रिया होती है। अतः जिस इच्छानुसार सुखादिसाधन अन्तरिन्द्रियमें क्रिया होगी वह इच्छा अन्तरिन्द्रियकी नहीं हो सकती, परन्तु उसके ज्ञाता तथा उससे अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुकी होगी। वही सुखादिज्ञानका साधन अन्तरिन्द्रिय मन है और उसका ज्ञाता उससे पृथक् आत्मा है अतः मन आत्मा नहीं है। स्वप्नदर्शनके समय मन जाग्रत रहता है; क्योंकि स्वप्नदर्शन मनका कार्य है। मनके जाग्रत् रहे बिना वह कार्य नहीं हो सकता है। यदि मन इन्द्रियोंका अधिष्ठाता आत्मा होता तो स्वप्नदर्शनकालमें मनको सम्बोधन करके पुकारने पर उसे उत्तर देना चाहिये था। सो नहीं होता है। अतः जिस प्रकारसे सुषुप्तिकालीन व्यापारको लेकर प्राणात्म-वाद निराकृत हुआ है उसी प्रकार स्वप्नकालीन व्यापारसे मन-आत्मवाद भी निराकृत है। अतः मन आत्मा नहीं है। इस प्रकारसे युक्ति और प्रमाणकी

सहायतासे विचार करने पर यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि, आत्मा शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन आदि प्रवृत्तिके समस्त अधिकारोंसे परे विराजमान, सर्वव्यापक, ज्ञानमय, आनन्दमय, सच्चिदानन्द लक्षण, परम वस्तु है, यथा कठोपनिषद्में:—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

इन्द्रियोंसे इन्द्रियोंके विषय परे हैं, उससे मन परे है, मनसे बुद्धि परे है, बुद्धिसे महत्तत्त्व परे है, महत्तत्त्वसे अव्याकृत प्रकृति परे है और अव्याकृत प्रकृतिसे पुरुष अर्थात् परमात्मा परे हैं, परमात्मासे परे और कुछ भी नहीं है। वे पराकाष्ठा और परागतिरूप हैं। परमात्मा इन्द्रिय, तन्मात्र आदि समस्त प्रकृतिविलास तथा महत्त्वके भी परे हैं, वे अव्यय, अनादि, अनन्त और ध्रुव हैं। इनके जानने पर जीव मृत्यमुखसे मुक्त हो सकता है। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है—

तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति, अस्थूलं अनणु अह्रस्वं अदीर्घं अलोहितं अस्नेहं अच्छायं अतमः अवायु अनाकाशं असङ्गं अरसं अगन्धं अचक्षुष्कं अश्रोत्रं अवाक् अमनो अतेजस्कं अप्राणं अमुखं अमात्रं अनन्तरं अबाह्यम् ।

अक्षर ब्रह्मको ज्ञानिगण इस प्रकारसे वर्णन करते हैं। वे स्थूल नहीं हैं, अणु नहीं हैं, ह्रस्व नहीं हैं, दीर्घ नहीं हैं, वे लोहित नहीं हैं, स्नेह नहीं हैं, छाया नहीं हैं, तमः नहीं हैं, वायु नहीं हैं, आकाश नहीं हैं, वे रस नहीं हैं, शब्द नहीं हैं, गन्ध नहीं हैं, चक्षु नहीं हैं, श्रोत्र नहीं हैं, सङ्ग नहीं हैं, वाक्य नहीं हैं, मन नहीं हैं, तेज नहीं हैं, प्राण नहीं हैं, मुख नहीं हैं, मात्रा नहीं हैं, अन्तर नहीं हैं, बाहर नहीं हैं। इस प्रकारसे 'नेति नेति' विचार द्वारा व्यक्त और अव्यक्त प्रकृतिके समस्त विलाससे परमात्माकी सत्ता पृथक् है, ऐसा निर्धारण करके श्रुतिने पश्चात् परमात्माका यथार्थ स्वरूप बताया है। वह स्वरूप क्या है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

वेदमें परमात्माको सत्, चित् और आनन्दरूप कहा गया है। तथा:—

"सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म"
"सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः"

परब्रह्म सत्, चित् और आनन्दमय हैं। सत्, चित् और आनन्दलक्षण परमात्मा सर्वतः पूर्णस्वरूप हैं। और भी :-

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"
"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"
"आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानात्"
"विज्ञानमानन्दं ब्रह्म"
"आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चन"

ब्रह्म सत्स्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त हैं। सृष्टिके पहले सद्रूप ब्रह्म एकाकी थे। ब्रह्म आनन्दस्वरूप और ज्ञानस्वरूप हैं। उनके आनन्दरूपका परिज्ञान होने पर सब प्रकारका भय नष्ट होता है। स्मृतिमें भी लिखा है--

सत्ता चितिः सुखञ्चेति स्वभावा ब्रह्मणस्त्रयः।
मृच्छिलादिषु सत्तैव व्यज्यते नेतरद्वयम्॥

सत्, चित् और आनन्द ब्रह्मके ये तीन स्वभाव हैं। उनमेंसे मृत्तिका और प्रस्तरादि अचेतन पदार्थमें केवल सत्तामात्रका ही विकास रहता है, चिद्भाव और आनन्दभावका विकाश नहीं रहता और भी स्मृतिमें लिखा है--

अस्ति भाति प्रियं नाम रूपञ्चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

सत्, चित्, आनन्द, नाम और रूप ये पाँच वस्तुएँ हैं। इसमेंसे प्रथम तीन ब्रह्मके रूप और अन्य दो जगत्के रूप हैं। और भी विष्णुपुराणमें—

"ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्येके सर्वसंस्थितौ"

विश्वाधार परमात्मामें ह्लादिनी अर्थात् आनन्दसत्ता, सन्धिनी अर्थात् सत्सत्ता और संवित् अर्थात् चित्सत्ता स्थित है। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रमें परमात्माको सत्, चित्त और आनन्दरूप कहा गया है। अब नीचे इन तीन रूपोंका विशेष वर्णन किया गया है।

प्रत्येक परिणामशील वस्तुकी सत्ता आपेक्षिक होती है, निर्विशेष नहीं होती है अर्थात् प्रत्येक परिणामी वस्तु अपनेसे अपेक्षाकृत कम परिणामी वस्तुके साथ तुलनामें परिणामी होती है, यही परिणामशील वस्तुकी आपेक्षिक सत्ता है। इस प्रकारसे विचारका सूत्र अवलम्बन करके प्रत्येक वस्तुकी आपेक्षिक सत्ता का पता लगाने पर यही सिद्धान्त निकलेगा कि सबके अन्तमें सबके मूलकारणरूप ऐसी एक आपेक्षिकताविहीन निर्विशेष मूलसत्ता विद्यमान है जो नित्य, पूर्ण, अजर, अमर और परिणामहीन है और जिसके ऊपर समस्त परिणामशील, अनित्य, अपूर्ण और देशकालपरिच्छिन्न सत्ताकी स्थिति निर्भर करती है। वही परिणामहीन सर्वतः पूर्ण नित्य सत्ता सच्चिदानन्दमय ब्रह्म है। उन्हींकी परिणामहीन सत्सत्ता पर निखिल

प्रपञ्चकी परिणामशील आपेक्षिक सत्ता निर्भर करती है। उन्हींकी परिणामहीन स्वप्रकाशशील चित्सत्ता पर निखिल प्रपञ्चमें प्रतिभासित विविधविलासमयी ज्ञान-सत्ता निर्भर करती है और उन्हींकी परिणामहीन विभुतापूर्ण, सुख-दुःख-द्वन्द्व-रहित आनन्दसत्ता पर आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त प्रत्येक जीव-हृदयमें कर्मके मूलकारणरूप, परिणामशील, वियोगदुःखपूर्ण सुखसत्ताकी विविधविलासकला प्रत्यक्ष हो रही है। इस प्रकारसे अपरिणामी, पूर्ण और नित्य परमात्माकी सत्, चित् और आनन्दसत्ता-के ऊपर दृश्य प्रपञ्चकी आपेक्षिक तथा परिणामी सत्सत्ता, ज्ञानसत्ता और आनन्द-सत्ता निर्भर करती है, परन्तु उनकी सच्चिदानन्दसत्ताके विकासके लिए किसी अन्य सत्ताकी अपेक्षा नहीं रहती है। यथा केनोपनिषद्में—

यद्वाचा नाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूंषि पश्यन्ति।
तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यच्छ्रोत्रेन न शृणोति येन श्रोत्रमिदं श्रुतम्।
तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यत्प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म तं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

जिसका स्वरूप वचनके द्वारा प्रकट नहीं हो सकता है, परन्तु जिसके कारण ही वाक्शक्तिकी स्फूर्ति होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परम पुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूप मनका गोचर नहीं है, परन्तु जिसके कारण ही मनमें मननशक्ति उत्पन्न होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परम पुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूप चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा देखा नहीं जा सकता, परन्तु जिसके कारण ही चक्षुमें दर्शनशक्ति प्राप्त होती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूप श्रवणेन्द्रियका गोचर नहीं है, परन्तु जिसके कारण ही श्रवणेन्द्रियमें सुननेकी शक्ति आती है, स्वरूप-लक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। जिसका स्वरूपविलास प्राणशक्तिसापेक्ष नहीं है, परन्तु जिसके कारण ही प्राणकी प्राणनशक्ति समस्त संसारमें प्रस्फुरित हुआ करती है, स्वरूपलक्षणवेद्य वही परमपुरुष ब्रह्म है। और भी कठोपनिषद्में:—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्र तारकं नेमा विद्युता भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

परमात्माके स्वरूप-प्रकाशके लिए वहाँपर सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र या विद्युत किसीकी ज्योति नहीं है, प्रत्युत उन्हींकी ज्योतिके द्वारा सूर्य, चन्द्र आदिमें ज्योति आती है और उसीसे संसार आलोकित होता है। श्रुतिमें कहा है :—

"स यथा सैन्धवघनो अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नोः रसघन एवैवं वा अरे अयमात्मा अनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।"

जिस प्रकार सैन्धवखण्ड भीतर बाहर सर्वत्र ही लवणमय है उसी प्रकार आत्मा भी भीतर-बाहर सर्वत्र ज्ञानमय है। उसीकी चित्सत्ताका आध्यात्मिक विलास ज्ञानरूपसे वेदके द्वारा अधिदैव विलास शक्तिरूपसे सूर्य्यात्माके द्वारा और अधिभूत विलास स्थूल ज्योतिरूपसे सूर्य्यगोलक अग्नि तथा अन्यान्य ज्योतिष्क-गणके द्वारा दृश्यसंसारमें विलसित है। श्रीभगवानने गीताजीमें कहा है :—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥
यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

परमात्माका वह परमपद जहाँसे साधकको संसारमें पुनरावृत्ति नहीं प्राप्त होती है, सूर्य, चन्द्र या अग्निकी सहायतासे भासमान नहीं होता है; क्योंकि वह स्वयं प्रकाश और समस्त प्रकाशका आकररूप है। सूर्य्यका जो प्रचण्ड तेज समस्त विश्वको प्रकाशित करता है, जो चन्द्र और अग्निमें विद्यमान है वह सभी तेज परब्रह्म परमात्माका है। क्या संसारका जाग्रद्दशागत स्थूल तेज क्या स्वप्नावस्था-गत मनोभ्रमणकारी सूक्ष्म तेज और क्या सुषुप्तिमें कारणशरीरप्रतिबिम्बित आभास-चैतन्यका आनन्दमय मधुर तेज, सभी श्रीभगवान् सच्चिदानन्दके अनन्त तेजोंकी कणामात्रके द्वारा प्रतिफलित तेज है। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है :—

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते।
शान्तेऽग्नौ शान्तायां वापि किं ज्योतिरेवायं पुरुष
इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषाऽऽस्ते
पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति।

सूर्य और चन्द्रके अस्त हो जानेपर अग्निकी ज्योतिसे कार्य्य हो सकता है। अग्नि भी शान्त हो जानेपर वाक्यकी ज्योतिसे दिङ्निर्णय हो सकता है। परन्तु गम्भीर रजनीमें स्वप्नदर्शनके समय सूर्य, चन्द्र, अग्नि अथवा किसीकी भी ज्योति न होने पर जीव जो इस देशसे उस देशमें जाता रहता है और विचित्र स्वप्न-नगरीकी शोभाको देखता रहता है, उसमें केवल हृदयगुहामें भासमान आत्माकी ही ज्योति कार्यकारिणी होती है, अन्य कोई भी ज्योति नहीं। अतः जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति दशामें आत्मज्योति ही सर्वथा जीवका एकमात्र अवलम्बन है, इसमें सन्देह नहीं। श्रीभगवानकी यही स्वयंप्रकाश गुणातीत तथा देशकाल और वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न सत्, चित् और आनन्दसत्ता अघटनघटनापटीयसी त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविध परिच्छिन्न और परिणामी

रूपमें समस्त दृश्य संसारमें परिव्याप्त है। उनकी अद्वितीय सत्सत्ता ही मायाके द्वारा नाना जीवसत्ता तथा जगत्सत्तारूपमें भासमान है। यथा श्रुतिमें :—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय"

"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते"

"अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥"

एकरूप परमात्मा मायाके द्वारा बहुरूप धारण करके संसारके दृश्यमान समस्त रूपोंमें विभक्त होते हैं। जिस प्रकार एक अग्नि संसारमें प्रकट होकर अनेक रूप धारण कर लेता है उसी प्रकार परमात्मा मायाके द्वारा अपनी अद्वितीय सत्सत्ताको विश्वप्रपञ्चके अनन्त सत्ता रूपमें विभक्त कर देते हैं। इसी प्रकारसे परमात्माकी सत्सत्ताके द्वारा अनन्त जीवसत्ताका विस्तार होता है। उनकी चित्सत्ता त्रिगुणमयी मायाके द्वारा विविधज्ञानरूपमें विश्वब्रह्माण्डमें विलसित है। मायाकी सत्त्वगुणमयी, विद्याभावपर प्रतिबिम्बित वही चित्सत्ता आध्यात्मिक ज्ञानरूपमें मुमुक्षुजनोंके हृदयाकाशमें प्रकाशित होकर उनको निःश्रेयसपदवीपर प्रतिष्ठित कर देती है। मायाकी रजोगुणमयी परिणामिनी स्थितिपर वही चित्सत्ता प्रतिबिम्बित होकर विविध शिल्पकला, विज्ञान आदि शास्त्ररूपसे अपनी अपूर्व छटाका विस्तार किया करती है। मायाकी तमोगुणमयी अविद्याविलसित भूमिपर वही चित्सत्ता प्रतिफलित होकर विविध तामसिक ज्ञानरूपमें जगत्को मुग्ध कर रही है। इसी प्रकारसे तटस्थ लक्षणयुक्त यावतीय व्यावहारिक ज्ञान, त्रिगुणतरङ्गप्रतिबिम्बित तथा गुणमिश्रणजनित अवान्तरतरङ्गप्रतिफलित अनन्त ज्ञान और स्वरूपाभिमुखीन समस्त ज्ञान, उसी ज्ञानरूप पर परमपुरुष अद्वितीय परमात्माकी चित्सत्ताकी मायावलम्बिनी वहिर्विलासकलाके रूपसे समस्त द्वैतसत्ताके असंख्य भावोंको आश्रय करके विश्वसंसारमें विकासको प्राप्त हो रहे हैं। इसलिये श्री भगवान्‌ने गीताजीमें कहा है :—

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः॥

बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम और शम आदि जीवराज्यगत समस्त भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। और भी :—

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्॥

मैं सबके हृदयमें विद्यमान रहता हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और उसका अभाव भी प्रकट होता है। मैं सकल वेदके द्वारा वेद्य हूँ और वेदान्तकर्त्ता तथा वेदका यथार्थ अर्थवेत्ता मैं ही हूँ। अतः सिद्धान्त हुआ कि परमात्माकी चित्सत्ता

ही त्रिगुणमयी मायाके भिन्न-भिन्न भाव और प्रवाहमें प्रतिबिम्बित होकर विश्वजगत्के जगत्के विविधज्ञानरूपसे जीवकेन्द्रके द्वारा प्रकट होती है। इसी प्रकार उनकी आनन्दसत्ता भी त्रिगुणमयी प्रकृतिके द्वारा प्रतिफलित होकर प्रकृतिसे उत्पन्न जीव-जगत्में विविध विषयसुखरूपसे भासमान हो रही है। उनका स्वरूपगत आनन्द नानात्वभेदहीन, सुखदुःखातीत, अखण्ड और नित्य है। यथा श्रुतिमें:—

"नानात्वभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः"

परमात्मा अद्वितीय और अखण्ड आनन्दरूप हैं; परन्तु परिणामिनी प्रकृतिके द्वारा जब वही आनन्द संसारमें प्रवाहित होता है। उस समय प्रकृतिके त्रिगुण सम्बन्धके कारण दुःखसङ्कुल विषयसुखरूपसे उसी आनन्दका विविधविलास देखा-जाता है; जिसको जीव अपनी-अपनी प्रकृति और प्रवृत्तिके अनुसार नाना प्रकार के सात्त्विक सुख, राजसिक सुख तथा तामसिक सुखरूपसे उपभोग करता है। यथा श्रुतिमें :—

"रसो वै सः" "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"

"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"

परमात्मा आनन्दरूप हैं। उनकी ही आनन्दसत्ताको लाभ करके समस्त जीव आनन्दी होते हैं। विकारहीन सुखदुःखद्वन्द्वहीन परमानन्दकी स्थिति उन्हींमें है और उनकी ही आनन्दसत्ताका कुछ-कुछ अंश विषय-सुखरूपसे प्रकृतिके द्वारा प्राकृतिक जीव संसारमें उपभोग करता है। दम्पतिके हृदयमें पारस्परिक प्रेमका मधुर आनन्द; मित्रोंके हृदयमें एकप्राणताका पवित्र आनन्द, माता-पिता-के हृदयमें निष्कलङ्क स्नेह और वात्सल्यजनित उदार आनन्द, काम लोभ-मोहादि विषयपाशबद्ध विषयी जनोंके हृदयमें दुःखपरिणामदग्ध विविध विषयानन्द इत्यादि सभी प्रकारका आनन्द, अनन्त आनन्दके नित्य प्रस्रवणरूप परमात्माकी आनन्दसत्ताके बिन्दुमात्रको लेकर त्रिगुणमयी मायाके द्वारा अनित्य सुखरूपसे संसारमें विलसित हो रहा है। यही मायातीत सत्, चित् और आनन्द-रूप परमात्माकी मायाके द्वारा उत्पन्न नानाभावोंके संसारमें विकाशकी महिमा है, जिसके सम्यक् परिज्ञानसे सान्त जीव अपनी अनन्त सत्ताको उपलब्ध करके दुःखदावानलदग्ध संसारसे मुक्तिलाभ कर सकता है। इसीलिये ही परमात्माका स्वरूप तथा उनके ऊपर जागतिक समस्त सत्ताकी निर्भरताके वर्णन प्रसंगमें छान्दोग्य श्रुतिमें लिखा है :—

"यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवन् कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि"

"सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः"

"आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्म-तस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो

बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः सङ्कल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदं सर्वमिति ।

जो परमात्माका व्यापक आनन्द है वही नित्य और शाश्वत है और जो मायाके द्वारा विषयसुखरूपसे अल्प आनन्द मिलता है वह अनित्य और क्षणभंगुर है। आनन्दरूप परमात्माकी यह सत्ता अन्य किसीपर निर्भर नहीं है। वह स्वयं-प्रकाश, स्वयमानन्द और स्वमहिमापर प्रतिष्ठित हैं। परन्तु परमात्माकी सत्ता अन्य किसीपर निर्भर न होनेपर भी समस्त सृष्टि और समस्त जीवकी सत्ता उनपर निर्भर करती है। समस्त सृष्टिका मूल परमात्माकी सत्ता ही है, समस्त जीवोंकी स्थिति उनकी स्थितिपर ही विद्यमान रहती है। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत संसारमें ऐसी कोई वस्तु, कोई ज्ञान, कोई शक्ति, कोई प्रकाश या स्थूल, सूक्ष्म कारण प्रकृति-के अन्तर्गत कोई सत्ता नहीं है जिसकी उत्पत्ति आत्मासे न हुई हो। आत्मासे प्राणकी उत्पत्ति हुई है, आत्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई है; आत्मासे स्मृत्ति, आकाश, तेज और जलकी उत्पत्ति हुई है, आत्मासे समस्त सृष्टिके आविर्भाव तिरोभाव होते हैं, आत्मासे अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, सङ्कल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र, कर्म अर्थात् आत्मासे समस्त ही उत्पन्न हुए हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्में लखा है:—

"यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद् यथाग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।"

जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकड़ी) से तन्तु निकलती है या अग्निसे स्फुलिंग निकलता है उसी प्रकार परमात्मासे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवता और समस्त भूतगण उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार परमात्मासे स्वाभाविक रूपसे समस्त सृष्टि केवल विकसित ही नहीं होती है अधिकन्तु उन्हींमें सबकी स्थिति और सबका लय होता है। यथा तैत्तरीय उपनिषद्में:—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशंति ।"

परमात्मासे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है, परमात्माके द्वारा ही पर-मात्मामें समस्त भूतोंकी स्थिति रहती है और परमात्मामें ही समस्त भूत लय हो जाते हैं। और भी छान्दोग्य श्रुतिमें :—

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानीति शान्त उपासीत"

समस्त संसार ब्रह्ममय है और ब्रह्ममें ही निखिल जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करती है, इसलिए ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिए। इस श्रुतिमें

'तज्जलान्' शब्दका अर्थ तज्ज, तल्ल, और तदन् है अर्थात् उन्हींसे जगत्की उत्पत्ति, उन्हींमें जगत्की स्थिति और उन्हींमें समस्त संसार लयको प्राप्त होता है। यही मायाके प्रभावसे सच्चिदानन्दमय परमात्मामें विश्वस्थितिका विराट् रहस्य है।

जिस मायाके प्रभावसे एकरस, अद्वितीय परमात्मामें निखिल प्रपञ्चका विस्तार होता है, वह माया क्या परमात्मासे पृथक् वस्तु है? नहीं। वही विश्व-प्रसविनी प्रकृति उन्हींकी शक्तिके रूपसे उन्हींसे उत्पन्न होती है। यथा श्रुतिमें:—

"यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान् व्यससर्ज भूम्याम्"

जगत्प्रसविनी प्रकृति परमात्मासे ही उत्पन्न होकर कारणवारिके द्वारा संसारमें समस्त जीवोंकी उत्पत्ति करती है। गोतोपनिषद्में कहा गया है:—

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया"

दैवी तथा त्रिगुणमयी मेरी माया दुरत्यया है। मनुसंहितामें लिखा है:—

द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः॥

सृष्टिके समय परमात्मा अपने ही अर्द्ध अङ्गसे प्रकृतिको निकालकर उसमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति करते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"त्वं देवशक्त्यां गुणकर्मयोनौ
रेतस्त्वजायां कविरादधेऽजः"

गुण और कर्मकी योनि, स्वकीय शरीररूपी अजा प्रकृतिमें अज परमात्मा सृष्टिबीजको अर्पण करते हैं। देवीभागवतमें लिखा है:—

योगेनात्मा सृष्टिविधौ द्विधारूपो बभूव सः।
पुमांश्च दक्षिणार्द्धाङ्गो वामार्द्धा प्रकृतिः स्मृता॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा च नित्या सा च सनातनी।
यथात्मा च तथा शक्तिर्यथाग्नौ दाहिका स्थिता॥
मन्मायाशक्तिसंक्लृप्तं जगत् सर्वं चराचरम्।
सापि मत्तः पृथङ्माया नास्त्येव परमार्थतः॥

सृष्टिकार्यके लिए योगबलसे परमात्मा द्विरूप होते हैं। उसका दक्षिणाङ्ग पुरुष और वामाङ्ग प्रकृति होती है। वह प्रकृति ब्रह्मरूपिणी नित्या, सनातनी और अग्निमें दाहिका शक्तिकी तरह परमात्माकी शक्तिरूपिणी हैं। ब्रह्मशक्तिरूपिणी मायाके द्वारा ही चराचर जगत्की उत्पत्ति होती है और उन्हींकी शक्ति होनेके कारण परमार्थतः माया ब्रह्मसे पृथक् नहीं है। यथा विष्णुपुराणमें—

शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥

मूढ़ जन ही शक्तिरूपिणी माया और शक्तिमान् परमात्माकी पृथक्ताकी कल्पना करते हैं। परन्तु वास्तवमें शक्ति और शक्तिमान्में कोई भेद नहीं है। इसलिये तत्त्वदर्शी योगिगण ब्रह्म और मायाकी अभिन्नताकी उपलब्धि करते हैं। इस प्रकार निज महिमामें विराजमान परमात्माके अधिष्ठानसे प्रकृतिके द्वारा जो अनन्त सृष्टिधाराका विस्तार होता है उसमें परमात्माकी अपनी ओरकी कोई भी चेष्टा नहीं है, क्योंकि सृष्टि त्रिगुणतरङ्गमयी, स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिकी स्वाभाविक स्पन्दनजात स्वाभाविक परिणाममात्र है। इसलिये श्रुतिमें कहा है:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

जिस प्रकार ऊर्णनाभिः (मकड़ी) किसी कारणके बिना अपने तन्तुका विस्तार और संकोच करती रहती है, जिस प्रकार पृथिवीमें ओषधि आदि स्वतः उत्पन्न होती रहती हैं और जिस प्रकार जीवित मनुष्यके केश, लोम आदि स्वतः ही निकलते रहते हैं, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मसे समस्त विश्वसंसारकी स्वतः ही उत्पत्ति होती रहती है। इसमें परमात्माके ओरकी कोई भी चेष्टा नहीं है। स्पन्दनधर्मिणी प्रकृति माता परम पुरुष परमात्माके अधिष्ठानको देख कर पतिको देखकर पतिव्रता सतीकी तरह स्वयं ही अनन्त सृष्टिका विस्तार करती रहती है। इसीलिये गीतामें लिखा है:-

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥

परमात्माके अधिष्ठानसे प्रकृति चराचर जगत्को प्रसव करती रहती है और इसी हेतु जगच्चक्रकी अविराम गति बनी हुई है। इन्हीं विषयोंको लेकर श्वेताश्वतर उपनिषद्में स्पष्ट बताया है। यथा:-

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल-क्रिया च॥
मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥

परमात्माका कोई भी कार्य या करण नहीं है, उनके समान या उनसे अधिक कोई भी नहीं है, उनकी पराशक्ति अनेकधा विस्तृता होती है, उनमें ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। उनकी ही स्वाभाविकी ज्ञानशक्ति निश्वासरूपसे निकल कर अनन्त ज्ञानभण्डाररूपी वेदको प्रकट करती है, उनकी स्वाभाविकी बलशक्ति अनन्त प्राणरूपसे जगज्जीवोंकी जीवनीशक्तिका नियमित विधान करती है और उनकी स्वाभाविकी क्रियाशक्ति अनादिकालसे अनन्तकालपर्यन्त जगच्चक्रको अविराम वेगसे घुमाया करती है। वे नित्य, निरञ्जन, निर्विकार हैं, प्रकृतिमाता ही उनकी स्वाभाविकी शक्तियोंको अपनी विविध विलासमयी सत्ताके द्वारा अनन्तरूपसे प्रकट करती है। इसलिये ही द्वितीय मन्त्रमें कहा गया है कि माया प्रकृति है और

महेश्वर मायाके अधिष्ठाता मायी हैं; मायाके द्वारा उन्हींके अवयवरूपी जीवोंसे समस्त संसार परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकारसे परमात्माकी सत्ता स्वरूपतः सर्वातीत होने पर भी मायाके द्वारा सर्वतोव्याप्त, सृष्टिस्थितिप्रलयकारण और अखिल विश्वकी एकमात्र निदान है। और यही कारण है कि वेदमें परमात्माके वर्णनप्रसङ्गमें द्विभाव तथा परस्पर विपरीत भाव और द्व्यर्थमूलक मन्त्र पाये जाते हैं। यथा ईशावास्योपनिषद्में---

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

मायासम्पर्कहेतु चलते हुए दिखाई देने पर भी स्वरूपतः परमात्मा नहीं चलते हैं, इसलिये वह चलते भी हैं और नहीं भी चलते हैं। इसी प्रकार मायातीत परमात्मा बहुत दूर होने पर भी माया द्वारा सर्वतोव्याप्त होनेसे सबके पास ही हैं, इसलिए परमात्मा दूर भी हैं और पास भी हैं। इसी प्रकार सर्वान्तर्यामी परमात्मा सबके भीतर होने पर भी प्रकृतिसम्बन्धसे अतीत होनेके कारण सबके बाहर भी हैं। इसलिये कहा गया है कि, वे सबके भीतर भी हैं और सबके बाहर भी हैं। इसी तरह प्रकृतिसम्पर्क और स्वरूपतः तदभावके कारण दोनों विपरीत भावोंका समन्वय परमात्मामें होता है और यही श्रुतिमें परमात्मविषयक वर्णनवैचित्र्यका रहस्य है। यथा कठोपनिषद्में--

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥

आसीनो दूरं व्रजति सयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥

प्रकृतिसे अतीत होनेसे आत्मा सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म और मायाके द्वारा विराट्-रूप होनेसे आत्मा महत्से भी महत्तर है। समस्त जीवोंकी हृदयगुहा उनका स्थान है। ज्ञानीगण द्वन्द्वभावसे मुक्त होकर उनकी महिमाको जान सकते हैं। आत्मा निज स्वरूपमें स्थित होनेपर भी प्रकृतिके द्वारा दूर तक जाते हैं और निश्चल, निर्विकार, निष्क्रिय होनेपर भी सचल, सक्रिय और सर्वत्रग प्रतीत होते हैं, इस प्रकार हर्षामर्षादि विपरीत भाव जिनके अन्तर्गत हैं उनको पण्डितगण ही जान सकते हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥

परमात्मा बृहत्, दिव्यरूप तथा मन-बुद्धिके अगोचर हैं और अन्य पक्षमें सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर हैं। परमात्मा दूरसे भी दूर हैं और अत्यन्त समीपवर्त्ती होकर हृदयगुहामें प्रच्छन्न भी रहते हैं जिनको अन्तर्दृष्टिपरायण महात्मागण देख सकते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है:—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥
य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

परमात्माके हाथ और पाँव न होने पर भी वे ग्रहण करते हैं और चलते हैं, चक्षु न होने पर भी देखते हैं और कर्ण न होने पर भी सुनते हैं अर्थात् परमात्मा ज्ञानस्वरूप होनेसे समस्त इन्द्रियोंके द्वारा उनके ज्ञानका विकास सम्भवपर है; इसलिये इन्द्रिय न रहने पर भी इन्द्रियवेद्य वस्तुओंके ज्ञानका अभाव उनमें नहीं होता है, परन्तु उनके ज्ञाता कोई जीव नहीं है। इसलिये ज्ञानिगण उनको परात्पर और महत्तम पुरुष कहते हैं। परमात्मा एकरस, एक वर्ण और अद्वितीय होने पर भी स्वकीय शक्तिरूपिणी मायाके योगसे अनन्तवर्ण और अनन्तरूप धारण करते हैं और इस प्रकार आदिमें अनन्तरूप होकर प्रलयकालमें अपने भीतर समस्त रूपोंको संहार भी कर लिया करते हैं। इस प्रकार विचित्रचरित्रशील परमात्मा संसारको शुभबुद्धि द्वारा संयुक्त करें। और भी:—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चित् यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्॥

परमात्मासे पर तथा अपर भी कोई नहीं है, उनसे सूक्ष्म तथा बृहत् भी कोई नहीं है, वे अद्वितीय और अचलरूपसे स्वस्वरूपमें विराजमान हैं और समस्त विश्व उन्हीं के द्वारा परिपूर्ण है। इन्हीं भावोंको लेकर श्रीगीताजीमें भी वर्णन है। यथा:—

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तान्नासदुच्यते॥
सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमँल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।

समस्त ज्ञानके लक्ष्य परमात्मा जिनके जाननेसे अमृतत्व लाभ होता है उनके लक्षण ये हैं:— वे अनादि हैं और सत् भी नहीं हैं तथा असत् भी नहीं हैं, उनके हस्त, पद सर्वत्र व्याप्त हैं; चक्षु, मस्तक, मुख और कर्ण सर्वतोव्याप्त हैं और वे स्वयं भी जड़चेतनात्मक समस्त जगत्‌में व्याप्त होकर विराजमान हैं, वे समस्त इन्द्रियगुणोंमें भासमान हैं, परन्तु सर्व इन्द्रियरहित हैं, वे सर्वथा निःसङ्ग होने पर भी सबके आधार और भरण करनेवाले हैं, वे त्रिगुणसे अतीत और शून्य होनेपर भी समस्त गुणोंके भोक्ता हैं, वे समस्त विश्वके बाहर भी हैं और भीतर भी हैं, गतिशील भी हैं और निश्चल भी हैं, सबके निकट भी हैं और सबसे दूर भी हैं, अतिसूक्ष्म होनेके कारण इनके स्वरूपको कोई नहीं जान सकता, वे समस्त भूतोंके बीच अद्वितीय रूपसे रहनेपर भी, भिन्न भावसे विभक्तकी तरह प्रतीत होते हैं, वे समस्त भूतोंके भर्त्ता, संहारकर्त्ता तथा पति भी हैं, वे सूर्य्यादि समस्त ज्योतिष्कगणके प्रकाशक, अज्ञानके परपारमें विराजमान, ज्ञानरूप, ज्ञेयरूप तथा ज्ञानगम्य होकर विश्वजीवके हृदयासनमें अधिष्ठित हैं। इस प्रकारसे मायातीत मायाके पति परमात्मामें समस्त विरुद्ध भावोंका समन्वय और विलय करके उनके भावातीत परमपदकी महिमा कीर्तन की गई है, जिस महिमाके सम्यक् परिज्ञानसे ज्ञानी भक्त दुस्तर संसार-सिन्धुका सन्तरण करके उनके नित्यानन्दमय स्वरूपमें चिरकालके लिये परा स्थिति लाभ कर सकते हैं, उनका जन्ममरणचक्र एकवार ही निरस्त होकर अनन्त शक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इसीलिये उनके निःश्वासरूपी वेदने जलदगम्भीर नादसे गाया है:—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति॥
स एव कालं भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः।
यस्मिन् युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति॥
न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तत् कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥

अज्ञानराज्यसे परे ज्योतिःस्वरूप जो महान् पुरुष परमात्मा विराजमान हैं उनको जाननेसे ही जीव मृत्युराजको अतिक्रम कर सकता है, संसारसे निस्तार पानेके लिये और द्वितीय पन्था नहीं है। सूक्ष्म वस्तुओंके मध्यमें भी अति सूक्ष्मरूपसे विराजमान जगत्कर्त्ता, अनेकरूप, समस्तविश्वव्यापी, शिवरूप सच्चिदानन्दके परिज्ञानसे ही साधकको आत्यन्तिक शान्ति प्राप्त होती है। विश्वपाता,

विश्वपति, निखिलजीवमें गूढ़रूपसे विराजमान ब्रह्मर्षियों और देवताओंके परमाराध्य, परमपिता परमात्माके जाननेसे मृत्युका भीषणपाश एकबार ही विच्छिन्न हो जाता है। उनका रूप दर्शनेन्द्रियका गोचर नहीं है, न कोई उनको स्थूल नेत्रसे देख सकता है। अन्तर्दृष्टिपरायण योगिगण केवल हृदयगुहामें उनका अपूर्व स्वरूप अनुभव करके अमृतत्व लाभ करते हैं। जो नित्योंके भी नित्य हैं और चेतनोंके भी चेतन हैं, जो एक होकर बहुतोंका कामनाविधान करते हैं, इस प्रकार सर्वकारणस्वरूप, ज्ञानयोगके द्वारा लभ्य, परमदेव परमात्माको जानकर जीव सकल प्रकारके संसारपाशसे मुक्त हो जाता है। अब नीचे निजशक्तिरूपिणी प्रकृतिके साथ सम्बन्ध तथा उसकी विकास और विलयदशाके अनुसार सच्चिदानन्दमय परमात्मा कितने भावोंमें अनुभव किये जाते हैं उनका विस्तारित वर्णन किया जाता है।

सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वरूपतः सदा एक भावमें विराजमान होने पर भी प्रकृति-सम्बन्धसे तीन भावोंमें प्रतीयमान होते हैं। यथा—ब्रह्म, ईश्वर और विराट्। इन तीनोंको यथाक्रम अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतभाव कहकर शास्त्रमें वर्णन किया गया है। इन तीनोंका संक्षिप्त वर्णन उपासनायज्ञ नामक अध्यायमें पहले ही किया गया है। छान्दोग्यश्रुतिमें अध्यात्म और अधिदैवभावके विषयमें लिखा है:—

"आकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च"

निर्लिप्त और व्यापक ब्रह्मके अध्यात्म और अधिदैव दोनों ही भाव बताये जाते हैं। श्रीभगवान्ने गीताजी में कहा है:—

"अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।"
"अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्॥"

अक्षर परब्रह्मका जो मायासम्पर्करहित अपना भाव है वही अध्यात्म है। उनका क्षरसंज्ञक जो प्रकृतिविलासमय भाव है वही अधिभूत है और उनका पुरुष-संज्ञक जो प्रकृति पर नियन्तृत्वका भाव है वही अधिदैव भाव है। इस प्रकारसे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों भावोंका प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। महर्षि वशिष्ठने इन तीनों भावोंका जो विस्तृत वर्णन किया है सो उपासनायज्ञ नामक अध्यायमें पहले ही बताया जा चुका है। दैवीमीमांसादर्शनमें अध्यात्म और अधिदैव भावके विषयमें यह सूत्र है:—

"ब्रह्मेशयोरैक्यं पार्थक्यं तु प्रकृतिवैभवात्"

अध्यात्म ब्रह्म और अधिदैव ईश्वर स्वरूपतः अभिन्न हैं, केवल प्रकृतिवैभवहेतु ही दोनोंमें पार्थक्य प्रतीत होता है। ब्रह्मकी जो सच्चिदानन्दमयी सत्ता त्रिगुणतरङ्ग-मयी मायासे परे है, जहाँपर माया जाकर लय होती है तथा जीवकी मुक्तिदशामें जहाँपर जीवको चिरविश्रान्तिलाभ हुआ करता है, व्यक्त तथा अव्यक्त प्रकृतिसे चिरसम्पर्कविहीन, निर्गुण, निरञ्जन तथा स्वाराज्यमें विराजमान ब्रह्मकी वही सत्ता अध्यात्म है। श्रुतिमें इस भावको 'तत्' पदके द्वारा शब्दित किया है। यह निर्गुण ब्रह्मभाव प्रकृतिविलासरहित होनेसे निर्विशेष ब्रह्मभाव कहलाता है। उनका सविशेष

अर्थात् सगुण तथा अधिदैव भाव वह है, जिसमें उनका विकाररहित दृष्टि सृष्टिकी ओर आकृष्ट होनेसे उन्हीं की अर्द्धाङ्गिनीरूपसे जगज्जननी महामाया प्रकट होकर अनन्त सृष्टिका विस्तार कर रही है और वे महामायाके प्रेरकरूपसे समस्त विश्वमें विराज रहे हैं। यही परमात्माके 'स' शब्द द्वारा संज्ञित, सविशेष अधिदैव भाव अर्थात् सगुण ब्रह्म ईश्वरभाव है। इन दोनों भावोंकी परस्पर तुलनाके साथ युगपत् वर्णनके लिये अनेक श्रुतियाँ मिलती हैं। यथाः—

"एतद् वै सत्यकाम परश्चापरं च ब्रह्म"

ब्रह्मके दो भाव हैं, यथा पर और अपर। बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है:—

"द्वे भाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चैवामूर्त्तं च, मर्त्यं चामृतं च, स्थितं च यत् च, सत् च, त्यत् च।"

ब्रह्मके दो भाव हैं—एक मूर्त्त अन्य अमूर्त्त, एक मर्त्य अन्य अमृत, एक स्थिर अन्य सचल, एक सत् अन्य त्यत्। मैत्रायणी उपनिषद्में लिखा है:—

"द्वे वाव खल्वेते ब्रह्मज्योतिषो रूपके"

ब्रह्मज्योतिके द्विविध रूप हैं, एक परब्रह्म अन्य अपर ब्रह्म, एक निर्विशेष भाव है दूसरा सविशेष भाव है, एक निर्गुण भाव दूसरा सगुण भाव है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने इन दोनों भावोंके प्रति लक्ष्य करके कहा है:—

"सन्ति उभयलिंगाः श्रुतयो ब्रह्मविषयाः। सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगंधः सर्वरस इत्येवमाद्याः सविशेषलिंगाः अस्थूलमनणु अह्रस्वमदीर्घं इत्येवमाद्याश्च निर्विशेषलिंगाः।"

ब्रह्मके विषयमें दो प्रकारकी श्रुतियाँ मिलती हैं। एक सविशेषलिङ्ग श्रुति जिसमें ब्रह्म सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस इत्यादि रूपसे विशेषित किया गया है और दूसरी निर्विशेषलिङ्ग श्रुति, जिसमें ब्रह्म स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, इस प्रकारसे वर्णन किया गया है। वास्तवमें सविशेष और निर्विशेषमें वस्तुगत्या कोई भी भेद नहीं, केवल भावानुसार भेद मात्र है। इसलिये वेदके अनेक स्थानमें एक ही मंत्रके द्वारा सविशेष और निर्विशेष भावोंको प्रकट करनेके लिये सविशेषब्रह्मबोधक मन्त्रमें पुंल्लिङ्ग और निर्विशेष ब्रह्म-बोधक मन्त्रमें क्लीवलिङ्गका प्रयोग किया गया है।

मुण्डकोपनिषद्में:—

"यत् तद् अद्रेश्यं अग्राह्यं अगोत्रं अचक्षुःश्रोत्रं तत् अपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥"

और भी ईशावास्योपनिषद्में:—

"स पर्यगात् शुक्र अकायं अव्रणं
अस्नाविरं शुद्ध अपापविद्धं।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः
याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ।"

इन दोनों मन्त्रोंके अर्थ उपासनायज्ञ और ज्ञानयज्ञके अध्यायोंमें पहले किये गये हैं। इनमेंसे प्रथम मन्त्रके 'अद्रेश्य-अग्राह्य' से लेकर 'अपाणिपाद' तक शब्द निर्विशेष ब्रह्मके बोधक होनेसे उनमें क्लीवलिङ्गका प्रयोग किया गया है और बाकी मन्त्र सविशेष ब्रह्मका बोधक होनेसे उसके शब्दोंमें पुंल्लिगका प्रयोग किया गया है। उसी प्रकार द्वितीय मन्त्रमें भी 'अपापविद्धं' पर्यंत सभी शब्द निर्विशेष ब्रह्मके बोधक होनेसे क्लीवलिंग हैं और बाकी शब्द सविशेष होनेसे पुल्लिंग हैं। इसी प्रकारसे भगवद्वाक्यरूपी वेदमें दोनों भावोंका परस्पर सामञ्जस्य और पार्थक्य बताया गया है। भगवती श्रुतिके मतको प्रतिध्वनित करके श्रुतिसम्मत अन्यान्य शास्त्रोंमें भी ब्रह्मके द्विविध भावोंका वर्णन किया गया है। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

"लीलया वापि युञ्जेरन् निर्गुणस्य गुणाः क्रियाः"

निर्गुण ब्रह्म लीलावशात् गुण और क्रियायुक्त होते हैं। और भीः—

"सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन्"

हे सर्वव्यापिन्! तुम सगुण निर्गुण सभी हो। और भीः—

वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यद् ज्ञानमद्वयं।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवान् इति शब्द्यते।

उस अद्वितीय ज्ञानसत्ताको तत्त्ववेत्तागण तत्त्व कहते हैं। वह निर्गुण ब्रह्म है, परमात्मा है और सगुणब्रह्म ईश्वर भी है। विष्णुपुराणमें वर्णित है, यथाः—

सदक्षरं ब्रह्म य ईश्वरः पुमान्
गुणोर्मि सृष्टिस्थितिकालसंलयः।

जो प्रकृतिस्पन्दनजनित सृष्टिस्थितिप्रलयके कारणरूप, परम पुरुष, ईश्वर हैं वही सत् अक्षर ब्रह्म है। इस प्रकार ब्रह्मके द्विविध भावोंके युगपत् वर्णन समस्त शास्त्रमें पाये जाते हैं। अब नीचे पृथक्-पृथक् रूपसे दोनों भावोंका वर्णन किया जाता है।

ब्रह्मका निर्गुणभाव प्रकृतिसे परे होनेके कारण समस्त इन्द्रियाँ, मन, वाणी तथा बुद्धिसे भी अतीत हैं।

"नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा"
"न विद्मो न विजानीमः"
"यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सहः"

इत्यादि श्रुतियाँ निर्गुण ब्रह्मके इस प्रकार मायातीत भावोंको सूचित करती हैं। जब निर्गुण ब्रह्म समस्त प्रकृतिसे परे हैं और किसी विशेषणसे विशेषित तथा किसी लक्षणसे लक्षित नहीं किये जा सकते हैं, तो उनका परिचय शब्द द्वारा देनेका

कोई उपाय नहीं हो सकता है। इसीलिये शास्त्रमें 'नेति नेति' शब्द द्वारा निर्गुण ब्रह्मका परिचय दिया गया है। यथा बृहदारण्यक उपनिषद्में:—

"अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादन्यत् परमस्ति"

परब्रह्मके परिचयके लिये इतना ही कहा जा सकता है कि वह यह नहीं है, यह नहीं है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि निर्गुणब्रह्मवाचक श्रुतियोंमें 'नञ्' का प्रयोग बहुत देखा जाता है। यथा—बृहदारण्यकोपनिषद्में:—

"तदेतद् ब्रह्म अपूर्वं अनपरं अनन्तरं अबाह्यम्"

ब्रह्मके पूर्व या पर, अन्तर या बाहर कुछ भी नहीं है।

कठोपनिषद्में:—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं
तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अक्षर, अनादि, अनन्त और महत्के परे ध्रुव वस्तु ब्रह्मको जाननेपर जीव मृत्युमुखसे मुक्त होता है।

बृहदारण्यकोपनिषद्में:—

"स एव नेति नेति आत्मा अग्राह्यो न हि गृह्यते अशीर्यो न हि शीर्यते असंगो न हि सज्जते असितो न हि व्यथते"

वही नेति नेति आत्मा अर्थात् ब्रह्म अग्राह्य है—उसे ग्रहण किया नहीं जा सकता है, अशीर्य है—शीर्ण नहीं होता है, असङ्ग है—आसक्त नहीं होता है, असित है—व्यथित नहीं होता है। तैत्तिरीयोपनिषद्में:—

"एतस्मिन् अदृश्ये अनात्मे अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथासोऽभयं गतो भवति"

जब जीव अदृश्य—इन्द्रियोंके अगोचर, अनात्म—आत्मासे अतीत, अनिरुक्त—वाक्यसे अतीत, अनिलयन—आधार रहित ब्रह्ममें अभय होकर प्रतिष्ठालाभ करता है तभी वह भवभयसे अतीत हो जाता है। माण्डूक्योपनिषद्में—

"नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं अदृष्टं अव्यवहार्यं अग्राह्यं अलक्षणं अचिन्त्यं अव्यपदेश्यं एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवं अद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते, स आत्मा स विज्ञेयः"

जिनकी प्रज्ञा बहिर्मुख नहीं है, अन्तर्मुख नहीं है और उभय मुख भी नहीं है, जो प्रज्ञानघन नहीं हैं, प्रज्ञ नहीं है, और अप्रज्ञ भी नहीं है, जो दर्शनसे अतीत, व्यवहारसे अतीत, ग्रहणसे अतीत, लक्षणसे अतीत, चिन्तासे अतीत, निर्देशसे

अतीत, आत्मप्रत्ययमात्रसिद्ध प्रपञ्चातीत, शान्त, शिव, अद्वैत और तुरीयपद-स्थित हैं, वेही निरुपाधिक आत्मा ब्रह्म जानने योग्य हैं। इस प्रकारसे ब्रह्म समस्त कार्य्य, समस्त कारण तथा समस्त द्वैतसत्तामूलक भावसे भिन्न हैं और इसलिये श्रुतिमें कहा गया है। यथा:—

"अन्यदेव तद्विदितात् अथोऽविदिताद् अधि"

ब्रह्म विदितसे भी भिन्न हैं और अविदितसे भी भिन्न हैं। और भी कठोपनिषद्में:—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात् । अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च ॥

ब्रह्म धर्मसे पृथक् हैं और अधर्मसे भी पृथक् हैं, कार्य्यसे पृथक् हैं और और कारणसे भी पृथक् हैं, अतीतसे भी पृथक् हैं और भविष्यत्से भी पृथक् हैं। इसीलिये श्रीभगवान् शङ्कराचार्य्यने साफ कहा है—

"सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणि"

ब्रह्म समस्त कार्य और धर्मसे विलक्षण स्वरूप है। ब्रह्म विषय भी नहीं है और विषयी भी नहीं है, ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय कुछ भी नहीं है, द्रष्टा, दर्शन, दृश्य कुछ भी नहीं है, स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है, अणु भी नहीं है और महान् भी नहीं है, सत् भी नहीं है और असत् भी नहीं है, चित् भी नहीं है और जड़ भी नहीं है, सुख भी नहीं और दुःख भी नहीं है। तब ब्रह्म क्या है? ब्रह्म कुछ भी नहीं है और सब कुछ है। उनमें समस्त विरुद्ध धर्म तथा समस्त द्वन्द्वका चिरसमन्वय है। देश, काल और निमित्त सभी जिनमें लवलीन हैं उनके लिये द्वैत ही क्या है, और अद्वैत ही क्या है. वे जात भी नहीं हैं और अजात भी नहीं हैं, क्षुब्ध भी नहीं हैं और प्रशान्त भी नहीं हैं। उनमें समस्त द्वन्द्व और समस्त द्वैतका एकान्त अवसान और आत्यन्तिक लय है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये योगवाशिष्ठमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—

किमाकाशमनाकाशं न किञ्चित् किञ्चदेव किम् ।
कः सर्वं न च किञ्चिच्च कोऽहं नाहञ्च किं भवेत् ॥

ऐसी कौन वस्तु है जो आकाश है और आकाश है भी नहीं, जो कुछ नहीं है और कुछ है भी। जो सब कुछ है और कुछ भी नहीं है, जो अहं है और अहं है भी नहीं।

गच्छन्न गच्छति च कः कोऽतिष्ठन्नपि तिष्ठति ।
कश्चेतनोऽपि पाषाणः कश्चिद् व्योम्नि विचित्रकृत् ॥

ऐसे कौन हैं जो जाकर भी नहीं जाते हैं, स्थित न होने पर भी स्थितिशील हैं, चेतन होने पर भी जड़ हैं और आकाशमें विचित्र चित्र निर्माण करते हैं?

केनाप्यणुकमात्रेण पूरिता शतयोजनी ।
कस्याणोरुदरे सन्ति किलात्रनिभृतां घटाः॥

कौन वस्तु अणु होकर भी शतयोजन व्याप्त है और किस अणुके भीतर पर्वतसमूह अवस्थित हैं ?

अचंद्रार्काग्नितारोऽपि कोऽविनाशप्रकाशकः ।
अनेत्रलभ्यात् कस्माच्च प्रकाशः सम्प्रवर्त्तते ॥

चन्द्र, सूर्य, अग्नि और नक्षत्र न होकर भी कौन नित्य प्रकाशमय है और इन्द्रियोंसे अगोचर किस वस्तुसे संसारमें समस्त प्रकाश प्रवृत्त होता है ?

कोऽणुस्तमः प्रकाशः स्यात् कोणुरस्ति च नास्ति च ।
कोऽणुर्दूरेऽप्यदूरे च कोऽणुरेव महागिरिः ॥

कौन वस्तु अन्धकार होकर भी प्रकाश है और अस्ति होकर भी नास्ति है ? कौन दूर होकर भी निकट है और कौन अणु होकर भी महान् है ?

निमेष एव कः कल्पः कः कल्पोऽपि निमेषकः ।
किं प्रत्यक्षमसद्रागं किं चेतनमचेतनम् ॥

कौन निमेष होकर भी कल्प और कल्प होकर भी निमेष है ? कौन प्रत्यक्ष होकर भी अप्रत्यक्ष और चेतन होकर भी अचेतन है ?

आत्मानं दर्शनं दृश्यं को भासयति दृश्यवत् ।
कटकादि हि हेम्नेव विकीर्णं केन च त्रयम् ॥

सुवर्णसे कटक, कुण्डल, हारकी तरह किस वस्तुसे द्रष्टा, दर्शन, दृश्य भासमान हो रहा है ?

दिक्कालादनवच्छिन्नादेकस्मादसतः सतः ।
द्वैतमप्यपृथक् तस्माद् द्रवतेव महाम्भसः ॥

जिस प्रकार तरङ्ग समुद्रसे पृथक् नहीं है उसी प्रकार देशकालापरिच्छिन्न सदसत्रूप अद्वितीय ब्रह्मसत्तासे यह द्वैत भी पृथक् नहीं है। इसी तरहसे समस्त शास्त्रके द्वारा निर्गुण ब्रह्मसत्तामें अखिल द्वैत तथा द्वन्द्वमूलक सत्ताका अपूर्व समन्वय और विलीनताका वर्णन किया गया है जिसको ज्ञानदृष्टिके द्वारा उपलब्ध करके साधक ब्रह्मभावमें विलीन हो सकते हैं ।

श्रुतिमें निर्गुण ब्रह्मका स्वरूपनिर्णय करते समय उनको निरुपाधिक कहा गया है। संसारमें उपाधि तीन प्रकारकी होती है यथा—देशोपाधि, कालोपाधि और निमित्तोपाधि। ब्रह्म देश, काल और निमित्त (Space, Time and Causality) इन तीनों उपाधियोंसे अतीत तथा अपरिच्छिन्न होनेसे विभु, नित्य, पूर्ण और कार्य्यकारणसम्बन्धशून्य हैं। ब्रह्मके देशातीत भावके वर्णन-प्रसङ्ग श्रुतिने कहा है :—

"ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीदेकोऽनन्तः प्रागनन्तो दक्षिणतोऽनन्तः प्रतीच्यनन्त उदीच्यनन्त ऊर्द्ध्वं च अवाङ् च सर्वतोऽनन्तः"

"न ह्यस्य प्राच्यादिदिशः कल्पतेऽथ तिर्यग्वाऽवाङ् वोर्द्ध्वं वाऽनुह्य एष परमात्माऽपरिमितोऽजः"

सबसे पहले ब्रह्म ही अद्वितीय और अनन्तरूपसे थे। ब्रह्म पूर्वमें अनन्त हैं, पश्चिममें अनन्त हैं, दक्षिणमें अनन्त हैं, उत्तरमें अनन्त हैं, ऊर्द्ध्वमें अनन्त हैं, अधःमें अनन्त हैं और सर्वदेशमें अनन्त हैं। उनके लिये पूर्व, पश्चिम या उत्तर, दक्षिण भेद नहीं है और ऊर्द्ध्व अधः भेद भी नहीं है। वे निराधार, अपरिमित और अज हैं। देशसे ही परिमाण की सिद्धि होती है। जो वस्तु जितने देशमें व्याप्त है, उसका परिमाण भी उतना ही होता है। परन्तु ब्रह्म जब देशसे अतीत है तो परिमाणसे अतीत अवश्य होगा। इसीलिये श्रुतिने ब्रह्मको कहा है:—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्'

ब्रह्म परिमाणसे अतीत होनेके कारण अणुसे भी सूक्ष्म है और विभु, व्यापक तथा महान् है। यथा:—

"एषोऽणुरात्मा" "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति"

ब्रह्म अणु है। महान् विभु ब्रह्मको जानकर धीर योगी शोकमुक्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है :—

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्याः ज्यायान् अन्तरिक्षात् ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः।

अन्तर्विहारी आत्मा व्रीहि, यव, सर्षप, श्यामाक या श्यामाकतण्डुलसे भी अणु हैं और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिव् तथा समस्त भुवनसे भी बृहत् हैं। जो देशातीत और परिमाणसे भी अतीत है उसका विभाग भी नहीं हो सकता है। इसलिये श्रुतिमें ब्रह्मको 'अकल' 'निष्कल' आदि विशेषण द्वारा बताया गया है। यथा :—

"निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्" (श्वेताश्वतरे)

"हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्" (मुण्डके)

"परः त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः" (श्वेताश्वतरे)

"स एष अकलोऽमृतो भवति" (प्रश्ने)

ब्रह्म निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निश्चिह्न है। आनन्दमय कोशके भी परे विराजमान विरज, निष्कल है। त्रिकालसे परे ब्रह्म अकल है। अमृतमय ब्रह्म अकल है। इस प्रकारसे समस्त शास्त्रमें निरुपाधिक ब्रह्मके देशरूप उपाधिसे अतीत भावका वर्णन किया गया है।

निर्गुण निरुपाधिक ब्रह्म केवल देशसे अतीत नहीं है, परन्तु कालसे भी अतीत है। काल त्रिविध है। यथा—भूत, भविष्यत् और वर्तमान। अतः देशातीत ब्रह्म इन तीनों कालोंसे भी अतीत है। यथा बृहदारण्यकमें :—

"स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे एव तदोतं च प्रोतं चेति"

जो द्युलोकसे ऊद्र्ध्व, पृथ्वीसे अध और अन्तरिक्षके उदरमें है, जिसको भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान कहा जाता है वह सभी आकाशरूपी ब्रह्ममें ओतप्रोत है। और भी—

यस्मादर्वाक् संवत्सरः अहोभिः परिवर्त्तते।
तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥

जिनको स्पर्श न करके सम्वत्सर दिनोंके साथ परिवर्त्तित होता रहता है उन्हींको देवतागण ज्योतिके ज्योति और अमृत, आयु करके उपासना करते हैं। इसी भावको पुष्ट करने के लिये श्वेताश्वतरमें उनको—

"परः त्रिकालात्"

कठोपनिषद्में—

"अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च"

बृहदारण्यकमें—

"ईशानं भूतभव्यस्य"

ब्रह्म त्रिकालसे परे हैं, भूत और भविष्यत्से भिन्न हैं और भूत और भविष्यत् के अधीश्वर हैं इस प्रकारसे वर्णन किया गया है। निरुपाधिक ब्रह्मके देशातीत होनेसे जिस प्रकार श्रुतिमें उनको अणुसे भी अणु और महत्से भी महान् कहा है उसी प्रकार कालातीत होनेसे भी श्रुतिने उनको एक पक्षमें अनादि, अनन्त और अन्य पक्षमें क्षणसे भी क्षणिक कहा है। यथा—

"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं"
"अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये"

ब्रह्म अनादि अनन्त, महत्तत्त्वसे परे और ध्रुव है। अनादि अनन्त ब्रह्म जगत्के मध्यमें अवस्थित है। तथा अन्य पक्षमें—

"तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा सकृद् विद्युत्तम्"
"विद्युद् ब्रह्मेत्याहुः"
"यदेतद् विद्युतो व्यद्युतद् आ—न्यमीमिषद् आ"

ब्रह्मका रूप विद्युत्की तरह क्षणिक दीप्तिमान है। ब्रह्मको विद्युत् कहते हैं। वह विद्युत्की तरह क्षणप्रभा और निमेषकी तरह क्षणस्थायी है। इस प्रकार श्रुतिने

ब्रह्मके देश और कालातीत भावका ज्ञापन किया है। देश और कालकी तरह निरुपाधिक ब्रह्म निमित्त अर्थात् कार्य्य-कारण सम्बन्धसे भी अतीत है। इसलिये श्रुतिमें ब्रह्मको निर्विकार कहा गया है। यथा कठोपनिषद्में:—

"अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्"

"अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणः"

"न जायते म्रियते वा विपश्चित्"

"अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्"

ब्रह्म कृत और अकृत दोनोंसे पृथक् हैं, वे अज, नित्य, शाश्वत और पुराण हैं। उनमें जन्म, मृत्यु आदि विकार नहीं हैं। वे नश्वर शरीरमें अविनश्वररूपसे अवस्थान करते हैं। बृहदारण्यकमें लिखा है:—

एकधैवानुद्रष्टव्यं एतदप्रमेयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान् ध्रुवः॥

ब्रह्म अप्रमेय और ध्रुव हैं। उनको एकरूप जानना चाहिये, वे रजोहीन आकाशसे भी सूक्ष्म और परे, अज, महान् और ध्रुव हैं। ब्रह्मके निर्विकार और निमित्तातीत होनेसे उपनिषद्में उनको 'अक्षर' कहा गया है।

"तदेतदक्षरं ब्राह्मणा विविदिषन्ति"

"एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि"

"अथ परा यया तदक्षरं अधिगम्यते"

ब्रह्मवेत्तागण उनको अक्षर करके जानते हैं। अक्षररूपी ब्रह्मके शासनसे समस्त संसार स्थित है, परा विद्या वही है जिससे अक्षर ब्रह्म परिज्ञात होते हैं। अतः विविध श्रुतिप्रमाण और विचारके द्वारा सिद्ध हुआ कि निर्गुण ब्रह्म देश-उपाधि, काल-उपाधि और निमित्त-उपाधिसे अतीत हैं। इसलिये निर्गुण ब्रह्म निरुपाधि है।

इस प्रकार निर्गुण, निरुपाधिक, प्रकृतिपारावारपारस्थित ब्रह्मको कैसे जाना जा सकता है? श्रुति कहती है कि उनको जाना नहीं जा सकता है। ब्रह्म अज्ञेय है। यथा बृहदारण्यकमें:—

"यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं विजानाति, त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् केन कं विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्"

जब तक द्वैतका भाव रहता है तभीतक एक दूसरेको देखता है, एक दूसरेको जानता है, परन्तु जब अद्वैत भावमें सब आत्ममय हो जाता है तब किससे किसको देखेगा और किससे किसको जानेगा, जिसके द्वारा सब कुछ जाना जाता है उसको किसके द्वारा जानेगा। निष्कर्ष यह है जब निर्गुण ब्रह्मभावमें ज्ञाताज्ञेयज्ञानरूपी त्रिपुटिका विलय है तो निर्गुण ब्रह्म ज्ञानगम्य अर्थात् ज्ञेय नहीं हो सकते हैं। इसी भावको लेकर केनोपनिषद्में कहा है:—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥

जो ब्रह्मको जानता नहीं वही जानता है और जो जानता है वह जानता नहीं, ज्ञाताके लिये ब्रह्म अज्ञात है और अज्ञाताके लिये ज्ञात है। इस प्रकार स्थूल दृष्टिमें प्रलापवत् वाक्यका सार यह है कि जब तक ज्ञाता ज्ञेय ज्ञानरूपी त्रिपुटीका भेद रहता है तब तक ब्रह्म अज्ञात रहते हैं और त्रिपुटिभेदरहित होकर ज्ञाताज्ञानज्ञेयकी एकाकारिता हो जाने पर तब ब्रह्म ज्ञात होते हैं। इसलिये निर्गुण ब्रह्मके ज्ञानके विषयमें तैत्तिरीय उपनिषद्‌में लिखा है:—

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति। ब्रह्म सन् ब्रह्म अवैति। ब्रह्मविदाप्नोति परम्"

ब्रह्मको जानकर ब्रह्मरूप हो जाता है, ब्रह्म होकर तब ब्रह्मको जानता है, ब्रह्मवेत्ता परम पदको प्राप्त करते हैं। सर्वत्र विराजमान स्वयंप्रकाश ब्रह्मको किसीके अवलम्बनसे नहीं जाना जाता है। जब मनोविकाररूप द्वैतमय प्रपञ्चका तिरोधान साधकके अन्तःकरणमें हो जाता है तब निर्गुणब्रह्मभावका प्रकाश और उपलब्धि स्वयं ही हो जाती है। अतः ब्रह्म अज्ञेय है। इस कारण ज्ञानके अवलम्बनसे ब्रह्मके जाननेके विषयमें जो कुछ श्रुतियाँ मिलती हैं वे सभी सगुण ब्रह्म ईश्वरकी उपलब्धि-विषयक श्रुतियाँ हैं। यथा कठोपनिषद्‌में:—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयंभूस्तस्मात्पराक् पश्यति नान्तरात्मन् ।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

स्वयम्भू भगवान्‌ने इन्द्रियसमूहको बहिर्मुख कर दिया है इसलिये जीवगण बहिर्विषयोंको देखते हैं; अन्तरात्माको देख नहीं सकते। यदि कोई धीर पुरुष अमृत-लाभकी इच्छा करके अपनी इन्द्रियोंको बहिर्विषयोंसे प्रत्याहृत कर ले तो वह अन्तराकाशमें प्रकाशमान प्रत्यगात्माको देख सकते हैं। यहाँ पर प्रत्यगात्मा शब्द हृदयगुहाप्रविष्ट कूटस्थ चैतन्य ईश्वरवाचक ही है। और भी—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥

सकल जीवोंके हृदयमें प्रविष्ट आत्मा प्रकाशित नहीं होते हैं। केवल सूक्ष्म-दर्शिगण अतीव सूक्ष्म बुद्धि अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा उनको देखते हैं। यथा मुण्डकोपनिषद्‌में:—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः"

अणु आत्मा अन्तःकरणके द्वारा जानने योग्य है। और भी:—

'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः'

ज्ञानके प्रसादसे विशुद्धचित्त साधक ध्यानयोगसे निष्कल परमात्माका दर्शन करते हैं। यथा कठश्रुतिमें:—

'हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति'

परमात्मा हृदयमें संशयरहित बुद्धिके द्वारा दृष्ट होते हैं, उनको जाननेसे जीवको अमृतत्व लाभ होता है। यही सभी उपलब्धि सविशेष सगुण सोपाधिक ब्रह्म अर्थात् ईश्वर विषयक है। अब नीचे सगुण ब्रह्म ईश्वरके स्वरूपके विषयमें विचार किया जाता है।

परमात्माके अधिदैवभाव अर्थात् ईश्वरभावके लक्षणके विषयमें पहले ही कहा गया है कि जिस भावके साथ समष्टिप्रकृतिका द्रष्टादृश्यसम्बन्ध है और जिस भावके ईक्षण या अधिष्ठानके द्वारा चेतनवती होकर प्रकृतिमाता अनादि अनन्त सृष्टिधारा विस्तार कर रही है वही भाव परमात्माका अधिदैव अर्थात् ईश्वरभाव है। परमात्माका यह भाव प्रकृतिसे अतीत सृष्टिसम्बन्धहीन उनके अध्यात्म अर्थात् निर्गुण ब्रह्मभावसे वस्तुतः पृथक् न होनेपर भी भावराज्यमें बहुत ही पृथक् है। इसीलिये वेदादि शास्त्रोंमें इन दोनों भावोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। यथा पुरुषसूक्तमें:—

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

परमात्माके एक पादमें समस्त विश्व स्थित है और तीन पाद सृष्टिसे अतीत और अमृत हैं। मैत्री उपनिषद्‌में वर्णन है:—

त्रिष्वेकपात् चरेद् ब्रह्म त्रिपात् चरति चोत्तरे।
सत्यानृतोपभोगार्थो द्वैतीभावो महात्मनः॥

त्रिलोकके बीचमें परमात्माका एकपादमात्र विद्यमान है। उनके और तीन पाद सृष्टिसे बाहर हैं। सत्य और अनृतके उपभोग के अर्थ ही परमात्माके वे दो भाव हैं। श्रीगीताजीमें लिखा है:—

"विष्टभ्याहमिदं सर्वमेकांशेन स्थितो जगत्"

परमात्मा अपने एक अंशके द्वारा जगतको व्याप्त किये हुए हैं। विष्णुपुराणमें लिखा है:—

प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि॥

व्यक्त और अव्यक्त प्रकृति और पुरुष दोनों ही प्रलयकालमें परमात्मामें लीन हो जाते हैं। उस समय प्रकृति और ईश्वरके बीचमें दृश्यद्रष्टृत्व सम्बन्ध नहीं रहता है। इन सब वर्णनोंके द्वारा यही सिद्ध होता है कि परमात्माके जिस पाद अर्थात् जिस भावके साथ सृष्टिका सम्बन्ध है वही भाव ईश्वरभाव है और उनका जो भाव अमृतमय तीन पादसे सम्बन्धयुक्त होनेके कारण सृष्टिसे अतीत है तथा जिस भावमें मुक्तात्माकी प्रकृति विलीन हो जाती है वही भाव उनका ब्रह्मभाव है। ये दो भाव पृथक्-पृथक् अंश या सीमा पर बटे हुए नहीं हैं; क्योंकि असीम विभु अनादि, अनन्त ब्रह्ममें इस प्रकार अंश या सीमाकी कल्पना उनके स्वरूपसे विरुद्ध होगी। अनादि मायाके विकास और विलयके अनुसार एक ही भावमें दो भावोंकी

स्फूर्ति होती है। यथा प्रलयकालमें प्रकृतिका ब्रह्ममें विलय हो जानेसे द्रष्टा-दृश्य-सम्बन्धयुक्त ईश्वरभाव नहीं रहता और वही ब्रह्म पुनः सृष्टिके समय अनादि मायापर अधिष्ठान करके ईश्वरभावको प्राप्त कर लेते हैं। यथा श्वेताश्वतर उपनिषद्में:—

यस्तूर्णनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः।
स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्॥

जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकड़ी) जाल बनाकर उसमें अपनेको आवृत्त करता है उसी प्रकार स्वभावतः अद्वितीय ब्रह्म प्रकृतिके जालमें अपनेको आवृत्त कर लेता है। यही निर्गुण ब्रह्मकी प्रकृति सम्बन्धके द्वारा सृष्टिकालीन सगुण ब्रह्मभावकी प्राप्ति है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम्।
गृहीतमायोरुगुणः सर्गादावगुणः स्वतः॥

समस्त विश्व भगवान् नारायणमें स्थित हैं। वह स्वभावतः निर्गुण होनेपर भी सृष्टिके समय मायाको आश्रय करके सगुण अर्थात् ईश्वरभावको प्राप्त होते हैं। और भी विष्णुपुराणमें :—

"तच्छक्त्युपाधिसंयोगाद् ब्रह्मैवेश्वरतां व्रजेत्"

अपनी शक्तिरूपिणी प्रकृतिके उपाधिसंयोगसे निर्गुण ब्रह्म ही सगुण ईश्वर भावको प्राप्त हो जाते हैं। यही ब्रह्मभाव और ईश्वरभावकी भावराज्यमें पृथक्-पृथक् सत्ताका रहस्य है। अनन्त महोदधिकी जो निवात निष्कम्प प्रशान्तिमय अवस्था है वही ब्रह्मके निर्गुणभावके साथ उपमित हो सकती है। और उसी महासमुद्रकी जो अनन्ततरङ्गमयी फेनलहरीलीलामयी वीचिविक्षुब्ध अवस्था है उसीके साथ ब्रह्मके सगुणभावकी तुलना हो सकती है। एक ही ब्रह्ममहासमुद्रके मायापवनप्रवाहजनित दो भाव हैं जो वास्तवमें दोनों एक ही हैं। एक ही ब्रह्म माया-यवनिकाके आवरणसे सगुणसंकुचित हो रहे हैं और पुनः मायावरणशून्य होकर निर्गुण-निस्तरङ्ग हो रहे हैं। ब्रह्मका यह सगुणभाव ईश्वर विशेषणसे विशेषित और लक्षणसे लक्षित होनेके कारण ज्ञाताज्ञानज्ञेय सम्बन्धके द्वारा तटस्थलक्षण-वेद्य है। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें:—

"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्"

ब्रह्मका अधिदैव और अभिभूतभाव तटस्थलक्षवेद्य है। जिस प्रकार सूर्यमें किरणप्रदानशक्ति रहने पर भी केवल वायुस्तर अथवा अन्य किसी भौतिक वस्तु पर प्रतिफलित होनेसे ही वह शक्ति अपने प्रकाश और प्रभावको दिखा सकती है, जहाँ पर कोई आधार (Mediun) या उपाधि नहीं है वहाँ पर उसका प्रकाश नहीं हो सकता है, ठीक उसी प्रकार परमात्मामें जो ह्लादिनी, सन्धिनी, संवित् अर्थात् सत्, चित् और आनन्दभाव है उसका अनन्तरूपसे संसारमें प्रकाश केवल मायारूपी आधार या उपाधिके द्वारा तटस्थ देशोंमें ही हो सकता

है और इसीलिए निरूपाधिक निर्गुण ब्रह्ममें किसी भाव या शक्तिकी व्यक्तावस्था न होने पर भी मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरमें मायाके आधारसे समस्त शक्ति और समस्त भावोंका विकास होता है जिसका अनन्तवर्णन वेदादि शास्त्रोंमें किया गया है। अब नीचे सगुण ब्रह्म ईश्वके वेदशास्त्रसम्मत कुछ भावोंका वर्णन किया जाता है।

वेदमें ईश्वरको अनन्त विश्वका सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता माना गया है।

"जन्माद्यस्य यतः"

इस सूत्रके द्वारा वेदान्तदर्शनने भी समस्त संसारका जन्मस्थितिप्रलय ईश्वरसे ही प्रमाणित किया है। जड़ माया ईश्वरकी चेतनशक्तिके द्वारा ही चेतनता और क्रियाशीलताको पाकर समस्त विश्व संसारको प्रसव कर सकती है। ईश्वरकी अनन्त शक्ति तीन भागोंमें विभक्त होकर अनन्त विश्वकी उत्पत्ति-स्थितिप्रलयक्रिया सम्पादन करती है। उनकी रजोगुणमयी सृष्टिकारिणी शक्तिका नाम ब्रह्मा, सत्त्वगुणमयी स्थितिकारिणी शक्तिका नाम विष्णु और तमोगुणमयी प्रलयकारिणी शक्तिका नाम रुद्र है। यही संसारकी सर्गस्थितिभंगविधायिनी उनकी त्रिमूर्ति है। यथा सूतसंहितामें:—

"भक्तिचित्तसमासीनो ब्रह्मविष्णुशिवात्मकः"

भक्तके चित्तमें विराजमान ब्रह्मा विष्णु और शिवरूपी उनकी तीन मूर्तियाँ हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

आत्ममायां समाविश्य सोऽहं गुणमयीं द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वं दध्रे संज्ञां क्रियोचिताम् ॥

गुणमयी निजमायाको आश्रय करके संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय क्रिया सम्पादनके अनुसार ईश्वरकी ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र संज्ञा होती है। परमात्मा ईश्वर-की दृष्टिके नीचे अनन्त विश्वमें अनन्त ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करता है। यथा योगवाशिष्ठ में:—

यथा तरंगा जलधौ तथेमाः सृष्टयः परे।
उत्पत्योत्पत्य लीयन्ते रजांसीव महानिले ॥
एकस्यानेकसंस्थस्य कस्याणोरम्बुधेरिव।
अन्तर्ब्रह्माण्डलक्षाणि लीयन्ते बुदबुदा इव ॥

जिस प्रकार समुद्रमें तरङ्ग है उसी प्रकार परमेश्वरमें अनेक सृष्टि, वायुमें धूलिकणकी तरह आविर्भाव और तिरोभावको प्राप्त हो रही है। वही एक 'अणु' है जिसके बीचमें समुद्रमें बुद्बुद्की तरह लक्ष लक्ष ब्रह्माण्ड विलीन हो रहे हैं। देवी-भागवतमें लिखा है :—

"संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन"

धूलिकणकी भी संख्या सम्भव हो सकती है; परन्तु ब्रह्माण्डोंकी संख्या नहीं हो सकती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है :—

"लक्ष्यन्तेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः"

समस्त विश्वके बीचमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड परिलक्षित होते हैं। पाश्चात्य विज्ञानके मतानुसार शून्यमें विराजमान अनन्त नक्षत्रराशि अनन्त सूर्य हैं और प्रत्येक नक्षत्र-सूर्य अपने ग्रह-उपग्रहोंके साथ सूर्यमण्डल या पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्डरूपसे विराजमान हैं। अतः पाश्चात्य विज्ञानानुसार भी अनन्त विश्वमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड हैं ऐसा सिद्ध होता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति और प्रलयके लिए स्वतन्त्र स्वतन्त्र ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होते हैं। यथा देवीभागवतमें:—

संख्या चेद् रजसामस्ति विश्वानां न कदाचन।
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां तथा संख्या न विद्यते।
प्रतिविश्वेषु सन्त्येव ब्रह्मविष्णुशिवादयः॥

धूलिकणकी तरह असंख्य ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रोंकी भी संख्या अनन्त है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें पृथक् पृथक् ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होते हैं। लिङ्गपुराणमें लिखा है :—

कोटिकोट्ययुतानीशे चाण्डानि कथितानि तु।
तत्र तत्र चतुर्वक्त्रा ब्रह्माणो हरयो भवाः॥
असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याताः पितामहाः।
हरयश्च ह्यसंख्याता एक एव महेश्वरः॥

अनन्त विश्वके गर्भमें कोटि कोटि और अयुत अयुत ब्रह्माण्ड हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें चतुर्मुख ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र रहते हैं। इस प्रकारसे अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त ब्रह्मा, अनन्त विष्णु और अनन्त रुद्र हैं। उन सबके ऊपर अद्वितीय महेश्वर विराजमान् हैं। अतः सिद्ध हुआ कि अद्वितीय ईश्वरकी अनन्त शक्ति विश्वसंसारके सर्गस्थितिभङ्गविधानके लिये अनन्त ब्रह्माण्डमें अनन्त ब्रह्मा, विष्णु, रुद्रशक्तिरूपसे व्याप्त हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में परमात्मासे ब्रह्माकी उत्पत्तिके विषयमें लिखा है :—

"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं"
"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं"

सृष्टिके पहले ब्रह्माकी उत्पत्ति परमात्मासे ही होती है। इस प्रकार त्रिदेव तथा सकल देवोंकी उत्पत्ति परमात्माकी शक्तिसे ही होती है। यथा श्रुतिमें:—

"नारायणाद् ब्रह्मा जायते।
नारायणाद् विष्णुर्जायते।

नारायणाद् रुद्रो जायते।
नारायणादिन्द्रो जायते।
नारायणात् प्रजापतिः प्रजायते।
नारायणाद् द्वादशादित्या रुद्रा वसवः समुत्पद्यन्ते।"

परमात्मासे ही ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, प्रजापति, द्वादश आदित्य, रुद्र और वसु आदि सब देवगण उत्पन्न होते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है:—

"आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युचरन्ति"

ईश्वरसे समस्त प्राण, समस्त लोक, समस्त देवतागण और समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकारसे समस्त संसार और समस्त जीव तथा समस्त देवताओं-को निज महती शक्ति द्वारा उत्पन्न करके सर्वशक्तिमान् परमेश्वर देवताओंको विश्वनियमनके लिये पृथक् पृथक् कार्यमें नियुक्त करते हैं और समस्त भूतोंका पालन करते हैं। उनकी अनुशासनशक्तिकी महिमाके लिये कठोपनिषद्में लिखा है:—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

उनके भयसे अग्निदेव और सूर्यदेव ताप दान करते हैं, उनके भयसे इन्द्रदेव, पवनदेव और यमराज निज निज कर्तव्य पालन करते हैं। और भी तैत्तिरीयोपनिषद्में:—

भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥

उन्हींके शासनभयसे पवनदेव प्रवाहित होते हैं, सूर्यदेव उदित होते हैं और अग्नि, इन्द्र और यमराज स्वकीय कर्त्तव्यका पूर्ण पालन करते हैं। स्मृतिमें लिखा है:-

यद् भयाद्वाति वातोऽपि सूर्यस्तपति यद्भयात्।
वर्षन्ति तोयदाः काले पुष्पन्ति तरवो वने॥

उन्हींके भयसे वायु प्रवाहित होती है, सूर्यदेव ताप विकीर्ण करते हैं, नियत समयपर वृष्टि होती है और वृक्षमें फूल आते हैं। इस प्रकारसे दैवराज्यका नियमन सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी शक्तिसे होता है। समस्त विश्वके नियन्तृत्वके विषयमें वेदमें कहा है। यथा:—

"एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत, एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत, एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्त्ता अहोरात्राणि अर्द्धमासा मासा ऋतवः सम्वत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्ति, एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्य प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमनु,

एतस्य वाक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्या प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वी पितरोऽन्वायत्ता:"

"स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।"

अक्षर पुरुष परमेश्वरके शासनसे चन्द्रसूर्य रक्षित हो रहा है, स्वर्गमर्त्य रक्षित हो रहा है, निमेष, मुहूर्त अहोरात्र, अर्द्धमास, मास, ऋतु और संवत्सर रक्षित हो रहा है, हे गार्गि ! उसी अक्षर पुरुषके शासनसे पूर्वदिग्वाहिनी नदियाँ श्वेतपर्वतसे प्रवाहित हो रही हैं, पश्चिम दिग्वाहिनी नदियाँ अन्य दिशासे प्रवाहित हो रही हैं, पश्चिम दिग्वाहिनी नदियाँ अन्य दिशासे प्रवाहित हो रही हैं, उसी अक्षर पुरुषके प्रशासनसे मनुष्यगण दानकी, देवतागण यज्ञकी और पितृगण श्राद्धकी प्रशंसा कर रहे है। वे सबके ईशान, सबके अधिपति और सभीके शासक हैं। और भी—

"सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कनीयान् एष सर्वेश्वर एष भूतपाल एष भूतपतिरेष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय"

वे सबके वशी, सबके ईश्वर, सबके अधिपति हैं। सत्कर्म द्वारा उनका उपचय और असत्कर्म द्वारा उनका अपचय नहीं होता है। वे सर्वेश्वर, भूतपाल भूतपति और संसारके धारक सेतुरूप हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है:—

"सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्"
"वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च"
"य ईशेऽस्य द्विपदश्चतुष्पदः"
"सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा"
"य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्या हेतुर्विद्यत ईशनाय"

"य एको जलवान् ईशत ईशनीभिः
सर्वान् लोकान् ईशत ईशनीभिः"
"एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः
य इमान् लोकान् ईशत ईशनीभिः"

ईश्वर सबके प्रभु, ईशान सर्वशक्तिमान और शरण हैं, स्थावर जङ्गम समस्त संसार उनके वशमें हैं। द्विपद चतुष्पद समस्त जीवके वे प्रभु हैं। वे सब पर आधिपत्य करते हैं। वे सदासे ही जगत्के प्रभु हैं, उनके सिवाय और कोई प्रभु नहीं है। वे एक जालवान् समस्त संसारकी शक्तिके द्वारा शासन करते हैं। उनसे अतिरिक्त जगत्के प्रभु और द्वितीय कोई नहीं है। सर्वशक्तिमान् परमेश्वरमें इतनी शक्ति होनेसे ही वेदने उनकी इस प्रकार स्तुति की है—

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम् ।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥
तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥

जो कालसे अतीत और संसारतरुसे परे हैं, जिनके कारण जगत् प्रपञ्चका नियत परिवर्त्तन होता रहता है, जो धर्मका सञ्चार और पापका नाश करते हैं, विश्वाधार, अमृतमय, ऐश्वर्याधिपति वे परमेश्वर आत्मामें अधिष्ठित हैं। वे ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति, परात्पर, परमपूज्य और भुवनेश हैं। ये ही सब परमपिता परमेश्वरके सृष्टिस्थिति-प्रलयकर्तृत्व और प्रभुत्वके निदर्शन हैं।

सर्वशक्तिमान् ईश्वर इस प्रकारसे समस्त संसारके सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता होनेपर भी उसके साथ किसी प्रकारके सम्बन्धमें बद्ध नहीं हैं। वे सदा ही प्रकृति-बन्धनसे परे और विश्वके भीतर होनेपर भी उससे बाहर हैं। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें उनकी स्तुति की गई है। यथाः—

यस्मिन्निदं यतश्चेदं येनेदं य इदं स्वयम् ।
योऽस्मात् परस्माच्च परस्तं प्रपद्ये स्वयम्भुवम् ॥

जिनमें यह विश्व है, जिनसे यह विश्व है, जिनके द्वारा यह विश्व है, जो स्वयं यह विश्व हैं, जो इस विश्वके परेसे भी परे हैं उस स्वयम्भू भगवान्की शरण लेता हूँ। ईश्वर परमात्मा विश्वानुग अर्थात् विश्वके भीतर होनेपर भी विश्वातिग अर्थात् विश्वके बाहर हैं, प्रपंचाभिमानी होने पर भी प्रपंचसे बाहर हैं, त्रिगुणके उपाधिसे युक्त होनेपर भी निर्लिप्त हैं, क्योंकि उनकी इच्छारूपिणी माया उनकी ही है। वे मायाके नहीं, इसलिये श्रुतिमें उनके विश्वानुग और विश्वातिग भावका वर्णन किया गया है। यथा तैत्तिरीयोपनिषद्में—

"स तपस्तप्त्वा इदं सर्वं असृजत यदिदं किञ्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।"

परमात्माने तपस्याके द्वारा समस्त सृष्टिकी और जगत्की सृष्टि करके जगत्के भीतर प्रवेश कर गये। मैत्र्युपनिषद्में लिखा है। यथा :—

सोऽमन्यत एतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरे विविशामि स वायुरिव आत्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्रविशत् ।

ईश्वरने चिन्ता की कि इनके बोधनके लिए इनके भीतर प्रवेश करूँ। ऐसा संकल्प करके अपनेको वायुवत् सूक्ष्म करके जगत्के भीतर ईश्वर प्रविष्ट हो गये। बृहदारण्यकोपनिषद्में लिखा है :—

स एव इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने
अवहितः स्यात् विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाय तं न
पश्यन्ति स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेव
अनुविलीयेत न हास्योद्ग्रहणाय एव स्यात् ।

वे अर्थात् ईश्वर जगत्के भीतर नखाग्रपर्यन्त प्रविष्ट हो गये। जिस प्रकार क्षुर क्षुराधारमें प्रविष्ट होता है और अग्नि अरणिके भीतर प्रच्छन्न हो जाता है उसी प्रकार वे भी विश्वके भीतर अदृश्य हो गये। जिस प्रकार जलके भीतर लवण-खण्ड गलकर अदृश्य हो जाता है उसी प्रकार विश्वके भीतर परमात्मा अदृश्य हो गये। यही सब ईश्वरके वेदोक्त विश्वानुग भावका वर्णन है, इस प्रकार उनके विश्वातिगभावका भी वर्णन है, यथा ईशोपनिषद्में :—

तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।

ईश्वर जगत्के भीतर भी हैं और बाहर भी हैं। ऋग्वेदीय पुरुषसूक्तमें लिखा है कि :—

स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।

ईश्वर समस्त संसारको आवृत करने पर भी उससे दस अंगुल बढ़े रहे। नारायणोपनिषद्में लिखा है। यथा :—

यच्च किञ्चिद् जगत् सर्वं दृश्यते श्रूयतेपि वा ।
अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

संसारमें दृष्ट और श्रुत जो कुछ है परमात्मा ईश्वर उसके भीतर और बाहर व्याप्त होकर अवस्थित हैं। कठोपनिषद्में लिखा है :—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

जिस प्रकार एक ही वायु संसारमें प्रविष्ट होकर रूप रूपके अनुसार प्रतिरूप होता है, उसी प्रकार अद्वितीय विश्वानुग परमात्मा रूप रूपके अनुसार प्रतिरूप होने पर भी संसारसे निर्लिप्त अर्थात् विश्वातिग रहते हैं। यही सब विश्वकर्त्ता परमपिता परमेश्वरके विश्वानुग और विश्वातिग भावों का वर्णन है।

वेदमें सगुण ब्रह्म ईश्वरको अन्तर्यामी और विधाता कहा गया है :—

"एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एष अन्तर्यामी"
"एष ते आत्मा अन्तर्यामी अमृतः"

यही आत्मा सबके ईश्वर, सर्वज्ञ और अन्तर्यामी हैं। यह अमृतरूप और अन्तर्यामी है इत्यादि रूपसे वेदमें ईश्वरके अन्तर्यामित्वका वर्णन मिलता है। ईश्वर समस्त संसार और समस्त जीवोंके भीतर गूढ़भावसे विराजमान होकर

जगच्चक्रकी परिचालना और जीवसमूहको प्रेरणा करते हैं यही उनका अन्तर्यामित्व है। श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्ज्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

ईश्वर समस्त जीवोंके हृदयाकाशमें अवस्थित होकर निजशक्तिरूपिणी मायाके द्वारा समस्त जीवोंको घटीयन्त्रकी तरह घुमा रहे हैं। यही गीतोक्त उनका अन्तर्यामित्व है। बृहदारण्यकोपनिषद्में महर्षि याज्ञवल्क्यके मुखसे इस अन्तर्यामित्वका अति सुन्दररूपसे वर्णन हुआ है। यथा:—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी
न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो
यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"
"यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि
भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि
भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्यादि।

जो पृथिवीमें रहकर उसके अन्तर्वर्त्ती हैं, जिनको पृथिवी नहीं जानती है, जिनका पृथिवी शरीर है और जो पृथिवीके भीतर पृथिवीका नियमन करते हैं वही आत्मा अन्तर्यामी अमृतरूप परमेश्वर हैं। जो समस्त जीवोंके बीचमें रहकर जीवोंके अन्तर्वर्त्ती हैं, जिनको जीव जानता नहीं, जिनका समस्त जीव शरीररूप है और जो समस्त जीवोंको अन्तर्वर्त्ती होकर नियमन करते हैं वेही अन्तर्यामी अमृतरूप आत्मा ईश्वर हैं। इत्यादि इत्यादि रूपसे समस्त महाभूत, समस्त इन्द्रिय, समस्त जीव आदिका पृथक्-पृथक् वर्णन करके और उन सबके साथ परमात्माके नियन्तृत्वका सम्बन्ध बता करके बृहदारण्यक श्रुतिने बताया है कि निखिल प्राकृतिक तथा जैविक व्यापार और समस्त आध्यात्मिक व्यापारके भीतर अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर विद्यमान हैं, उनकी ही शक्तिसे वे सब शक्तिमान् हैं, उनके ही प्राणनसे वे सब क्रियावान् हैं और उनके ही संयमनसे वे सब आवर्त्तन और परिवर्त्तनशील हैं। यही सब परमपिता परमेश्वरके अन्तर्यामीभावका वेदोक्त वर्णन है। इस प्रकार उनके विधातृत्वभावका भी अनेक वर्णन शास्त्रमें पाया जाता है। परमेश्वर समस्त संसार तथा समस्त जीवोंको कर्मानुसार यथायथ परिचालन करते हैं और जीवोंके लिये संस्कार तथा प्रकृति नियमानुसार भिन्न-भिन्न मार्गोंका विधान करते हैं। यही उनका विधातृत्व है। यथा ईशावास्योपनिषद्में:—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्
व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"

परमेश्वर क्रान्तदर्शी, मनीषी, परिभू और स्वयम्भू हैं। वे अनादि, अनन्त कालके लिये प्राकृतिक विषयोंकी यथायथ व्यवस्था करते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद्में लिखा है:—

"आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि
भावांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः"

त्रिगुणमय कर्म्मके अनुसार वे समस्त भावोंका विनियोग करते हैं। और भीः—

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद् यः।
सर्वमेतद् विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद् यः॥

विश्वयोनि परमेश्वर स्वभावका परिपाक और परिणामशील वस्तुओंका परिणाम संघटन करते हैं। वे समस्त विश्वके अधिष्ठाता और गुणोंके प्रेरक हैं।

"एकोवशी निष्क्रियाणां बहूनां एकं बीजं बहुधा यः करोति'
"य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति"
(श्वेताश्वतरे)

"नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानां एको बहूनां यो विदधाति कामान्"
(कठोपनिषदि)

"स वा एष महान् अज आत्मा वसुदानः"
(बृहदारण्यके)

"धर्मावहं पापनुदं भगेशम्"
(श्वेताश्वतरे)

अद्वितीय वशी परमेश्वर निष्क्रिय बहुत जीवोंके एक बीजको बहुधा विभक्त करते हैं। अद्वितीय अवर्ण परमात्मा मायाशक्तियोगसे अनेक वर्ण धारण करते हैं और तदनुसार जगच्चक्रका विधान करते हैं। नित्यके भी नित्य और चेतनके भी चेतन अद्वितीय परमेश्वर अनेक जीवोंका कामनाविधान करते हैं। महान् नित्य परमात्मा जीवोंके कर्मफलदाता हैं। वे ही धर्माधर्मके प्रेरक भगवान् हैं। इन्हीं भावोंकी प्रतिध्वनि करके श्रीभगवान् वेदव्यासने ब्रह्मसूत्रमें लिखा है:—

"फलमत उपपत्तेः"

परमेश्वरसे ही जीवोंको कर्मफलकी प्राप्ति होती है। कौषितकी उपनिषद्में लिखा है:—

"एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो उन्निनीषते।
एष उ एवैनं असाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते।"

परमात्मा जिन प्रारब्धी जीवोंको उद्‌र्ध्वलोकमें ले जानेकी इच्छा करते हैं उनसे साधुकर्म करवाते हैं और जिनको अधोलोकमें ले जानेकी इच्छा करते हैं

उनसे असाधु कर्म करवाते हैं। यही सब वेदशास्त्रसंमत परमेश्वरके विधातृत्वका वर्णन है।

उल्लिखित समस्त भावोंके ऊपर संयम करनेसे ईश्वरसत्तामें दो महान् भावोंका अपूर्व समन्वय देखनेमें आता है। एक ऐश्वर्य और दूसरा माधुर्य। जिस भावमें ईश्वर अदृष्टके विधाता, पापीके दण्डदाता, जगत्के नियन्ता, साधुओंके परित्राता, धर्मके प्रतिष्ठाता, सृष्टिस्थितिप्रलयकर्त्ता, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान् हैं वही उनका ऐश्वर्यभाव है। जिस भावमें कभी नररूप धारण करके असुरनिधन, वेदोद्धरण, क्षत्रियकाननदहन और दशाननवंशलताको छिन्न-विच्छिन्न करते हैं और कभी भुवनमोहनी नारीरूप धारण करके लेलिहान लोल रसनाके द्वारा असुरोंका उष्ण शोणित पान और हुङ्कारसे त्रिभुवन विकम्पित करके अनन्त प्रहरण द्वारा शुम्भनिशुम्भमथन करते हैं वही उनका ऐश्वर्य भाव है। इस भावमें शशि सूर्य उनके नेत्र हैं, अनन्त समुद्र उनका उदर है, नदियाँ स्नायुराशि हैं, प्रदीप्त हुताशन आननमें है, अनन्तकोटिब्रह्माण्ड रोमकूपमें हैं और लोकक्षयकृत प्रवृद्ध काल स्वरूपमें है। यही महामूर्ति ईश्वरकी ऐश्वर्यसत्ताकी प्रचण्ड विकासभूमि है। परन्तु उनके माधुर्यभावमें इस प्रकार प्रचण्डता नहीं है, प्रत्युत उनके ऐश्वर्यभावमें जिस प्रकार कठोरता है, माधुर्यभावमें ठीक उसी प्रकार कोमलता है। इस भावमें भगवान् दयामय, स्नेहमय, करुणामय और प्रेममय हैं। इस भावमें भक्तके निकट उनका प्राण विक्रीत है, करुणाधारा जाह्नवी यमुना रूपसे प्रवाहित है, जीवोंके दुःखनिवारणके लिये स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परम व्रत है। इस भावमें भृत गुपदाघात् उनके हृदयका भूषण है, द्रौपदीका लज्जा-निवारण परम पौरुष है, करुणाकी होमाग्निमें समस्त ऐश्वर्यकी आहुतिप्रदान जीवनका महाव्रत है। इस भावमें भगवान् भक्तवत्सल प्रभु हैं, करुणामय स्वामी हैं, प्रीतिमय सखा हैं, स्नेहमय पुत्र हैं और प्रेममय कान्त हैं। उपनिषद्में ईश्वरके ऐश्वर्यभाव वर्णनके साथ-साथ माधुर्यभावका भी वर्णन देखनेमें आता है। परमात्मा माधुर्यभावमें रसरूप हैं इसलिये उपनिषदमें कहा है:—

"रसो वै सः"

परमात्माकी कृपासे ही भक्तको मुक्ति प्राप्त होती है इसलिये उपनिषद्में कहा है:—

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्"

परमात्मा जिसको वरण करते हैं वही परमात्माको प्राप्त करता है। उसीके निकट परमात्मा निज स्वरूप प्रकट करते हैं। और भी—

"तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः"

उन्हींके प्रसादसे अक्रतु जीव उनकी महिमाको जानकर वीतशोक होता है।

"तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति"

उसी ईशान और वरदाता पूज्य देवको जाननेसे जीव अनन्त शान्तिका अधिकारी हो जाता है।

"रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं"

हे भगवन्! तुम्हारा जो दक्षिण मुख है उससे मेरी रक्षा करो। इत्यादि इत्यादि समस्त वर्णन परमेश्वरके माधुर्यभावका प्रकाशक है। परमेश्वरमें इन दोनों भावोंका अपूर्व समन्वय रहनेसे ही परमेश्वर पूर्ण हैं, प्राकृतिक सृष्टि और आत्यन्तिक प्रलय दोनोंके विधानमें समर्थ हैं, द्वैतमय संसारके समस्त द्वन्द्वभावके चरम परिणामस्थान हैं और अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्दके चिर निकेतन हैं। यही सगुण ब्रह्म ईश्वरके स्वरूपका पूर्ण परिचय है, जिसका ऐश्वर्य-माधुर्यसमन्वय रूपसे संसारमें पूर्ण भावसे विकास, केवल भगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें ही हुआ था। इसीलिये महाभारतका कर्मक्षेत्र, गीताका ज्ञानक्षेत्र और वृन्दावनका भक्तिलीलाक्षेत्र ऐश्वर्यमाधुर्यके अपूर्व समन्वय रूपसे उन्हींके जीवनमें पाया जाता है। भारतमाता धन्य है जिसको इस प्रकारके पूर्ण पुरुषको कोमल अङ्कमें धारण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

अब परमात्माके आधिभौतिक भावका वर्णन किया जाता है। उनका आधिभौतिक स्वरूप अनन्तकोटिब्रह्माण्डमय कार्यब्रह्म है। कारणब्रह्मके साथ कार्यब्रह्मकी अभिन्नता होनेसे कारणब्रह्म परमात्मामें उनकी मायाशक्ति द्वारा जो कार्यब्रह्मकी नित्य स्थिति विद्यमान है वही विराटरूप परमात्माका आधिभौतिक स्वरूप है। वेदादि शास्त्रोंमें इस रूपके अनेक वर्णन मिलते हैं। यथा छान्दोग्योपनिषद्में :—

स एव अधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वम्।

परमात्मा नीचे हैं, ऊपर हैं, पश्चात् और सामने हैं, दक्षिण और उत्तरमें हैं समस्त विश्व वे ही हैं। मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

द्युलोक उनका मस्तक हैं, चन्द्र-सूर्य चक्षु हैं, दिक् कर्ण हैं, वेद वाणी है, वायु प्राण है, विश्व हृदय है और पृथ्वी उनका चरण है, यह विराट् पुरुष सकल भूतोंके अन्तरात्मा भी हैं। स्मृतिमें वर्णन है:—

द्यां मूर्द्धानं यस्य विप्रा वदन्ति
खं वै नाभिः चन्द्रसूर्यौ च नेत्रे।
दिशः श्रोत्रं विद्धि पादौ क्षितिश्च
सोऽचिन्त्यात्मा सर्वभूतप्रणेता॥

वेही अचिन्त्यात्मा सकलजीव-प्रणेता विराट् पुरुष हैं जिनका मस्तक द्युलोक कहकर पण्डितोंने वर्णन किया है, जिनकी नाभि आकाश है, नेत्र चन्द्र-सूर्य हैं, दसों दिशाएँ कर्णेन्द्रिय हैं और पृथ्वी चरणयुगल है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरमें :—

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः ॥

सबके मुख उनका मुख है, सबके सिर उनका सिर है, सबकी ग्रीवा उनकी ग्रीवा है, वे सकलभूतोंके हृदयविहारी हैं। सर्वव्यापी और सर्वगत हैं। इसी भीषण रूपको देख घबराकर अर्ज्जुनने कहा था :—

पश्यामि देवांस्तव देवदेहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।
अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥

हे देव ! मैं तुम्हारे देहमें समस्त देव, समस्त भूत, पद्मासनस्थित ब्रह्मा, दिव्य महर्षिगण और उरगगणको देख रहा हूँ। हे विश्वरूप ! मैं तुम्हारा अनेक बाहु, उदर, मुख और नेत्रयुक्त अनन्तरूप देख रहा हूँ; परन्तु इसका आदि, मध्य अन्त कुछ भी देखा नहीं जाता है। श्रीमद्भागवतमें उपासना प्रसंगमें इस विराट्रूपका विस्तृत वर्णन पाया जाता है। यथाः—

अण्डकोषे शरीरेऽस्मिन् सप्तावरणसंयुते ।
वैराजः पुरुषो योऽसौ भगवान् धारणाश्रयः ॥

पातालमेतस्य हि पादमूलं
पठन्ति पार्ष्णिप्रपदे रसातलम् ।
महातलं विश्वसृजोऽथ गुल्फौ
तलातलं वै पुरुषस्य जङ्घे ॥
द्वे जानुनी सुतलं विश्वमूर्ते-
रूरुद्वयं वितलञ्चातलञ्च ।
महीतलं तज्जघनं महीपते
नभस्तलं नाभिसरो गृणन्ति ॥
उरःस्थलं ज्योतिरनीकमस्य
ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य ।
तपोररार्टी विदुरादिपुंसः
सत्यन्तु शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः ॥
इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः
कर्णौ दिशः श्रोत्रममुष्य शब्दः ।

नासत्यदस्रौ परमस्य नासे
प्राणोऽस्य गन्धो मुखमग्निरिद्धः ॥
द्यौरक्षिणी चक्षुरभूत् पतंगः
पक्ष्माणि विष्णोरहनी उभे च ।
तद्भ्रूवि जृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्य-
मपोऽस्यतालूरस एव जिह्वा ॥
छन्दांस्यनन्तस्य शिरो गृणन्ति
दंष्ट्रा यमः स्नेहकला द्विजानि ।
हासो जनोन्मादकरी च माया
दुरन्तसर्गो यदपांगमोक्षः ॥
व्रीडोत्तरौष्ठोऽधर एव लोभो
धर्मः स्तनोऽधर्मपथोऽस्य पृष्ठम् ।
कस्तस्य मेढ्रं वृषणौ च मित्रौ
कुक्षिः समुद्रा गिरयोऽस्थिसंघाः ॥
नद्योऽस्य नाड्योऽथ तनूरुहाणि
महीरुहा विश्वतनोर्नृपेन्द्र ।
अनन्तवीर्यः श्वसितं मातरिश्वा
गतिर्वयः कर्मगुणप्रवाहः ॥
ईशस्य केशान् विदुरम्बुवाहान्
वासस्तु सन्ध्यां कुरुवर्य्य भूम्नः ।
अव्यक्तमाहुर्हृदयं मनश्च
स चन्द्रमाः सर्वविकारकोपः ॥
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महात्मा
विड्रुरङ्घ्रिश्रितकृष्णवर्णः ।
नानाभिधाभीज्यगणोपपन्नो
द्रव्यात्मकः कर्म वितानयोगः ॥

सप्तावरणावृत ब्रह्माण्डशरीरमें विराट् पुरुषकी धारणा इस तरहसे करनी चाहिये । यथा—पाताल उनका पदतल है, रसातल चरणाग्र, महातल गुल्फ, तलातल जंघा, सुतल जानु और वितल तथा अतल उरुद्वय हैं । भूर्लोक उनका जघन, भूवर्लोक नाभि, स्वर्लोक उरस, महर्लोक ग्रीवा, जनलोक मुख, तपोलोक ललाट

और सत्यलोक उनका शीर्ष है। इन्द्रादि देवगण उनके बाहु, श्रोत्राधिष्ठात्री देवतागण कर्ण, शब्द श्रोत्रेन्द्रिय, अश्विनीकुमारद्वय नासापुट, गन्ध घ्राणेन्द्रिय और हुताशन मुख है। अन्तरिक्ष उनके नेत्रगोलक, सूर्य चक्षु, दिवारात्रि अक्षिपत्र, ब्रह्मपद भ्रू, अप् तालु और रस जिह्वा है। वेद उनका ब्रह्मरन्ध्र, यम दंष्ट्रा, स्नेहकला दन्तपंक्ति, जनोन्मादिनी माया हास्य और अपार सृष्टि कटाक्ष है। लज्जा उनका ओष्ठ, लोभ अधर, धर्म स्तन, अधर्म पृष्ठ, प्रजापति मेढ्र, मित्रावरुण वृषण, समुद्र कुक्षि और पर्वतमाला अस्थि है। नदीसमूह उनकी नाडी, वृक्षसमूह रोम, वायु निश्वास, काल गति, मेघ केश, सन्ध्या वस्त्र, प्रकृति हृदय और चन्द्र मन है। ब्राह्मण उनका मुख, क्षत्रिय बाहु, वैश्य ऊरू, शूद्र पद और यज्ञ कर्म है। इसी प्रकारसे परमात्माके आधिभौतिक भावका वर्णन मिलता है। यही सच्चिदानन्दमय परमात्माके आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूप त्रिविध भावका वेदादिशास्त्रसम्मत परम तत्व है जिसको ज्ञानदृष्टि द्वारा सम्यक् अवलोकन करके मुमुक्षु साधक कृतार्थ हो सकते हैं।

आत्माके अस्तित्व तथा उसके प्रयोजनके विषयमें इस प्रबन्धके प्रारम्भमें ही सम्यक् वर्णन किया गया है और 'ज्ञानयज्ञ' नामक पूर्व प्रकरणमें उसी आत्माके यथार्थ स्वरूपको मुमुक्षु जनोंके ज्ञानगोचर करानेके लिये वैदिक सप्त दर्शनोंमें निज-निज ज्ञानभूमिके अनुसार शाखाऽरुन्धती न्यायसे किस किस प्रकारसे आत्माका क्रमोन्नत स्वरूप दर्शाया है सो भी सम्यक्तया वर्णन किया गया है। अब नीचे उसी आत्माके अधिदैवस्वरूप ईश्वरके अस्तित्व तथा प्रयोजनके विषयमें निज-निज ज्ञानभूमिके अनुसार वैदिक सप्त आस्तिक दर्शनोंने किस-किस प्रकार वर्णन किया है सो क्रमशः संक्षेपसे बताया जाता है। ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह करना केवल चित्तविभ्रान्तिमात्र है। क्योंकि धीर होकर समस्त सृष्टिकी पर्यालोचना करनेसे सृष्टिकर्त्ता कोई अवश्य होंगे, एतादृश विश्वास और ज्ञान विवेकीजनोंके चित्तमें स्वतः ही उदय होने लगता है। वेदानुमत समस्त शास्त्रोंमें प्रकृतिको जड़ कहा गया है :—

'जडरूपा माया'

दैवीमीमांसाका सिद्धान्त है। देवीभागवतमें लिखा है :—

जड़ाऽहं तस्य सान्निध्यात्प्रभवामि सचेतना।
अयस्कान्तस्य सान्निध्यादयसश्चेतना यथा ॥

जिस प्रकार चुम्बकके सान्निध्यमें रहनेसे जड़ लोहेमें सञ्चलन शक्ति आती है उसी प्रकार ईश्वरके अधिष्ठानके द्वारा जड़ प्रकृतिमें चेतनाजन्य सृष्टिस्थितिप्रलय-शक्ति आती है। परन्तु वास्तवमें प्रकृति जड़ है। प्रकृतिका यह जड़त्व अर्थात् स्वयं कर्तृत्वशक्तिका अभाव केवल समष्टि प्रकृतिमें ही नहीं, अधिकन्तु उसके परिणामजात पदार्थोंके अङ्ग-अङ्गमें देखनेमें आता है। पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आदि प्रकृतिपरिणामसे उत्पन्न समस्त पदार्थ ही जड़ हैं। उनमेंसे किसीमें भी स्वयं कार्य करनेकी शक्ति नहीं है। पृथिवी स्वेच्छासे भिन्न-भिन्न प्रकारका शस्य

उत्पन्न नहीं कर सकती, जल स्वयं नहीं बरस सकता, वायु स्वयं नहीं बह सकती और अग्नि स्वयं तरह तरहका कार्य नहीं कर सकता। इनके भीतर अवश्य कोई व्यापक चेतन सत्ता होगी, जिसके सञ्चालनसे सब जड़ वस्तुएँ निज निज कार्यको करती हैं। वही सर्वव्यापक सर्वाधिष्ठाता प्रकृतिके प्रेरक चेतनसत्ता ईश्वर हैं। इसमें यदि यह सन्देह हो कि प्रकृतिपरिणामजात पृथिवी, जल, वायु, आदिका स्वभाव ही है कि शस्य उत्पन्न करें, बरसे, बहे या दग्ध करे इत्यादि तो इसका तो समाधान यह है कि किसी प्राकृतिक वस्तुका स्वभाव तभी नियमित रूपसे कार्य कर सकता है जब उसकी नियामक कोई चेतन शक्ति हो। पृथिवीका स्वभाव ही शस्य उत्पन्न करना है; परन्तु किस देशमें, किस कालमें तथा किस ऋतुमें कैसा शस्य उत्पन्न होना चाहिये, इसका नियमन कौन करेगा? यह नियमन जड़ पृथिवीके द्वारा कदापि नहीं हो सकता है। इसके लिये पृथिवीके अन्तर्विहारी नियामक चेतनसत्ता होनी चाहिये। जड़ स्वभावका परिणाम या क्रिया अन्धपरिणाम या अन्धक्रिया है, चेतनसत्ताके अस्तित्वसे ही उसकी अन्धता नष्ट होकर उसमें नियमानुसारिता आ सकती है। जलका स्वभाव बरसाना हो सकता है। परन्तु ऋतुके अनुसार ठीक-ठीक बर्साना और जिस देशमें जितनी वर्षा होनी चाहिये उसको उसी नियमसे ठीक ठीक बर्साना तभी सम्भव हो सकता है जब जलराज्यके अन्तर्विहारी कोई चेतनसञ्चालक शक्ति हो। उसी प्रकार वायुमें प्रवाहित होनेका अन्धस्वभाव रह सकता है; परन्तु वसन्त ऋतुमें मलय पवनका बहना, वर्षामें पूर्व दिशासे प्रवाहित होना, शीतकालमें उत्तरसे वायुका प्रवाह होना, ग्रीष्मऋतुमें पश्चिमसे बहना आदि नियमित वायुप्रवाह अन्ध स्वभावके द्वारा कदापि सम्भव नहीं हो सकता है। इसके लिये अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा कि, वायु-मण्डलको नियमित सञ्चालित करनेवाली कोई नियामक चेतन-सत्ता है। हम संसारके सामान्य कार्य्योंमें देखते हैं कि जब तक चेतनकी सहायता और प्रेरणा न हो तब तक किसी जड़ वस्तु द्वारा नियमानुसार कार्य नहीं हो सकता है। दृष्टान्त-रूपसे समझ सकते हैं कि अग्निमें अवश्य यह शक्ति है कि जलको वाष्प बनाकर उसी वाष्पके द्वारा नाना प्रकारके यन्त्र और इञ्जिन आदि चला सके। परन्तु जिस हिसाबसे वाष्प बनने पर और जिस तरहसे इञ्जिन तथा मशीनमें उसका संयोग होने पर तब इञ्जिन या मशीन ठीक-ठीक कार्य कर सकेगी, वह हिसाब या नियमा-नुसार वाष्पसंयोग करनेकी शक्ति जड़ अग्निमें नहीं है। वह शक्ति अग्निका नियोग तथा वाष्पका संयोग करनेवाले चेतन मनुष्यमें ही हैं, जो नियमके अनुसार जलमें अग्निसंयोग द्वारा वाष्प बनाता है और उसी वाष्पका हिसाबके साथ प्रयोग करके समस्त वाष्पीय यानों तथा यन्त्रोंको चलाता है। इसमें और भी विचारनेका विषय है कि, यद्यपि वाष्पमें इञ्जिन चलानेकी और इञ्जिनमें गाड़ी खींचनेकी शक्ति है तथापि यदि जड़ इञ्जिनका चलानेवाला कोई चेतन मनुष्य न होगा तो योग्य शक्तिसे निर्दिष्ट समयानुसार रेल गाड़ीका चलना, नियमित स्टेशन पर ठहरना, पुनः नियमित वेगके अनुसार स्टेशनसे चलना, आवश्यकतानुसार वेगका न्यूना-धिक्य होना इत्यादि बातें कभी जड़ इञ्जिन के द्वारा स्वतः नहीं हो सकती हैं। जड़

अन्धशक्तिसे यह हो सकता है, यदि इञ्जिन चल पड़े तो चलता ही रहेगा, कभी ठहरेगा नहीं और यदि ठहर जाय तो फिर चल नहीं सकेगा। नियमित चलने, ठहरने तथा वेगवान होनेके लिये नियामक किसी चेतनशक्तिके अधिष्ठानकी अवश्य ही आवश्यकता होती है। अब विचार करनेका विषय यह है कि, जब संसारके साधारण लौकिक कार्य्यको नियमित चलानेके लिये भी चेतनसत्ताकी आवश्यकता होती है, तो इस अनादि अनन्त प्रकृतिका महान् सृष्टिस्थितिकार्य, जिसमें इतना अमोघ नियम सदा प्रत्यक्ष हो रहा है कि पत्ती तक उसी नियमके विना हिल नहीं सकती है, उसमें कोई सर्वव्यापी नियामक चेतन-सत्ता नहीं है, इस प्रकार कल्पना करना उन्मत्त-चिन्ता और उन्मत्तप्रलापके सिवाय और कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। यदि जड़ प्रकृतिके संचालक या अधिष्ठाता चेतन ईश्वर न होते तो कभी अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डमयी विराट् प्रकृतिमें सृष्टिस्थितिप्रलयका नियमित क्रम नहीं रह सकता। सृष्टिस्वभावमयी प्रकृति अनन्तकाल तक सृष्टि ही करती रहती, कभी प्रलयका समय नहीं आता और यदि कभी प्रलय हो जाता तो प्रलयके गर्भसे नियमानुसार तथा निर्दिष्ट कालानुसार पुनः सृष्टिका उदय नहीं हो सकता, जीवोंकी कर्मानुसार उच्च-नीच गति, रवि-शशिका नियमित उदय, ऋतुओंका नियमित विकास, शस्य-समृद्धिकी नियमित देशकाल पात्रानुसार उत्पत्ति, दिवारात्रि, अमानिशा और पौर्णमासीका चक्रवत् परिवर्त्तन, चन्द्रकलाका नियमित विकास, भगवान् भास्करका राशिचक्रमें नियमित संक्रमण आदि सर्वतो जाज्वल्यमान प्राकृतिक कोई भी क्रिया नियमित संघटित नहीं हो सकती। यह सभी विश्वनिदान, विश्वकर्त्ता, जगत्पाता अनन्तकरुणावरुणालय परमपिता ज्ञानरूप चैतन्यमय परमेश्वरकी अनादि अनन्त प्रकृतिके अन्तर्हृदयमें सर्वव्यापिनी नित्यस्थिति और अधिष्ठानका कल्याणमय फल है जिसको श्रद्धावान् भक्तजन प्रति मुहूर्त्तमें अनुभव करके परमानन्दसागरमें लवलीन हो सकता है, मिथ्या कुतर्क कर्कशचित्त अज्ञानी जनोंके अन्धकारमय हृदयमें इस ज्ञानज्योतिका विस्तार होना कठिन तथा उन्हींके कृपाकटाक्षसापेक्ष है।

जैन और बौद्धदर्शनशास्त्र सूक्ष्मजगत्में प्रवेश करनेका सामर्थ्य रखने पर भी और उनके द्वारा कोटि-कोटि मनुष्योंका उन्नतिसाधन होते रहने पर भी केवल इस अधिदैवसत्ताका अनुभव जैन और बौद्धधर्मके प्रचारकोंको न होनेके कारण उनके विज्ञानसमूह असम्पूर्ण रह गये हैं। वैदिक दर्शनशास्त्रोंमें परमात्माके अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों विज्ञानोंके विस्तृतरूपसे प्रकट करनेका सामर्थ्य रहने पर ही और ब्रह्म, ईश्वर तथा विराट् इन तीनों भगवत्भावोंका यथार्थ दर्शन वैदिक आचार्योंको होनेके कारण ही वैदिक दर्शन और वैदिक धर्म पूर्ण कहा गया है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म निष्क्रिय, सर्वव्यापक, पूर्ण असङ्ग, अपरिणामी और अद्वितीयभावयुक्त हैं। उनकी सच्चिदानन्दमय त्रिभावयुक्त सत्ता एक अद्वितीय स्वस्वरूपमें रहते समय वे ही ब्रह्मनामसे अभिहित होते हैं। पुनः उन्हींके त्रिभावमें वही सच्चिदानन्दसत्ता ब्रह्मभावमें चिद्भावमय और विराट् भावमें सद्भावमय योगीको प्रतीत होने लगती है। योगिराज अपने अलौकिक योगप्रत्यक्ष द्वारा उन्हींकी

आनन्दसत्ताको आनन्दकन्द ईश्वरभावमें प्रत्यक्ष किया करते हैं। बिना दोके आनन्दका पूर्ण विकास और आनन्दका पूर्ण आस्वादन नहीं हो सकता है। यद्यपि अद्वितीय ब्रह्मभावमें सत्, चित् और आनन्द तीनों भाव एक ही भावमें परिणत हैं, यद्यपि सत्, चित् और आनन्द तीनों भाव ही तत्त्वातीत ब्रह्मभावमें हैं, परन्तु ईश्वरभावके अनुभवमें एक ओर चित्भावमय ब्रह्मभाव और दूसरी ओर सत्भावमय विराट्भावका अनुभव विद्यमान रहनेसे परमानन्दका आधारभूत ईश्वरभावका दर्शन योगिराज सिद्ध महात्माओंको होता है। जगदीश्वर आनन्द-कन्द हैं, इस कारण उनसे आनन्दलीलापूर्ण यह सृष्टि प्रकट हुई है। इसी कारण उपासनाराज्यमें ईश्वरभावको ही प्रधान माना गया है। वास्तवमें तीनों भाव एक ही परमात्माके होने पर भी ईश्वरकी महिमा जगत्में सर्वोपरि है। अब नीचे किस-किस दर्शनने अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार कहाँ तक परमेश्वरकी इस सत्ताको प्रकट किया है सो क्रमशः बताया जाता है।

ईश्वरकी व्यापक अद्वितीय सत्ता प्रकृतिविलासकलासम्पर्कसे निर्लिप्त होनेके कारण जिन-जिन दर्शनोंमें प्रकृतिपरिणाम, प्रकृति अथवा कार्यब्रह्मके साथ सम्बन्ध रखकर निज-निज ज्ञानभूमियोंके अनुसार मुक्ति बताई गई है उन सब दर्शनोंमें ईश्वरसत्ताका प्रधानतया निर्देश अथवा मुक्तिके साथ साक्षात् सम्पर्क नहीं दिखाया गया है। उन सब दर्शनोंमें केवल सुखदुःखमोहमयी प्रकृतिसे मुक्त होना ही अपवर्गका साधन है प्रायः इस प्रकारका सिद्धान्त बताया गया है सो उनकी ज्ञानभूमियोंके अनुसार ठीक ही है। परन्तु जिन-जिन दर्शनोंका ज्ञानभूमि प्रकृतिविकार अव्यक्त प्रकृतिसे अतीत पदकी ओर मुमुक्षुको अग्रसर करती है वहाँ पर ईश्वरसत्ताके साथ निश्श्रेयसपदका साक्षात् सम्बन्ध बताया गया है और इसी लिये उन सब दर्शनोंमें केवल प्रकृतिपरिणामजात दुःखकी निवृत्तिको ही मुक्तिका लक्ष्य न बताकर नित्यानन्दमय परमात्मपदमें स्थितिको भी निःश्रेयसपदका प्रधान साधन बताया गया है। परन्तु यह कहना अत्युक्ति नहीं होगी कि सनातनधर्मके सब दर्शनसिद्धान्तोंने ही एकवाक्य होकर ईश्वरभावका प्रमाण किसी न किसी प्रकारसे किया है, इसमें संदेह नहीं। उन-उन दर्शनोंकी सब युक्तियाँ अपने-अपने ढङ्ग पर अकाट्य हैं। अब पूर्वोल्लिखित दो विभागोंके अनुसार सातों दर्शनोंमेंसे किसमें किस प्रकारसे ईश्वर-सत्ताका वर्णन किया गया है सो विचार किया जाता है।

न्यायदर्शनकी ज्ञानभूमिमें आत्माको प्रमेयकोटिके अन्तर्गत करके इच्छा-द्वेषप्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान उसके लक्षणरूपसे बताया गया है। इच्छाद्वेष आदि वास्तवमें अन्तःकरणके धर्म हैं। अतः इच्छाद्वेषादिके साथ आत्माका सम्पर्क बतानेके कारण न्यायदर्शनकी ज्ञानभूमि प्रकृतिपरिणामसे बहुत ही सम्बन्धयुक्त है ऐसा सिद्धान्त होता है। जिस अणुको नित्य बताकर उसीके सम्मेलनसे न्यायदर्शनमें समस्त सृष्टिकी उत्पत्ति बताई गई है यह अणु भी वास्तवमें प्रकृतिका ही विकारमात्र है। अतः प्रकृतिपरिणाम तथा प्रकृतिके साथ साक्षात् रूपसे जिसकी ज्ञानभूमिका सम्बन्ध है ऐसे न्यायदर्शनमें ईश्वरकी अद्वितीय व्यापक सत्ताका साक्षात् सम्पर्क

और वर्णन नहीं हो सकता है इसलिये न्यायदर्शनकी मुक्ति केवल प्रमाणप्रमेयादि षोड़श पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे ही मानी गई है अर्थात् इन पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होकर मुमुक्षुको अपवर्गलाभ हो जाता है। इस अपवर्गके साथ न तो ईश्वरका कोई सम्बन्ध ही हो सकता है और न इसके द्वारा ब्रह्मकी नित्यानन्दमय सत्तामें विलीनता-ही हो सकती है। अतः न्यायदर्शनने अपनी भूमिके अनुसार जो मुक्ति बतायी है सो ठीक है। तथापि न्यायदर्शन आस्तिक दर्शन होनेसे कर्मफलके साथ उसमें ईश्वरकी निमित्तकारणताका सम्बन्ध बताया गया है और अनुमानप्रमाण द्वारा परोक्षरूपसे सृष्टिके साथ ईश्वरका सम्पर्क बताया गया है। यथा—न्यायदर्शनके चतुर्थाध्यायके प्रथम आह्निकमें:—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्मफलदर्शनात्।"

इसके भाष्यमें महर्षि वात्स्यायनने कहा है :—

"पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनम् इति यदधीनं स ईश्वरः। तस्माद् ईश्वरः कारणम्।"

जीवका पराधीन कर्मफलयोग जिनके अधीन है वे ईश्वर हैं। अतः ईश्वर ही जीवके फलदाता हैं। इस तरहसे जड़कर्मके चेतनप्रेरकरूपसे ईश्वरकी निमित्त-कारणताका सम्पर्क बताकर न्यायदर्शनने अपनी आस्तिकताका परिचय दिया है। प्रसिद्ध न्यायवृत्तिकार विश्वनाथजीने उसी आह्निकके २१वें सूत्रमें:—

"क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्।"

इस प्रकार सूत्रवृत्ति द्वारा संसारकी उत्पत्तिके प्रति ईश्वरकी निमित्तकारणता प्रतिपन्न की है अर्थात् घटकी उत्पत्तिके लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्त कारण है उसी प्रकार जगत्की उत्पत्तिके लिये ईश्वर निमित्तकारण हैं। जिस प्रकार कार्य्य देखनेसे कारणका अनुमान होता है उसी प्रकार कार्य्यब्रह्म जगत्को देखनेसे उसके सृष्टिकर्त्ता निमित्तकारणरूप ईश्वरका अनुमान होता है। यही प्राचीन न्यायदर्शनमें ईश्वर-सत्ताकी सिद्धि है। परवर्त्ती कालमें नव्य नैयायिकोंने ईश्वरकी सिद्धि तथा सृष्टिकार्य्यके साथ उनकी निमित्तकारणताको प्रमाणित करनेके लिये बहुत प्रयत्न और ग्रन्थ-रचना की है। प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य्यकृत कुसुमाञ्जलि नामक उपादेय ग्रन्थ उसका प्रमापक और ज्वलन्त दृष्टान्त है।

वैशेषिक दर्शनकी जन्मभूमि भी स्थूलतः न्यायदर्शनकी तरह है। उसमें भी प्रकृति परिणामजात सुखदुःखादिके साथ मनके द्वारा आत्माका सम्बन्ध बताया गया है और द्रव्यगुणकर्मादि षट्पदार्थोंके तत्त्वज्ञानसे आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्गका वर्णन किया गया है। इस निःश्रेयसके साथ केवल दुःखनिवृत्तिका सम्पर्क होनेसे नित्यानन्दमय ब्रह्मपदके साथ इनका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिक दर्शनोक्त मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता है और न इसकी ज्ञानभूमिके साथ ही ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिक दर्शनने अपनी आस्तिकताको प्रमाणित करनेके लिए न्यायदर्शनकी तरह अनुमान-

प्रमाणकी सहायतासे जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी निमित्तकारणता प्रतिपादित की है। यथा वैशेषिकके दर्शन द्वितीय अध्यायके प्रथमाह्निकमें:—

"संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्"

"प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः"

इन सूत्रोंके उपस्कारमें शंकरमिश्रजीने लिखा है :—

'संज्ञा नाम, कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयं अस्मद्विशिष्टानां ईश्वर महर्षिणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम्। घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव। यः शक्यो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधुः। तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम्। एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिंगम्। तथाहि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवत् इति।"

संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप् आदि कार्य्य ये दो लौकिक मनुष्यसे विशेषतायुक्त ईश्वर, महर्षि आदिके अस्तित्वको प्रमाणित करते हैं। घट, पट आदि नामसे जो तत्तत्पदार्थोंका बोध हो जाता है इसमें ईश्वरसंकेत ही कारण है। क्षिति, अप् आदि जब कार्य हैं, तो उनके कर्त्ता भी कोई अवश्य होंगे, वही कर्त्ता ईश्वर हैं। अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि जगदुत्पत्तिके लिये ईश्वरकी घट-कुलालवत् निमित्तकारणता है। यही वैशेषिक दर्शनका आस्तिक मत है। इस दर्शनके प्रसिद्ध टीकाकार प्रशस्तपादाचार्य्यजीने तो कई अन्य स्थानोंमें भी वैशेषिक दर्शनके सूत्रोंके साथ ईश्वरका सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शनकी परम आस्तिकता प्रतिपादित की है। यथा—'पदार्थ-समूहोंका तत्त्वज्ञान ही मोक्षका कारण है' इस प्रसङ्गमें प्रशस्तपादाचार्यजीने:—

"तच्च ईश्वरनोदनाभिव्यक्ताद् धर्मादेव"

वह तत्त्वज्ञान ईश्वरप्रेरणाजनित धर्मसे उत्पन्न होता है, ऐसा कहकर वैशेषिक दर्शनोक्त मुक्तिके साथ भी ईश्वरका परम्परा सम्बन्ध बता दिया है। नित्य परमाणुओंके संघातसे सृष्टि और विश्लेषणसे प्रलयके विषयमें वैशेपिक दर्शनके सिद्धान्तोंका वर्णन करते समय प्रशस्तपादाचार्यजीने लिखा है कि सकल भुवनपति महेश्वरकी और अलौकिक इच्छाशक्तिके द्वारा ही, परमाणुओंमें स्पन्दनशक्ति उत्पन्न होकर इस प्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है। अतः वैशेपिक दर्शनकी परम आस्तिकता निर्विवाद सिद्ध है इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। परवर्त्ती कालमें नव्य वैशेषिकोंने भी अनुमान प्रमाणकी सहायतासे वैशेषिक दर्शनमें ईश्वर सत्ताकी विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणोंके साथ भी ईश्वरका सम्बन्ध निर्णय किया है।

सप्तज्ञानभूमियोंमेंसे तृतीयभूमि-स्थानीय दर्शन योगदर्शन है। इसमें प्रकृतिको अविद्या अस्मिता रागद्वेषादि दुःखोंका आगार कहकर प्रकृतिके द्वारा बद्ध पुरुषकी उससे मुक्ति होनेपर अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप कैवल्य प्राप्त होता है

यही योगका परम पुरुषार्थ कहा गया है। अतः दुःखनिवृत्ति ही मुक्तिका लक्ष्य होनेसे परमानन्दमयब्रह्मपदके साथ इस दर्शनकी ज्ञानभूमिका साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शनके अनुसार जब साधककी मुक्ति होती है तो उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृतिके सम्पर्कको त्याग कर देता है, उसके साथ पुनः प्रकृतिका बन्धन सम्बन्ध नहीं रहता है। परन्तु उससे प्रकृतिका अस्तित्व लुप्त नहीं होता है, केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृतिके साथ कर्तृत्व भोक्तृत्व सम्बन्धको छोड़कर उदासीनवत् प्रकृतिका द्रष्टा बना रहता है। अतः योगदर्शनकी ज्ञानभूमिके अनुसार प्रकृतिकी नित्यता खण्डित नहीं हो सकती है, इसमें प्रकृति अनादि अनन्त है, केवल उसके सम्पर्क-जनित दुःखसे निवृत्ति ही पुरुषकी मुक्ति है, इसीलिये त्रिविध दुःखनिवृत्ति योगदर्शनोक्त मुक्तिका लक्ष्य है, ब्रह्मानन्दप्राप्ति लक्ष्य नहीं है। और इसी कारण ईश्वरकी अद्वितीय व्यापक आनन्दमयसत्ता योगदर्शनभूमिमें प्राप्त नहीं हो सकती है; क्योंकि जहाँ प्रकृतिका प्राधान्य और नित्य स्थिति रहेगी, वहाँ व्यापक चैतन्यका साक्षात्कार बाधित हो जायगा। अतः योगदर्शनमें प्रकृतिपरिणाम तथा प्रकृतिका सम्बन्ध अधिक होनेसे इस ज्ञानभूमि-सम्बन्धीय मुक्तिके साथ ईश्वरसत्ताका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सका है। तथापि परम आस्तिक योग-दर्शनमें मुक्ति प्राप्तिके साधनरूपसे ईश्वरसत्ताका अपूर्व वर्णन किया है। तथाः—

"ईश्वरप्रणिधानाद् वा"

"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"

"तत्र निरतिशयं सार्वज्ञ्यबीजम्"

"स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"

"तस्य वाचकः प्रणवः"

"तज्जपस्तदर्थभावनम्"

"ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाऽभावश्च"

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्"

इन सब सूत्रोंमें ईश्वरका योगदर्शनोक्त स्वरूप तथा उनके ध्यान, उनके प्रति भक्ति और उनके दिव्य नामके जपका फल बताया गया है।

'ईश्वरप्रणिधानाद् वा'

इस सूत्रका अर्थ भगवान् वेदव्यास लिखते हैं :—

"प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जितः ईश्वरस्तमनुगृह्णाति अभिध्यानमात्रेण, तदभिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधिलाभः फलश्च भवतीति।"

विशेष भक्तिके साथ आराधना करनेसे साधकके प्रति प्रसन्न होकर 'इसका अभीष्ट सिद्ध हो जाय' ईश्वर ऐसी इच्छा करते हैं जिससे शीघ्र ही योगीको चित्तवृत्तिनिरोध द्वारा संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधिलाभ हो जाता है। इस

प्रकारसे ईश्वरभक्तिद्वारा समाधि-प्राप्तिका उपाय बताकर परवर्त्ती तीन सूत्रोंमें महर्षि पतञ्जलीने ईश्वरका स्वरूप बताया है। ईश्वर अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, कर्मफल और संस्कारसे रहित पुरुषविशेष हैं। अर्थात् सांख्य प्रवचनका जो पुरुष है उनसे कुछ विशेष सत्ता ईश्वरकी है। योगदर्शन भूमिमें प्रकृतिसम्बन्धका विशेष अस्तित्व रहनेके कारण वेदान्तभूमिकी तरह इसमें ईश्वरकी व्यापक अद्वैतसत्ता प्रकट नहीं नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृतिबन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुषसे विशेषता बतानेके अर्थ महर्षि पतञ्जलिजीने अपने दर्शनमें ईश्वरको पुरुषविशेष कहा है। इस पुरुषविशेष ईश्वरमें निरतिशय सर्वज्ञताका बीज है और कालके द्वारा परिच्छिन्न न होनेसे वे ज्ञानी महर्षियोंके भी गुरु हैं। क्योंकि महर्षिगण चाहे कितने ही ज्ञानी क्यों न हो जायँ वे कालके द्वारा परिच्छिन्न होनेसे नित्य ईश्वरके ज्ञानको नहीं प्राप्त कर सकते। इसलिये ईश्वर महर्षियोंके भी गुरु हैं। इसके बाद परवर्त्ती तीन सूत्रोंमें ईश्वरसाधनका उपाय बताया गया है। यथा—प्रणव उनका नाम है, प्रणवके साथ ईश्वरका वाच्यवाचक सम्बन्ध है; इसलिये प्रणवजप और उसकी अर्थभावनाके द्वारा प्रत्यगात्मा पुरुषका साक्षात्कार और व्याधि संशयादि अन्तराय दूर हो जाते हैं। इस प्रकारसे ईश्वरभक्ति द्वारा समाधिसिद्धि और पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि हो जाती है। यही सब आस्तिक योगदर्शनोक्त ईश्वरसत्ताका परिस्फुट प्रमाण है। इसके सिवाय अनेक बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग साधनोंमें भी योगदर्शनमें ईश्वरप्रणिधानकी महिमा और उपयोगिता बताई गई है। यथाः—

"तपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"

"शौचसन्तोषतपस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः"

समाधिभावना और अविद्यादि क्लेश दूरीकरणके लिये योगशास्त्रमें जो क्रियायोगका उपदेश किया गया है उनमें तप और स्वाध्यायके अतिरिक्त ईश्वर प्रणिधान भी एक अङ्ग है।

"ईश्वरप्रणिधान"

का अर्थ महर्षि वेदव्यासजीने यह किया है:—

"ईश्वरप्रणिधानं—सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं
तत्फलसंन्यासो वा"

ईश्वरप्रणिधानका अर्थ परमगुरु ईश्वरमें समस्त कर्मोंका समर्पण अथवा कर्मफल त्याग है। दूसरे सूत्रमें यमनियमादि योगके अष्टाङ्गोंमेंसे द्वितीयाङ्ग नियमका लक्षण बताया गया है जिसमें शौच, सन्तोष, तप और स्वाध्यायके अतिरिक्त ईश्वरप्रणिधानको भी नियमके अन्यतम अङ्गरूपसे बताया गया है। यहाँ पर भी ईश्वरप्रणिधानका अर्थ महर्षि वेदव्यासजीनेः—

तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम्।

परमगुरु ईश्वरमें समस्त कर्मोंका अर्पण ही ईश्वर प्रणिधान है ऐसा बताया है। अतः योगदर्शनकी आस्तिकता सर्वथा निर्विवाद है। इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है।

योगदर्शनकी तरह सांख्यदर्शनमें भी प्रकृतिकी प्रधानता होनेसे मुक्तिके साथ ईश्वरका सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका है। अनादि अविवेक द्वारा प्रकृतिके साथ पुरुषका औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है जिससे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत इन तीनों प्रकारके दुःखोंके द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्व-ज्ञानका उदय होनेसे जब अपने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपको समझ जाता है तभी पुरुषकी मुक्ति होती है। अतः प्रकृतिसम्बन्धविच्छेद द्वारा त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति ही सांख्यज्ञानभूमिके अनुसार मुक्ति है इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपदमें स्थितिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं है। अतः इस दर्शनमें ईश्वरकी व्यापकसत्ताकी उपलब्धिके साथ मुक्तिका सम्बन्ध नहीं हो सकता है। जिस पुरुषकी स्वरूपोपलब्धि द्वारा सांख्यभूमिमें मुक्ति बताई गई है वह पुरुष जीवशरीरस्थित कूटस्थ चैतन्य है। व्यापक ईश्वरकी जो निर्लिप्त निर्विकार ज्ञानमयसत्ता प्रतिपिण्डावच्छेदसे देहमें विद्यमान रहती है उसीको कूटस्थ चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वरका ही वेदावच्छिन्न अंश होनेके कारण सदा निर्लिप्त और नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव है। सांख्यदर्शनमें प्रकृतिके साथ उसी पुरुषके अनादि औपचारिक सम्बन्धको स्फटिक लौहित्यवत् बन्धन और सृष्टिका कारण माना है और तत्त्वज्ञान द्वारा उस औपचारिक सम्बन्धकी निवृत्तिको मोक्ष माना है। अतः सांख्यदर्शनके अनुसार जो मुक्ति होती है सो जीवशरीरमें कूटस्थ चैतन्यकी उपलब्धिके द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृतिके स्थूल सूक्ष्म कारण किसी विभागके साथ उसके कर्तृत्त्वभोक्तृत्वका सम्बन्ध नहीं है। वह वास्तवमें प्रकृतिसे निर्लिप्त, उदासीन और उसका द्रष्टामात्र है। यही सांख्यदर्शनोक्त मुक्ति है। अतः इससे स्पष्ट होता है कि सांख्यीय मुक्ति भूमिमें प्रकृतिकी व्यापकसत्ता अक्षुण्ण रहती है, ईश्वरकी व्यापकसत्ता जान नहीं पड़ती है, केवल अपने शरीरमें स्थित ईश्वरका चैतन्यभाव उपलब्ध होता है। अतः अपने शरीरके विचारसे प्रतिदेहमें पुरुषकी भिन्न-भिन्न बहुसत्ता मानना, प्रकृतिको नित्य मानना और अपनी ज्ञानभूमिमें मुक्तिके लिये ईश्वरकी सत्ताके माननेका प्रयोजन न समझना सांख्यदर्शन भूमिके अनुसार ठीक है। तथापि सांख्य-दर्शनने अलौकिक प्रत्यक्षकी सहायतासे ईश्वरके अस्तित्वको जो माना है उसके द्वारा सांख्यदर्शनकी विशेष आस्तिकताका परिचय प्राप्त होता है। यथाः—

"योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः"

"लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः"

"ईश्वरासिद्धेः"

"मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः"

"उभयथाप्यसत्करत्वम्"

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा"

इन्द्रियोंकी सहायतासे लौकिक प्रत्यक्षके अतिरिक्त योगिगण योगबलसे जो अतीन्द्रिय वस्तुओंका प्रत्यक्ष करते हैं उसका सांख्यज्ञानभूमिमें प्रयोजन न रहनेपर भी प्रत्यक्ष करनेमें कोई दोष नहीं है। योगिगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्षशक्ति-द्वारा अतीत अनागत सूक्ष्म व्यवहित वस्तुओंका भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्षके अगोचर और इसलिये सांख्यज्ञानभूमिके अनुसार असिद्ध होनेपर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्षके द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचारसे सांख्यभूमिमें ईश्वर सिद्ध नहीं होते; क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त ही हो सकते हैं और न बद्ध। मुक्त होने पर उनमें अभिमानभावसे सृष्टिकर्तृत्व नहीं आ सकेगा, बद्ध होनेपर उनमें सृष्टिकी शक्ति ही नहीं आ सकेगी, अतः लौकिक प्रत्यक्ष विचारसे ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकते। इतना कहकर फिर सांख्य-दर्शन कहता है कि यद्यपि लौकिक विचारसे ईश्वरकी सत्ता प्रमाणित नहीं होती, परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपासनाके द्वारा सिद्ध पुरुषगण भूयोभूयः शास्त्रमें ईश्वरकी स्तुति कर गये हैं इसलिये ईश्वरके अस्तित्वके विषयमें सन्देह नहीं करना चाहिये। अर्थात् लौकिक प्रत्यक्षके द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषोंकी अलौकिक प्रत्यक्ष शक्तिके द्वारा ईश्वर सदा ही उपलब्ध होते हैं। इस प्रकारसे आस्तिकतापूर्ण विचार द्वारा निज ज्ञानभूमिमें अप्राप्य होने पर भी सांख्यदर्शनने ईश्वरकी सिद्धि की है। यह सांख्यदर्शनकी विशेष आस्तिकताका ही निदर्शन है। सांख्यदर्शनके उपरोक्त सूत्रोंका मर्मार्थ न समझकर विज्ञानभिक्षु आदि कई एक टीकाकारोंने सांख्यदर्शनको निरीश्वर दर्शन कहा है यह उनकी भूल है। वत्सपोषणार्थ अचेतन दुग्धकी प्रवृत्तिकी तरह पुरुषके भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृतिकी प्रवृत्ति हो सकती है ऐसा साधारण रीतिसे कहने पर भी समष्टि और व्यष्टि प्रकृति पर जब तक चेतन पुरुष और जीवका अधिष्ठान नहीं होता है तबतक न तो जड़ प्रकृतिमें परिणामकारिणी चेतनशक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणाम द्वारा सृष्टिविस्तार ही कर सकती है ऐसा अपने सूत्रों द्वारा प्रतिपादन करके सांख्यदर्शन ने और भी आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है। यथाः—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"
"विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम्"

जिस प्रकार अयस्कान्तमणिके पास रहनेसे ही लोहेमें चलन शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार 'संख्यासे अनन्त' चेतनामय पुरुषके अधिष्ठानसे समष्टि प्रकृति कार्य्य करती है और प्रतिपिण्डमें औपचारिक बन्धनसे बद्ध जीवभावापन्न पुरुषके अधिष्ठानसे व्यष्टि प्रकृति कार्य करती है। यह बात पहले ही कही गई है कि प्रकृति पर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है जो जीवदेहावच्छेदसे ईश्वरकी ही सत्ता है, और—

"अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविष्य नामरूपे व्याकरोत्"

उसी परमात्माने जीवरूपमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपका विकार उत्पन्न कर दिया, इस छान्दोग्य श्रुत्युक्त सिद्धान्तके अनुसार ही वही चेतनसत्ता जब

ईश्वरका ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकृतिके साथ ईश्वरका सम्बन्ध सांख्यदर्शन द्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ। केवल वेदान्तादि दर्शनोंके साथ इतना ही भेद रह गया कि वेदान्त दर्शनमें ईश्वरकी इच्छासे प्रकृतिका परिणाम और सृष्टिक्रिया लिखी है और सांख्यदर्शनमें कूटस्थ चैतन्यके अधिष्ठानमात्रसे प्रकृतिका परिणाम बताया है। फलतः आस्तिकताके विषयमें दोनों दर्शनोंमें ही कोई विशेष विभिन्नता नहीं पायी गयी। अधिष्ठानमात्रसे प्राकृतिक परिणामके विषयमें स्मृतियोंमें भी परिणाम मिलता है, यथा :—

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते।
सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः॥
अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्।
निरिच्छत्वादकर्त्तासौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः॥

जिस प्रकार इच्छारहित अयस्कान्तमणिके पास रहनेसे ही लोहेमें चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुषके अधिष्ठानमात्रसे ही संसारकी क्रिया होने लगती है। इस विचारसे आत्मामें कर्त्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि इच्छारहित होनेसे वे अकर्त्ता हैं और सान्निध्य द्वारा कर्त्ता भी हैं। यही पुरुषसे प्रकृति पर ईश्वरका अधिष्ठान है और यहाँ सांख्यदर्शनकी परम आस्तिकताका परिचय है। मीमांसादर्शनोंमें ईश्वरकी 'विभुतया अनन्त सत्ता'का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञानभूमिमें प्रयोजन न होनेसे सांख्यदर्शनमें ईश्वरकी 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है।

मीमांसादर्शन तीन हैं। यथा—कर्ममीमांसा, दैवीमीमांसा और ब्रह्ममीमांसा। ब्रह्मसत्ता सत् चित् और आनन्दमय होनेसे तीनों मीमांसादर्शनोंके द्वारा ब्रह्मके इन तीन भावोंका प्रतिपादन होता है। कर्ममीमांसा दर्शनके द्वारा उनके सत् भावका दैवीमीमांसा दर्शनके द्वारा आनन्दभावका और ब्रह्ममीमांसा दर्शनके द्वारा चित्भावका प्रतिपादन होता है। सत्भावके साथ कार्यब्रह्मका विशेष सम्बन्ध रहनेसे कर्ममीमांसा दर्शनका प्रतिपाद्य विषय दो खण्डमें विभक्त है। उनमेंसे एक खण्ड कार्यब्रह्मप्रधान है और दूसरा खण्ड कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकताप्रतिपादनमुखेन कारण ब्रह्मकी उपलब्धि प्रधान है। इसलिये पूर्वमीमांसा-दर्शनके प्रकाशक दो महर्षि हुए हैं। एक जैमिनी महर्षि जिन्होंने कार्यब्रह्मके अन्तर्गत स्वर्गापवर्गादि प्रदानके अर्थ ही यज्ञधर्मप्रधान दर्शन बनाया और दूसरे भरद्वाज महर्षि जिन्होंने कर्मरहस्य, संस्कारशुद्धि आदि वर्णनमुखेन कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकतापादन करके कर्ममीमांसा दर्शनका अन्य भाग बनाया। एक भागके साथ कार्यब्रह्मका विशेष सम्बन्ध रहनेसे उसमेंसे ईश्वरसत्ताका साक्षात् प्रतिपादन नहीं हो सका; क्योंकि कार्यसे कारणकी ओर अग्रसर होनेके पथमें ईश्वर-सत्ताका आभास उपलब्ध होने लगता है। इसीलिए महर्षि जैमिनीकृत पूर्वमीमांसा-दर्शन यज्ञप्रधान है। उसमें वेदमन्त्रद्वारा शुद्ध रूपसे अनुष्ठित यज्ञके साथ इस

प्रकार अपूर्वका सम्बन्ध बताया गया है कि उसीके द्वारा याज्ञिकको दुःखहीन चिरसुखमय स्वर्गापवर्गकी प्राप्ति हो सकती है। इसमें यज्ञक्रिया ही प्रधान है और देवता तथा ईश्वर गौण हैं। परन्तु महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसादर्शनका वह भाग इस प्रकार नहीं है। उसमें समस्त कार्यब्रह्मको कारणब्रह्मसे अभिन्न मानकर कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्म ईश्वरकी एकता देखना ही मुक्तिका लक्षण है। यथाः—

"सच्चिदेकं तत्"

"भेदप्रतीतिरौपाधिकत्वात्"

"कार्यकारणाभ्यामभिन्ने"

"कार्यब्रह्मनिर्देशस्तत्सम्बन्धात्"

"कार्यकारणयोरेकतापादनं मोक्षः"

"तदा स्वरूपविकाशः"

"स सच्चिदानन्दमयः"

"तस्मिन् प्रकृतिलयः"

परमात्मा सत्, चित् और एक रूप है। भेदकी प्रतीति उपाधिजन्य है। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्म अभिन्न हैं। कारणब्रह्मके सम्बन्धसे ही कार्यब्रह्मका निर्देश होता है। कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकता सम्पादन होना ही महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसाकी मुक्ति है। इस प्रकार एकतापादन होनेसे सच्चिदानन्दमय ईश्वरके स्वरूपका विकास हो जाता है और उसमें प्रकृतिका लय हो जाता है। ऐसी अवस्था होती कैसे है? इसके उत्तरमें महर्षि भरद्वाजने अपने दर्शनमें कहा हैः—

"संस्कारशुद्ध्या क्रियाशुद्धिः"

"तया मोक्षोपलब्धिः"

संस्कारशुद्धिके द्वारा जीवका कर्म धीरे-धीरे शुद्ध हो जाता है। और निष्कामभावसे सात्त्विक जगत्कल्याणकर कर्मका अनुष्ठान करते-करते साधकका जीवन जब विश्वजीवनके साथ एक हो जाता है तभी समस्त संसारको भगवान्का ही रूप मानकर समस्त कार्य भगवद्सेवारूपसे करते-करते योगीको समस्त संसार ब्रह्ममय दीखने लगता है। यही कर्ममीमांसा दर्शनका प्रतिपाद्य कार्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मकी एकतारूपी ईश्वर भावकी उपलब्धि है। इस अवस्थामें साधक समस्त संसारमें व्यापक ईश्वरकी सत्ताको प्रत्यक्ष कर सकता है। अतः कर्ममीमांसादर्शनोक्त मुक्तिके साथ ईश्वरका साक्षात् सम्बन्ध है यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। इसमें कार्यब्रह्मको कारणब्रह्मका ही स्थूलरूप मानकर कारणब्रह्म ईश्वरकी उपलब्धि होती है और इसीलिये इस दर्शनमें केवल दुःखनिवृत्ति लक्ष्य न होकर अपवर्गकी नित्यानन्द प्राप्ति भी इसमें लक्ष्यीभूत है। महर्षि भरद्वाजकृत कर्ममीमांसा दर्शनकी और भी आस्तिकता यह है कि इसमें ईश्वर और देवताओंको कर्मके नियन्तारूपसे वर्णित किया गया है। यथा :—

"नियन्तृत्वात्ताद्रूप्यं धर्मस्य"
"कर्मणा त्रिभावात्मकसृष्टिः"
"तेनातस्तदधिष्ठातृसम्वर्द्धनम्"

भगवान् कर्मके नियन्ता हैं, धर्म भी कर्मका नियन्ता है इसलिये धर्म ईश्वर-रूप है। कर्मके द्वारा त्रिभावमय सृष्टि होती है और उससे कर्माधिष्ठाता देवताओंकी सम्वर्द्धना होती है।

इससे परे दैवीमीमांसादर्शनकी भूमि है। इसमें माया ब्रह्मकी शक्तिस्वरूपिणी और उससे अभिन्ना है। यथा:—

"ब्रह्मशक्त्योरभेदोऽहंममेतिवत्"

जिस प्रकार मैं और मेरा इन दोनोंमें अभेद है उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्मशक्ति-रूपिणी प्रकृति दोनोंका अभेदसम्बन्ध है। अतः इस दर्शनमें ईश्वरकी आनन्दमयसत्ता प्रत्यक्ष और मायाकी सत्ता उसीमें लवलीनरूपसे उपलब्ध होती है। ईश्वरकी आनन्द-मयसत्ताकी उपलब्धि करना ही दैवीमीमांसादर्शनका प्रतिपाद्य विषय है। इसमें परमात्माको रसरूप करके वर्णन किया गया है और उसी रसके आस्वादन और प्राप्तिके लिये भक्तिमार्ग ही श्रेष्ठ है, ऐसा बताया गया है। साधक वैधी भक्तिके द्वारा अभ्यास करता हुआ रागात्मिका भक्तिको प्राप्त करके अन्त में पराभक्तिपदवीको पाकर सर्वत्र विराजमान आनन्दकन्द सच्चिदानन्दरूप परमेश्वरको जान सकता है। यथा दैवीमीमांसामें:—

"स्वरूपद्योतकत्वात्पूर्णानन्ददा परा"
"ब्रह्मणोऽधिदैवाधिभूतरूपं तटस्थवेद्यम्"
"स्वरूपेण तदध्यात्मरूपम्"
"स्वरूपतटस्थवेद्यं सच्चिदानन्दमयमद्वितीयं ब्रह्म"

पराभक्ति वही है जिसमें परमात्माके सच्चिदानन्दमय स्वरूपका ज्ञान और नित्यानन्दकी प्राप्ति हो। ब्रह्मके ईश्वरभाव और विराट्भावकी उपलब्धि तटस्थदशामें ही होती है। स्वरूपदशामें परमात्माके अध्यात्मभावकी उपलब्धि होती है। इस तरहसे अद्वितीय सच्चिदानन्दमय परमात्मा स्वरूप और तटस्थ दोनों लक्षणों के द्वारा ही वेद्य हैं। इस दर्शनभूमिमें माया मायीसे अभिन्न होने के कारण मुक्तिदशामें मायाकी सत्ता मायी ईश्वरमें विलीनरूपसे उपलब्ध होती है और इसीलिये इस दर्शनमें कारणब्रह्मकी प्रधानता और कार्यब्रह्मकी गौणता रहती है। कर्ममीमांसामें कार्यब्रह्मकी उपलब्धि होकर उसीके अवलम्बनसे उसीके रूपमें कार्यब्रह्मका अनुभव होता है अर्थात् इसमें 'जगत् ब्रह्म है' ऐसा अनुभव न होकर 'ब्रह्म ही जगत् है' ऐसा अनुभव होता है। और मायाकी सत्ता ब्रह्ममें लवलीनके समान होनेसे ईश्वरकी अद्वितीय व्यापकसत्ता इसमें प्रत्यक्ष होने लगती है। इसलिये प्रकृतिप्रधान सांख्यदर्शन ईश्वरकी जो 'संख्यया अनन्तसत्ता' उपलब्ध होती थी वह परिपाकको प्राप्त होकर

"विभूतया अनन्तसत्ता" रूपसे उपलब्ध होने लगती है और इसीलिये दैवीमीमांसामें लिखा है :—

"अद्वितीयेऽपि विभुतया संख्यया चानन्तः"
"स एक एव कार्यकारणत्वात्"
"तदेवेदमिति"
"तदभिन्नमाराध्यं कृत्स्नम्"

ईश्वरकी अद्वितीय सत्ता दो प्रकारसे अनन्त प्रतीत होता है—एक संख्या के द्वारा अनन्त और दूसरी व्यापकताके द्वारा अनन्त। कार्यब्रह्म और कारणब्रह्मरूपसे वह एक ही है। कारणब्रह्म परमात्मा ही कार्यब्रह्म ईश्वर है। समस्त विश्वको उन्हींके रूपसे पूजा करनी चाहिये, क्योंकि दोनों एक ही हैं। इस प्रकारसे दैवीमीमांसादर्शन-भूमिमें ईश्वरकी अद्वितीय व्यापकसत्ता और उनके साथ अभिन्नतायुक्त उन्हींमें स्थित विश्वधात्री मायाकी सत्ता उपलब्ध होती है, अतः दैवीमीमांसादर्शनकी आस्तिकता स्वतःसिद्ध है।

इसके बाद सबसे अन्तिम भूमि अर्थात् सप्तम ज्ञानभूमिका प्रतिपादन वेदान्तदर्शनके द्वारा होता है, जिसको ब्रह्ममीमांसा कहते हैं। ब्रह्ममीमांसादर्शनमें ब्रह्मके आध्यात्मभावकी मीमांसा की गई है–जिस भावके साथ मायाका कोई भी सम्बन्ध नहीं है, जो भाव मायासे अतीत है और जहाँ माया लय हो रहती है। इसलिये वेदान्तदर्शनमें मायाको मिथ्या और सान्त कहा गया है और जब मायाकी वस्तुसत्ता इस तरहसे अपनी भूमिमें अस्वीकृत हुई तो विश्वजगत्को प्रकृतिका परिणाम न कहकर ब्रह्मका विवर्त्त कहा जायगा। इसलिये वेदान्त-दर्शनमें संसारको ब्रह्मका विवर्त्त कहा गया है अर्थात् रज्जुमें सर्पभ्रमकी तरह मोहिनी मायाके प्रतापसे ब्रह्ममें ही जगत्‌की भ्रान्ति हो रही है, वास्तवमें यह दृश्यमान संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्तदर्शनका सिद्धान्त है। वेदान्तभूमिके अनुसार स्वरूपोपलब्धिदशामें मायारहित तथा जगत्प्रत्यक्ष रहित निर्गुणब्रह्मभावमें स्थित होनेके कारण ही उसी दशाके अनुसार व्यावहारिक दशामें भी जगत्को ब्रह्मका विवर्त्त माना गया है, क्योंकि मायाके मिथ्यात्व और जगत्के ब्रह्मरूपत्वकी धारणा मुमुक्षु साधकके चित्तमें जितनी प्रबल होगी प्रपञ्चकी निवृत्तिके द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्त्ती हो जायगी। अतः संसारको विवर्त्तित ब्रह्मका रूप कहना और मुक्ति उसी विवर्त्तको जानकर आनन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान होना है ऐसा कहना निज ज्ञानभूमिके अनुसार वेदान्तदर्शनके लिये ठीक ही है। इस वेदान्तदर्शनमें सगुणब्रह्म ईश्वरकी सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है, क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुणब्रह्म मायासे अतीत है तो मायासम्बन्धीय सृष्टिस्थिति-प्रलयादि सभी कार्य मायाशवलित, मायोपाधिक सगुणब्रह्म ईश्वरके अधिकारमें ही होना चाहिये। इसलिए इस दर्शनमें ईश्वरको जगत्का निमित्त और उपादान दो कारण ही माना गया है। निमित्तकारण इसलिये कि उन्हींके द्वारा सृष्टिस्थिति-प्रलयकार्य चलता है और उपादानकारण इसलिये कि उन्हींपर सुवर्णमें कटक-

कुण्डलकी तरह मायाने समस्त विश्वकी भ्रांतिको दिखाया है। उनकी निमित्त-कारणताके विषयमें वेदान्तदर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा:—

"जन्माद्यस्य यतः" "जगद्वाचित्वात्" इत्यादि।

संसारकी सृष्टि, स्थिति और प्रलय सगुणब्रह्म ईश्वरके द्वारा ही होता है। ईश्वर ही समस्त जगत्के कर्त्ता हैं। उनकी उपादानकारणताके विषयमें भी वेदान्त-दर्शनमें अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा:—

"प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात्"

इसके भाष्यमें श्रीभगवान् शंकराचार्यने लिखा है:—

"एवं प्राप्ते ब्रूमः। प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणं च। न केवलं निमित्तकारणमेव।

सगुण ब्रह्म केवल जगत्के निमित्तकारण ही नहीं है अधिकन्तु उपादानकारण भी हैं। पुनरपि—

"योनिश्च हि गीयते"

इस सूत्रके द्वारा भी उपादानकारणता प्रतिपन्न होती है।

"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः"

"तथाऽन्यप्रतिषेधात्"

इन दोनों सूत्रोंमें भी जगत् और ब्रह्मकी एकता करके जिस प्रकार कुण्डल वलय आदि सुवर्णालङ्कारमें वास्तविक कोई भेद नहीं है केवल नामरूपका ही भेद है। वास्तवमें सब सुवर्ण ही है, उसी प्रकार जगत् विविधनामरूप वैचित्र्यपूर्ण होनेपर भी वास्तवमें ब्रह्म ही है, ऐसा कहकर जगत्के विषयमें ब्रह्मकी उपादानकारणता विशेषरूपसे सिद्ध की गई है।

"तस्माद् ब्रह्मकार्यं वियदिति सिद्धम्"

आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वरका ही कार्य है। इस सूत्रके द्वारा जगदुत्पत्तिके विषयमें ईश्वरकी निमित्तकारणता सिद्ध की गई है। अतः वेदान्तदर्शनभूमिके अनुसार ईश्वरकी उभयकारणता ही प्रतिपादित होती है। ब्रह्म सगुण है या निर्गुण, इस विषयमें ब्रह्मसूत्रमें कहा है:—

"न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि"

ब्रह्म सर्वत्र उभयलिङ्ग है, उपाधि सम्बन्ध होने पर भी निर्गुण भावका विलोप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होनेपर साकार हो जायँगे तो इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनमें सूत्र है:—

"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्"

ब्रह्म निराकार हैं, उपाधिसम्बन्ध होनेपर भी साकार नहीं होते हैं।

"प्रकाशवत् चावैयर्थ्यम्"

जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश आधारभेदसे सरल, वक्र आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी उपाधिके द्वारा नानारूप प्रतीत होते हैं, वास्तवमें उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होने पर भी उपाधि-संयोगसे यदि ससीम हों तो इस संदेहके उत्तरमें वेदान्तदर्शन बताता है:—

"अतोऽनन्तेन तथा हि लिंगम्"

ब्रह्मका सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप दोनों ही अनन्त हैं।

"प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्"

प्रकाशरूप ब्रह्ममें सगुणनिर्गुणभेद केवल उपाधिभेदसे है, स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्मसे स्वरूपतः अभिन्न मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वरसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, इसलिये घटकुलालवत् निमित्त-कारण ईश्वर कहे गये हैं। अब इसमें प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर चेतन हैं और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वरसे अचेतन जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनमें कहा है कि चेतनसे अचेतनकी उत्पत्ति संसारमें हुआ करती है—यथा चेतन पुरुषसे अचेतन नखलोमादिकी उत्पत्ति। अतः ईश्वरसे जगत्‌की उत्पत्ति शङ्काजनक नहीं है। द्वितीय प्रश्न यह होता है कि कुम्भकार दण्डचक्र आदि उपकरणकी सहायतासे घट निर्माण करता है। ईश्वरका जब कोई उपकरण नहीं है तो सृष्टि कैसे करेंगे? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनने कहा है:—

"क्षीरवद्धि" "देवादिवदपि लोके"

जिस प्रकार दुग्ध आदि उपकरणके विना ही दधि आदि रूपमें परिणत हो जाते हैं और जिस प्रकार देवता आदि उपकरणके विना ही संकल्पमात्रसे सृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरणके विना ही स्वतः जगत्सृष्टि करते हैं। तृतीय प्रश्न यह होता है कि, ईश्वर जब निराकार हैं तो उनसे सृष्टि कार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनने कहा है:—

"विकरणत्वादिति चेत् तदुक्तम्"

श्रुत्युक्त—"अपाणिपादो जवनो गृहीता"

इत्यादि प्रमाण द्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकारसे भी सृष्टिकार्य हो सकता है। पुनः यह शङ्का होती है कि ईश्वर जब आप्तकाम है तो उनको सृष्टि करनेका क्या प्रयोजन है? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनने कहा है:—

"लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"

सृष्टि उनका लीलाविलासमात्र है। जिस प्रकार शिशु विना प्रयोजन ही क्रीड़ा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठानसे प्रकृति द्वारा स्वतः होती है। पुनः यह आपत्ति होती है कि संसार वैषम्यका आधार है। इसमें कोई सुखी, कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र, इस प्रकार देखनेमें आता है। यदि जगत्

ईश्वरकी रचना है तो, वे बड़े ही पक्षपाती या निष्ठुर होंगे। इसके उत्तरमें वेदान्त-दर्शनने कहा :—

"फलमतः उपपत्तेः"
"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः"
"वैषम्यनैर्घृण्ये न, सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति"

ईश्वर कर्मफलके दाता हैं; परन्तु कर्मके वैचित्र्यानुसार ही जीवको फल देते हैं, ऐसा न होनेसे शास्त्रीय विधिनिषेध निरर्थक हो जायगा। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न सृष्टि करते हैं। जिसका पूर्व सुकृत है उसे सुखी करते हैं, जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुःखी करते हैं। अतः इसमें ईश्वरका पक्षपात या निष्ठुरता सिद्ध नहीं होती है। पूज्यपाद भाष्यकारने ईश्वरके कर्मानुसार सृष्टि-रहस्यके विषयमें कहा है :—

"ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति, एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति। एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनैर्घृण्याभ्यां दुष्यति।

सृष्टिके विषयमें ईश्वरको मेघकी तरह समझना चाहिये। जिस प्रकार व्रीहि, यव, धान्य आदिके विषयमें मेघ साधारण कारण है अर्थात् मेघके जलसे व्रीहि, यवादि उत्पन्न होते हैं, परन्तु उसमें प्रत्येकके भीतर जो प्रकृतिवैषम्य है उसके लिए मेघ कारण नहीं है। उसके लिये व्रीहियवादिके बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण है। ठीक उसी प्रकार देवमनुष्यादि सृष्टिके विषयमें ईश्वर साधारण कारण हैं, परन्तु उनके प्रत्येकके पृथक्-पृथक् सुख-दुःख ऐश्वर्य या दारिद्र्य आदि विशेषताके लिये जीवोंके पृथक्-पृथक् कर्म ही असाधारण कारण हैं। ईश्वर उन्हीं पृथक् पृथक् कर्मोंके अनुसार प्रत्येक जीवकी सृष्टि करते हैं। अतः सृष्टिके विषयमें पर्जन्यवत् साधारण कारण होनेसे ईश्वरमें पक्षपात या निष्ठुरताका कलङ्क नहीं लग सकता है। श्रुति कहती है :—

"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन"

पुण्यकर्म द्वारा जीवको पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और पापकर्म द्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीवको ईश्वर फल प्राप्त कराते हैं तो उनमें ऐश्वर्य कैसे समझा जाय। जो कर्मके अधीन हुए वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र कैसे कहला सकते हैं? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है, क्योंकि दाह्य वस्तुके न होनेसे अग्नि दग्ध नहीं कर सकती है इस लिए अग्निमें दाहिका शक्ति नहीं है ऐसा कहना पागलपन होगा। दाहिका शक्ति

होनेसे ही अग्नि दाह्य वस्तुओंको दग्ध कर सकती है। जलादिमें दाहिका शक्ति नहीं है इसलिये दाह्य वस्तुओंके संयोग होने पर भी जलादि उनको दग्ध नहीं कर सकते हैं। इसी तरहसे जड़ कर्मके नियामक, सर्वशक्तिमान् ईश्वरमें अनन्तशक्तिके होनेसे ही वे जीवकृत कर्मानुसार उनको फल दे सकते हैं, शक्ति न होती तो जीवके कर्म करने पर भी उचित फल नहीं दे सकते। अतः जीवकृत कर्मोंकी अपेक्षा रहनेपर भी ईश्वरमें सर्वशक्तिमत्ताकी अभावकल्पना नहीं हो सकती है। प्रजाओंके कर्मानुसार राजा दण्डपुरस्कारादि प्रदान करते हैं। इसमें राजामें शक्ति या स्वतन्त्रताकी अभावकल्पना नहीं हो सकती है। इसी प्रकारसे अनेक प्रमाणों तथा विचारों द्वारा वेदान्तदर्शनमें ईश्वरकी परम सत्ता जगच्चक्रपरिचालनके विषयमें प्रमाणित की गई है। इस ईश्वरसत्ताका स्वरूप क्या है जिसको साधनाके द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं इसके उत्तरमें वेदांतदर्शन में लिखा है:—

"आनन्दमयोऽभ्यासात्"

ईश्वरकी वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है जिसको साधनाके द्वारा साधक प्राप्त कर सकते हैं। साधनाके द्वारा ईश्वर कब प्राप्त होते हैं इस विषयमें वेदांतदर्शनमें कहा है:—

"अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्"

"पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्"

"तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो हार्दानुगृहीतः शताधिकया"

योगिगण शक्तिध्यान प्रणिधानादिके द्वारा ईश्वरका दर्शन करते हैं। ईश्वरकी साधनाके द्वारा सिद्धि प्राप्त होनेपर जीवका भूला हुआ ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसादसे पुनः प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी साधकका हृदयाग्र प्रज्वलित होता है। जिसके प्रकाश से साधकको निर्गमनद्वार अर्थात् मुक्तिमें पुनः प्रवेश विदित हो जाता है। वह उपासक भगवत्कृपासे पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुम्नापथसे निष्क्रांत हो उत्तरायण या सहजगति-से परमधामको प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वराराधनाके द्वारा वेदांतवर्णित निःश्रेयस-पदवीप्राप्तिका परम उपाय है। अतः वेदांतदर्शनकी आस्तिकता सहजसिद्ध है, इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है। सप्तदर्शनोंमें ईश्वर-सत्ताविषयक विचारके द्वारा यही सिद्धांत निश्चय हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार सभी दर्शनोंने ईश्वर-सत्ताको प्रतिपादित किया है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियोंकी क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमोन्नत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदांतकी अंतिम भूमिमें आकर परा-काष्ठाको प्राप्त हो गया है। आत्माके इस प्रकार श्रुति, शास्त्र और विचारसम्मत त्रिविधभाव और नित्यशुद्धबुद्ध, निखिलकारण, परमकरुणामय स्वरूपकी सम्यक् उपलब्धि होने पर मुमुक्षु जीवका संसारबंधन निरस्त होता है, समस्त संशयजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाता है और दुःखलवलेशविहीन नित्यानन्दमय परमपदमें चिर-विलीनता प्राप्त हो जाती है।

पञ्चम समुल्लासका प्रथम अध्याय
समाप्त हुआ।

जीवतत्त्व

·—:०:—

परमात्माके विविध भावोंका वर्णन करके श्रुतिशास्त्र-सम्मत आत्मतत्त्वका निरूपण पूर्व अध्यायमें किया गया है। अब इस अध्यायमें जीवात्माका तत्त्व और उसके विषयमें यावतीय रहस्य प्रतिपादन किया जाता है। जीवतत्त्व और जीवकी उत्पत्ति, स्थिति, लयका विज्ञान मनुष्यके जानने योग्य सब विषयोंमें परमावश्यकीय विषय है। जबतक जीव अपना स्वरूप न समझ जाय, तबतक न वह अपनी उन्नति कर सकता है और न अपनेको मुक्त कर सकता है। अतः जीवतत्त्व समझनेकी आवश्यकता सर्वोपरि है। परन्तु जीवतत्त्वके समझनेके लिये जिन सब विज्ञानोंके विचार करनेकी आवश्यकता है, उनकी विचारशैलियोंमें सन्देह डालनेवाले जो विषय हैं उनका निराकरण पहले होना चाहिये। वर्तमान समयमें जीवतत्त्व निरूपणकी विचार-शैलीमें दो सम्प्रदायके मत बहुत ही बाधा उत्पन्न करते हैं। उन दोनोंमेंसे एकका नाम अवच्छिन्नवाद है और दूसरेका नाम प्रतिबिम्बवाद है। इन दोनों मतवादोंके विषयमें उचित शङ्कासमाधान करके जीवतत्त्वका सविस्तार वर्णन करना उचित समझा गया है। यद्यपि जीवतत्त्व निरूपणके साथ इन मतवादोंका कोई साक्षात् सम्बद्ध नहीं है; परन्तु इसके समझ लेनेसे पीछे शङ्काओंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना ही नहीं रहेगी, इसलिए प्रथम इन मतवादोंकी अवतरणा की जाती है। जीवात्माके विषयमें जितने प्रकारके मतवाद भिन्न-भिन्न साम्प्रदायिक शास्त्रोंमें पाये जाते हैं उन सबोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक जीव ही ब्रह्म है :—

"जीवो ब्रह्मैव नापरः"

जीव और ब्रह्ममें कोई भी भेद नहीं है। इसलिये ब्रह्मके सदृश जीव भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्यस्वभाव है और दूसरे पक्षके अनुसार जीव और ब्रह्म पृथक् पृथक् वस्तु है। जीव दुःखत्रयके अधीन है, ब्रह्म क्लेशलेशविहीन है। जीव अनित्य अशुद्ध, अबुद्ध, और अमुक्त है, ब्रह्म नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त है। जीव नियम्य है, ब्रह्म नियामक है। जीव व्याप्य है, ब्रह्म व्यापक है। इन दोनों मतवादोंकी पुष्टिमें वेदान्तदर्शन तथा श्रुतिशास्त्रमें भिन्न-भिन्न प्रकारके प्रमाण भी मिलते हैं। वेदान्त-दर्शनके अनुसार इन दोनों मतवादोंका नाम अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवाद रखा गया है। अवच्छिन्नवादके विषयमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र है :—

"अंशो नानाव्यपदेशात्"

जीवात्मा परमात्माका अंशरूप है। जिस प्रकार सर्वव्यापक आकाश एक होनेपर भी घट, पट आदि उपाधिभेदानुसार घटाकाश, पटाकाश आदि उसकी संज्ञा होती है; परन्तु वास्तव में घटाकाश और व्यापक आकाशमें कोई स्वरूपतः भेद नहीं

है, ठीक उसी प्रकार जीव और ब्रह्ममें स्वरूपतः कोई भी भेद नहीं है, केवल अन्तःकरणरूपी उपाधिके योगसे एक ही ब्रह्म नाना जीवरूपमें व्याप्त हो रहे हैं। प्रतिबिम्ब-वादके विषयमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र हैं :—

"आभास एव च"

जीवात्मा परमात्माका अंश नहीं है, केवल आभास मात्र है। जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य्य या चन्द्रका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ता है, वह प्रतिबिम्ब सूर्य्य या चन्द्रकी तरह देखने में होनेपर भी वास्तवमें सूर्य या चन्द्र नहीं है, ठीक उसी प्रकार परमात्माका प्रतिबिम्ब जो अन्तःकरण पर पड़ता है वही जीवात्मा है, वह वास्तवमें ब्रह्म नहीं है। इन दोनों मतोंकी पुष्टिमें अनेक श्रुति आदि शास्त्रोंके प्रमाण भी मिलते हैं। यथा—अवच्छिन्नवादके विषयमें अथर्ववेदमें लिखा है :—

"ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उत"

कैवर्त्त, दास्यकर्मकारी और द्यूतकारी ये सभी ब्रह्म हैं। श्वेताश्वतरउपनिषद्‌में लिखा है :—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥

ब्रह्म स्त्री है, ब्रह्म पुरुष है, ब्रह्म कुमार है, कुमारी है और वृद्धरूपमें दण्ड लेकर ब्रह्म ही चलता है, संसारमें नानारूप धारण करके ब्रह्म ही सर्वत्र विराजमान है। और भी मुण्डकोपनिषद्‌में :—

यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिंगाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षरात् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥

जिस प्रकार सुदीप्त अग्निसे सहस्र सहस्र अग्निरूप विस्फुलिङ्ग निर्गत होते हैं उसी प्रकार अक्षरब्रह्मसे विविध जीव उत्पन्न होकर पुनः ब्रह्ममें ही लयको प्राप्त होते हैं। श्रीभगवान्‌ने गीतामें कहा है:—

"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"

ब्रह्मके ही अंश, जीवलोकमें सनातन जीवरूपसे स्थित हैं। श्रीमद्‌भागवतमें लिखा है:—

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद् बहु मानयन्।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥

सभी जीवोंको सम्मानके साथ मनसे प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि ईश्वर ही जीवरूपसे सर्वत्र व्याप्त हैं इत्यादि इत्यादि अनेक प्रमाण अवच्छिन्नवादके विषयमें शास्त्रमें पाये जाते हैं। इसी प्रकार प्रतिबिम्बवादके विषयमें भी प्रमाणका अभाव नहीं है। यथा ब्रह्मबिन्दूपनिषद्‌में :—

एक एव हि भूतात्मा भूते भूत व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

एक ही ब्रह्म समस्त जीवोंमें अवस्थान कर रहे हैं। जलमें चन्द्रप्रतिबिम्बकी तरह समस्त जीवोंके अन्तःकरणमें उनका प्रतिबिम्ब है। वही जीवात्मा है। और भी :—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥

जिस प्रकार सूर्य एक होने पर भी भिन्न-भिन्न जलमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक दीखते हैं उसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्म अन्तःकरणउपाधिमें प्रतिबिम्बित होकर अनेक होते हैं। अन्तःकरणमें उनका वही प्रतिबिम्ब जीव है इत्यादि इत्यादि सब प्रमाण प्रतिबिम्बवादके हैं। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु इन दोनों मतवादोंके बीचमें अनेक परस्पर विरुद्ध तर्क, शंका और उसके समाधान भी देखनेमें आते हैं। यथा—अवच्छिन्नवादके विषयमें यह शंका होती है कि जब जीवात्मा परमात्माका ही अंश है तो जीवात्मा नियम्य और परमात्मा नियन्ता, इस प्रकार विभाग नहीं हो सकता है। परन्तु संसारमें देखा जाता है कि परमात्मा सर्वथा ही जीवोंके नियन्ता हैं। इस प्रकार शंकाके समाधानमें यह कहा गया है कि जीवात्मा परमात्माका अंश होने पर भी परमात्माकी उपाधि माया उत्कृष्ट है और जीवात्माकी उपाधि अविद्या निकृष्ट है। इसलिये उत्कृष्टोपाधिसम्पन्न ईश्वर, निकृष्टोपाधिसम्पन्न जीवात्माके नियन्ता हो सकते हैं। संसारमें भी ऐसा ही देखा जाता है कि उत्कृष्टशक्तिसम्पन्न मनुष्य निकृष्टशक्तिसम्पन्न मनुष्यके नियन्ता होते हैं। और, यह भी विचार्य है कि केवल अविद्याजनित उपाधिवशात् ही जीवात्मा और परमात्माके बीचमें इस प्रकार नियम्य-नियन्तृभाव हैं। यह भाव वास्तविक नहीं है। इसलिए ज्ञानद्वारा आत्मसाक्षात्कार हो जाने पर यह भाव आमूल नाशको प्राप्त हो जाता है। इसीलिये पूज्यपाद सुरेश्वराचार्यने कहा है:—

ईशेशितव्यसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः ।
सम्यग्ज्ञाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥

जीवात्मा ईशितव्य और परमात्मा ईशिता है इस प्रकारका सम्बन्ध केवल जीवात्माके स्वरूपविषयक अज्ञानजन्य ही है। स्वरूपका ज्ञान होनेपर अज्ञान विनष्ट हो जाता है। उस समय इस प्रकार नियम्य और नियन्ताका भाव नहीं रहता है। द्वितीय शङ्का यह होती है कि यदि जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं तो जीवके दुःखसे ब्रह्मको भी दुःखित होना चाहिये, सो नहीं होता है। इसके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यासने वेदान्तदर्शनमें सूत्र लिखा है :—

"प्रकाशादिवन्नैवं परः"

जिस प्रकार सूर्यरश्मि उपाधिवशात् सरल वक्रादि होने पर भी सूर्य तत्तद्भावापन्न नहीं होते हैं उसी प्रकार ब्रह्मके जीवांश दुःखित होने पर भी ब्रह्म दुःखित नहीं होते हैं। तीसरी शङ्का यह होती है कि जीव जब ब्रह्मका ही अंश है तो शास्त्रमें जीवके लिये विधिनिषेध का उपदेश क्यों किया गया है ? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनमें सूत्र है :—

"अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत्"

देहसम्बन्धको लक्ष्य करके इस प्रकार विधिनिषेधोंका उपदेश किया गया है। जिस प्रकार अग्नि एक होने पर भी श्मशानाग्नि हेय है और होमाग्नि उपादेय हैं, इसमें भी ऐसा ही समझना चाहिए। चौथी शङ्का यह होती है कि जब जीव ब्रह्म ही है तो कर्मसाङ्कर्य्य क्यों नहीं हो जाता है अर्थात् एक जीवका कर्म अन्य जीवके साथ मिल क्यों नहीं जाता है ? इसके उत्तरमें वेदान्तदर्शनमें लिखा है :—

"असन्ततेश्च व्यतिकरः"

"उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्
उपाध्यसन्तानाच्च ग्रस्त जीवसन्तानः।
ततश्च कर्मव्यतिकरः फलव्यतिकरो वा न भविष्यति।"

जीव उपाधितन्त्र है। जब उपाधियाँ भिन्न-भिन्न हैं और वे परस्पर मिश्रित नहीं हो जाती हैं तो जीवोंके कर्म और कर्मफल कैसे मिश्रित हो जा सकते हैं ? इस प्रकारसे अवच्छिन्नवादके विषयमें अनेक सन्देह और उनके निराकरण शास्त्रमें किये गये हैं। अवच्छिन्नवादकी तरह प्रतिविम्ववादके विषयमें भी अनेक सन्देह और उनके निराकरण किये जाते हैं। प्रतिविम्ववादके विषयमें प्रथम शङ्का यह होती है कि संसारमें देखा जाता है कि आकारवान् वस्तुका ही प्रतिविम्व होता है। दर्पणमें मुखका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है इसका कारण यह है कि मुख आकारवान् वस्तु है। नीरूप वस्तुका प्रतिविम्ब नहीं है। आत्मा नीरूप है इसलिये अन्तःकरण पर आत्माका प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता है। इस शङ्काके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि रूपवान् द्रव्य प्रत्यक्षगोचर होता है इसलिये उसका प्रतिविम्ब भी प्रत्यक्षगोचर नहीं हो सकता, इसलिये नीरूप द्रव्यका प्रतिविम्ब होता ही नहीं ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं, क्योंकि वस्तुके अस्तित्वके प्रति केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण नहीं है। अप्रत्यक्ष होने पर भी प्रमाणान्तरसिद्ध होनेके कारण जिस प्रकार नीरूप द्रव्यका अस्तित्व स्वीकार किया गया है, उसी प्रकार अप्रत्यक्ष होने पर भी श्रुत्यादिप्रमाणसिद्ध होनेके कारण आत्माका प्रतिविम्ब भी स्वीकरणीय है। द्वितीयतः नीरूपद्रव्यमात्रका ही प्रतिविम्ब नहीं होता इस प्रकार कल्पना करना ठीक नहीं है; क्योंकि अनेक नीरूप द्रव्यका भी प्रतिविम्ब देखा जाता है। यथा—शब्द नीरूप है; परन्तु शब्दका प्रतिबिम्ब होता है। रूपवान् वस्तुका प्रतिरूप जिस प्रकार प्रतिबिम्ब है, उसी प्रकार ध्वनिका प्रतिरूप प्रतिध्वनि भी ध्वनिका प्रतिबिम्ब है। ध्वनि

बिम्ब है और प्रतिध्वनि प्रतिबिम्ब है। रूपादिका प्रतिबिम्ब द्रष्टव्य होनेके कारण जिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष है, शब्दका प्रतिबिम्ब श्रोतव्य होनेके कारण उस प्रकार श्रावण प्रत्यक्ष है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि नीरूप द्रव्यका भी प्रतिबिम्ब होता है। इस प्रकार आकाशके नीरूप होने पर भी उसका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ता है, अतः नीरूप शब्द और आकाशके प्रतिबिम्बकी तरह नीरूप आत्माका भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ सकता है इसमें सन्देह नहीं है। प्रतिबिम्बवादके विषयमें दूसरी शङ्का होती है कि आत्मा जब सर्वव्यापी है तो अन्तःकरणमें भी आत्मा पहलेसे ही विद्यमान है। अतः अन्तःकरणमें आत्माका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकता है; क्योंकि जिस पर जिस वस्तुका प्रतिबिम्ब पड़ेगा उन दोनोंके बीचमें व्यवधान न होनेसे प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता है। आत्मा और अन्तःकरणके बीचमें कोई व्यवधान नहीं है। इस शङ्काके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि यह कोई अवश्यम्भावी नियम नहीं है कि जिसका जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ेगा उन दोनोंके बीचमें व्यवधान रहनाही चाहिये; क्योंकि इस नियमका व्यभिचार भी देखनेमें आता है। यथा–जिस जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब पड़ता है, आकाशके सर्वव्यापी होनेके कारण पहलेसे ही उस जलमें आकाश विद्यमान था, तथापि उस जलमें आकाशका प्रतिबिम्ब देखनेमें आया। अतः व्यवधानकी कल्पना ठीक नहीं है। कोई-कोई कहते हैं कि जलमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह आकाशका नहीं है, परन्तु आकाशमें व्याप्त सौरकिरणराशिका है। ऐसी शङ्का करनेवालोंको समझना चाहिये कि सौरकिरणजाल आकाशमें सर्वत्र ही व्याप्त रहता है। इसलिये यदि सूर्य्य-किरणमात्रका ही प्रतिबिम्ब होता तो दूरस्थ विशाल आकाशके ही प्रतिबिम्बदर्शनका कोई कारण न था और विशाल कटाहके मध्यभागकी तरह प्रतिबिम्ब नहीं दीखता। अतः जलमें जो प्रतिबिम्ब दीखता है वह आकाशका ही प्रतिबिम्ब है। अतः सिद्ध हुआ कि जिस प्रकार नीरूप और व्यापक आकाशका प्रतिबिम्ब जलमें पड़ सकता है इसी प्रकार नीरूप और व्यापक आत्माका का भी प्रतिबिम्ब अन्तःकरण पर पड़ सकता है और वही अन्तःकरण प्रतिबिम्बित चैतन्य जीवात्मा है।

इस प्रकारसे अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवादके सिद्धान्तोंको लेकर अनेक वादानुवाद तथा जल्पवितण्डाकी भी अवतारणा की जाती है जिसके फलसे अनेक परस्पर विरोधी साम्प्रदायिक मतोंकी भी सृष्टि हो गई है। अतः नीचे इन दोनों मतवादोंका समन्वय तथा समाधान करते हुए जीवात्माका वास्तविक तत्त्व-निरूपण किया जाता है। जीवभावके विकासके समय पुरुष और प्रकृतिका जिस प्रकार सम्बन्ध हो जाता है उस पर अन्तर्दृष्टिकी सहायतासे संयम कर देखनेसे यही सिद्धान्त निश्चय होता है कि वास्तवमें वेदान्तदर्शनोक्त प्रतिबिम्ब और अव-च्छिन्नवाद दो पृथक्-पृथक् मत नहीं हैं परन्तु अविद्यासम्पर्कित जीवात्माके विद्या-राज्यकी ओर अग्रसर होनेकी दो क्रमोन्नत अवस्थामात्र हैं। अन्तःकरण द्वारा जीवात्मा-की प्रथम विकासदशामें आत्मज्योति अविद्यान्धकारप्रगाढ़ताके कारण इतनी तरलरूपसे प्रतिफलित होने लगती है कि उसे चिदाभास या चित्प्रतिबिम्बके सिवाय और कुछ भी नहीं कह सकते हैं; और वही आत्मज्योति प्रकृतिराज्यमें जीवकी उन्नतिके

साथ-साथ अविद्यान्धकारनिर्मुक्त होकर अपनी ज्ञानमयी और प्रभामयी छटाको इस प्रकारसे दिखाने लगती है कि व्यापक चिन्मय स्वरूपके साथ उसके अंशांशि-भावका प्रत्यक्ष अनुभव ज्ञानराज्यमें विचारशील साधकजनोंको सदा ही होने लगता है। अतः प्रतिबिम्बवाद और अवच्छिन्नवाद पृथक् पृथक् मत नहीं है, परन्तु जीवात्माके क्रमोन्नतिमार्गमें परिदृश्यमान दो अवस्थामात्र हैं। इसके सिवाय प्रतिबिम्ब शब्दके ऊपर जो इतना झगड़ा किया जाता है कि निराकार और व्यापक वस्तुका प्रतिबिम्ब कैसे हो सकता है? यह भी सर्वथा अज्ञानमूलक वृथा झगड़ा है; क्योंकि मन-वाणीसे अगोचर वस्तुको लौकिक शब्द और लौकिक दृष्टान्तके द्वारा समझाते समय दृष्टान्त और दार्ष्टान्तकी सर्वाङ्गीण एकता कभी नहीं देखनी चाहिये। क्योंकि लौकिक संसारमें ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं है जिसके द्वारा अलौकिक आत्माके यथार्थ स्वरूपको समझाया जा सकता है। अन्तःकरणके ऊपर व्यापक तथा नीरूप आत्माकी जो सत्ता प्रतिफलित होती है उसको ठीक-ठीक लौकिक रीतिसे प्रतिबिम्ब नहीं कह सकते हैं, केवल इतना ही कह सकते हैं कि अन्तःकरण पर जिस प्रकारसे चित्सत्ता का विकाश होता है उसे यदि लौकिक दृष्टान्त तथा शब्द द्वारा कहा जायगा तो लौकिक जगत्का 'प्रतिबिम्ब' शब्द तथा शब्दद्योत्यभाव ही कथञ्चित् उस अलौकिक सत्ताके भावको प्रकट कर सकता है। यही महर्षिगणके द्वारा प्रतिबिम्ब कहनेका वास्तविक तात्पर्य है। इस प्रकारसे अनुभवगम्य विचार द्वारा प्रतिबिम्बवाद तथा अवच्छिन्नवादका सिद्धान्त निर्णय करनेसे कोई भी साम्प्रदायिक विरोध तथा मतवादकी सम्भावना नहीं रहेगी और जीवात्माके विषयमें सम्यक् ज्ञान प्राप्त होकर अविद्यान्धकारसे जीवकी मुक्ति हो सकेगी। अब नीचे जीवभावके विकाशका विज्ञान बताकर उल्लिखित मतवादोंका समन्वय तथा समाधान किया जाता है।

अनादि अनन्त सृष्टिप्रवाहके भीतर जीवभावका विकाश एक अलौकिक वस्तु है जिसको प्रकृतिके अन्तर्राज्यमें विचरणशील धीर योगी ही समझ सकते हैं। महाप्रलयके अनन्तर ब्रह्माण्डसृष्टिके समय जो सनक, सनन्दन और सप्तर्षिक्रमसे जीवकी सृष्टि हुई है वह जीवकी नयी सृष्टि नहीं है, परन्तु महाप्रलयके गर्भमें पूर्वकल्पमें विलीन जीवोंका पुनर्जन्ममात्र है। परन्तु अनादि अनन्त महाप्रकृतिकी सृष्टिधारामें जो जीवकी उत्पत्ति होती है वह एक अलौकिक नयी वस्तु है जिसके लिये श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है:—

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

क्षयविनाशविहीन अखिलभूतनिदान परमब्रह्म ही अक्षर पुरुष हैं। उनके ऊपर नित्या परिणाममयी महाप्रकृतिकी जो अनादि अनन्त सृष्टिलीला का स्वाभाविक विस्तार है वही अध्यात्म है और उसी नित्या आध्यात्मिक सृष्टिलीलाके बीचमें एक एक व्यष्टिजीवकेन्द्रकी उत्पत्तिके लिये जो नित्यप्रवाहमें नैमित्तिक परिणाम है उसीका नाम कर्म है। जिस प्रकार सच्चिदानन्दमय कारणब्रह्म अनादि

अनन्त विराट् देह त्रिभावात्मक और त्रिगुणात्मक होने पर भी प्रवाहरूपसे अनादि और अनन्त है। त्रिभाव और त्रिगुणके कारण उस आद्यन्तरहित सृष्टिप्रवाहमें प्रकृति के स्वभावका जो विसर्ग है वही जीवोत्पत्तिका कारण है।

"अहं ममेतिवत्"

ब्रह्मकी नाई ब्रह्मकी शक्ति साम्यावस्थामें अविकार और एकरूप रहती है। परन्तु प्रकृतिके स्वाभाविक विलासके अनुसार ब्रह्मके सद्भाव और चिद्भावकी पृथक्तासे जब आनन्दकभावका विकाश हो जाता है उसी समय द्वैतभावके अनुभवके साथ ही साथ प्रकृतिकी साम्यावस्थामें जो वैषम्य उत्पन्न होता है उसीको प्रकृतिके स्वभावका विसर्ग समझना उचित है। प्रकृतिकी इसी दशाके साथ जीवोत्पत्तिविज्ञानका सम्बन्ध है। अब अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिधाराके बीचमें इस प्रकार जीवकेन्द्रका विकाश कैसे होता है सो विचार करने योग्य है। मायातीत, गुणरहित, क्रियाहीन, निर्विकार ब्रह्मभावमें सत्, चित् और आनन्दसत्ता एकरसमयसत्तामें लवलीन रहती है। उस समय सृष्टिविलासका कोई चिह्न मात्र भी नहीं रहता है। परन्तु जिस भावमें महेश्वर मायी हैं अर्थात् मायाके अधिष्ठाता हैं और अनादि अनन्त प्रकृति माया मायी महेश्वरके सामने अपने अपूर्व लीलाविलासको बताती हैं वहाँ पर सत्, और आनन्दसत्ता एकरसतामें लवलीन न होकर पृथक् पृथक् विलासको प्राप्त करती है। उस भावमें सत्का विलास चित्के आश्रयसे अनादि अनन्त सृष्टिके रूपमें और चित्का विलास सत्के अवलम्बनसे कार्यब्रह्मरूपी विराट्के भीतरसे हुआ करता है और आनन्दका विलास सत् और चित् दोनोंमें ओतप्रोत होकर दोनोंके आश्रयसे हुआ करता है। स्वाभाविक अनादि अनन्त अध्यात्म सृष्टिधाराका विलास इसी भावमें होता है। यह भाव नित्य है इसलिये आध्यात्मिक सृष्टि भी नित्य है। इसी नित्या स्वाभाविक आध्यात्मिक सृष्टिमें अनन्तकोटि ग्रहउपग्रहसमन्वित अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड शोभायमान हैं। इनका न तो प्रलय है और न नाश है। प्रलय इस सृष्टिधाराके बीचमेंसे एक-एक ब्रह्माण्डका हुआ करता है जिसको महाप्रलय कहते हैं। महामाया कारणब्रह्म महेश्वरकी वही महाशक्ति है जो महेश्वरके सत्भावको आश्रय करके इस प्रकार अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिलीलाको दिखाया करती है। इस सृष्टिमें महामाया और महेश्वरमें कोई पारस्परिक बंधन नहीं है। दोनों ही स्वाभाविक रूपसे एक दूसरेके आश्रयसे जगज्जन्मादि कारण अपने-अपने अलौकिक भावको प्रकट करते हैं। साधनाके अन्तमें राजयोगी जब इन दोनों भावोंको एक अद्वितीय भावमें मिलाकर अनुभव कर सकते हैं तभी उनकी मुक्ति होती है। तभी वे महाप्रकृतिके प्रवाहमें अपनेको प्रवाहपतित रूपसे डालकर अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्दको प्राप्त कर सकते हैं। इसी दशामें जीवन्मुक्त महापुरुषका विदेहलय होता है। इसीको ब्रह्मसद्भाव, कैवल्य, निर्वाण आदि नामसे शास्त्रोंने अभिहित किया है। इसी मुक्त दशाप्राप्त जीवकी प्रकृति तब शान्त हो जाती है, अर्थात् उसके अंशकी प्रकृति तब उसको छोड़कर महाप्रकृतिके विराट्स्वरूपमें मिल जाती है। इसी दशाको लक्ष्य करके

वेदान्तदर्शनने मायाको अनादि और सान्त प्रतिपादित किया है। अब इस अनादि अनन्त नित्य अध्यात्म स्वाभाविक सृष्टिधाराके बीचमें एक एक व्यष्टि जीवकेन्द्रका विकास कैसे होता है सो बताया जाता है। मीमांसादर्शनमें जीव-भावके विकासके विषयमें कहा गया है कि:—

"चिज्जडग्रन्थिर्जीवः'
"तद्भेदनादुभयविमुक्तिः"

चित् और जड़की जो ग्रन्थि है उसीको जीव कहते हैं इस ग्रन्थिके भेद हो जानेसे चित् और जड़ दोनोंकी ही मुक्ति हो जाती है। चित् और जड़में यह ग्रन्थि कब और कैसे होती है इसका निर्णय होना चाहिये। यह बात पहले ही कही गई है कि ब्रह्मशक्तिरूपिणी जड़माया कारणब्रह्मके सद्भावके आश्रयसे अपने लीला-विलासको बताती है। इस लीलाविलासके बताते समय परिणामिनी प्रकृतिमें दो धाराएँ चलती हैं। एक सत्से चित्की ओर और दूसरी चित्से सत्की ओर अर्थात् एक जड़से चेतनकी ओर और दूसरी चेतनसे जड़की ओर। एक सामान्य दृष्टान्तके द्वारा इसको ऐसा समझ सकते हैं कि यदि कोई वृक्ष मर जाय तो उसके अन्तर्गत चेतन अंशका क्या होगा? वह अंश क्रमोन्नतिको प्राप्त हुआ क्रमशः अन्यान्य वृक्षयोनिके भीतरसे ऊपर जायगा। तदनन्तर वृक्षयोनिको समाप्त करके स्वेदज, अण्डज और जरायुज योनिक्रमसे उन्नत होता हुआ अन्तमें वह मनुष्ययोनिको प्राप्त करेगा और मनुष्य योनिमें भी उन्नति करते-करते चरम उन्नति उसकी यह होगी कि वह चेतन अंश प्रकृतिकी अन्तिम सीमापर पहुँच कर प्रकृतिसे अतीत निर्गुण ब्रह्मभावमें मिल जायगा, जहाँपर पुनः उसमें उन्नति या अवनति-मूलक कोई भी परिणाम नहीं हो सकेगा, अर्थात् वह चेतन-मुक्त हो जायगा। यही प्रकृतिराज्यमें जड़से चेतनकी ओर अग्रसर होनेकी धारा है; परन्तु चेतनसे जड़की ओर जो धारा चलती है वह इस प्रकार नहीं है। इसको वृक्षके दृष्टान्तपर इस प्रकारसे समझ सकते हैं कि वृक्षके मर जाने पर यद्यपि उसमेंका चेतन अंश ऊपरकी ओर क्रमोन्नति करता रहेगा तथापि उसका पञ्चभूतमय जड़ प्राकृतिक अंश ऊपर नहीं जा सकेगा। वह क्रमशः आणविक विकर्षणक्रियाके अधीन होकर नीचेकी ओर अर्थात् प्रकृतिके जड़ भावकी ओर ही गिरता जायगा, अर्थात् सूखे वृक्षके पत्ते और काष्ठ आदिके परमाणु परिणामको प्राप्त होकर मिट्टी, पत्थर आदिमें परिणत हो जायँगे। प्रकृतिके चेतन भावकी ओर तो एक सीमा है जिससे चेतन अंश क्रमशः प्रकृतिके सात्त्विकराज्यकी ओर अग्रसर होता हुआ अन्तमें प्रकृति-राज्यको छोड़कर ब्रह्ममें मिल सकता है; परन्तु प्रकृतिके जड़ राज्यकी ओर अग्रसर होती हुई अन्तमें प्रकृतिकी पूर्ण तामसिक सीमा पर पहुँच जायगी वहाँ उस धाराकी गति कहाँ होगी? वहाँ वह धारा तमोगुणकी शेष सीमातक पहुँचकर आगे जानेका रास्ता न पाकर जिस प्रकार समुद्रका तरंग तटभूमि तक पहुँचकर पुनः समुद्रकी ओर ही बगदता है उसी प्रकार जड़से चेतनकी ओर या तमोगुणराज्यसे रजोगुणराज्यकी ओर ही लौट आवेगा। इस प्रकारसे जब प्रकृतिके सद्भावकी धारा

चिद्भावकी ओर अर्थात् जड़भावकी ओर अग्रसर होने लगती है उस समय उस जड़भाव या अविद्याभावके भीतरसे चिद्भावकी ज्योति प्रतिफलित होने लगती है। वही अविद्यामें प्रतिफलित अति क्षीण चित्सत्ताकी ज्योति या प्रतिबिम्बरूप जीवात्मा है जिसके साथ अहंभावका सम्बन्ध हो जाता है। इस अवस्थाको समझानेके लिये और कुछ कहनेकी आवश्यकता है। यह संसार त्रिगुणात्मक है। जड़ और चेतनकी दो धाराओंके साथ स्वभावतः तम और सत्त्वगुणका सम्बन्ध है। मुक्तात्मा जीवन्मुक्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णता और मिट्टी, पत्थर आदिमें तमोगुणकी पूर्णताका उदाहरण समझने योग्य है। सत्त्वगुणका लक्षण प्रकाश है। इस कारण सत्त्वगुणके परिणाममें आत्माके स्वरूपका प्रकाश होना स्वाभाविक है; परन्तु तमःमें अज्ञानका सम्बन्ध रहनेके कारण जड़भावमें जब विरुद्ध परिणाम होगा, उस अवस्थामें तमोगुणमें अपेक्षाकृत सत्त्वगुणके उदयके साथ ही साथ चिद्भावका विकास होना स्वतःसिद्ध है; अर्थात् पूर्ण जड़में जब विरुद्ध परिणाम उत्पन्न हुआ उसमें जैसा-जैसा सत्त्वगुण विकासका अवसर मिलता गया वैसा-वैसा ही चिदंशका प्रकाश प्रतिफलित होता जायगा। चिदंशके प्रथम विकासके साथ ही साथ चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होगी, जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश सकल स्थानोंमें रहने पर भी मलिनदर्पणमें सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं जम सकता है; परन्तु उसी दर्पणकी मलिनता जितनी जितनी दूर होती जाती है सूर्यका प्रतिबिम्ब भी दर्पणमें उतना ही उतना भासमान होता जाता है; ठीक उसी प्रकार आत्मचैतन्यका विकाश जड़चेतनात्मक समस्त विश्वके सर्वत्र होने पर भी प्राकृतिक जड़भावकी पूर्णसीमामें आत्मचैतन्यका विकाश देखनेमें नहीं आता है, परन्तु प्राकृतिक प्रवाहकी स्वाभाविक गतिके अनुसार जब जड़भावकी गति तमोगुणसे ऊपरकी ओर या सत्‌से चित्‌की ओर होने लगती है तभी सत्‌के ऊपर चित्‌का प्रतिबिम्ब भासमान होने लगता है। यही मीमांसादर्शनकथित चित् और जड़के ग्रन्थिरूप जीव भावका विकाश है। जिस प्रकार अग्निमें पूर्ण दाहिकाशक्ति रहने पर भी भस्माच्छादित अग्निके द्वारा उस प्रकार दहन कार्य्य नहीं हो सकता है ठीक उसी प्रकार आत्मामें पूर्ण ज्ञान और पूर्ण शक्ति रहने पर भी जड़के साथ ग्रन्थि द्वारा अविद्यान्धकाराच्छन्न क्षीण विकाशयुक्त आत्मामें परमात्माका वह पूर्णज्ञान विकाश प्राप्त न होकर प्रच्छन्न हो जाता है। इसीसे अविद्योपहित चैतन्य जीवात्मा अपने ज्ञानमय यथार्थ स्वरूपको भूलकर प्रकृतिसम्पर्क द्वारा बद्ध हो प्राकृतिक सुख-दुःख मोहात्मक समस्त भावोंके साथ अपनेको भावित करके संसार में औपचारिक बन्धनको प्राप्त हो जाते हैं। यही जड़के साथ ग्रन्थि द्वारा चित्‌की स्वरूपविस्मृति और बन्धनका कारण है। इसी कारण वेदान्तदर्शनने अविद्याको भी अनादि और सान्त कहा है। किसी चक्रके आवर्तनके समय हम लोग देखते हैं कि उस आवर्त्तनमें सदा ही दो गति रहा करती हैं; अर्थात् चक्रका एक अंश जब ऊपरको जाता है तो उसी समय दूसरा अंश नीचेको जाता है और जब दूसरा अंश ऊपरको जाता है तो प्रथम अंश नीचेको जाता है। ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति भी चक्रावर्त्तकी तरह है, इसलिये इसमें सत्‌से चित्‌की ओर और चित्‌से सत्‌की ओरकी गति प्रतिनियत

स्वाभाविक रूपसे होती रहती है और इसी सत्‌से चित्‌की ओरकी गतिमें जीवभावका अनन्त विकाश होता रहता है। इसीसे जीवधारा प्रवाहरूपसे अनादि अनन्त और स्वाभाविक है। जिसको गीतामें :—

"स्वभावोऽध्यात्म उच्यते"

ऐसा कहा है। परन्तु एक एक जीवका केन्द्र प्रकृतिकी सीमापर जाकर चित्‌में विलय होनेसे व्यष्टि जीवधारा सादि सान्त है और इसलिये आध्यात्मिक सृष्टि नित्य होनेपर भी एक एक जीवकी मुक्ति हो सकती है। यथा—कर्ममीमांसादर्शनमें :—

"तस्मादनाद्यनन्ता जीवधारा"

"सादिसान्तत्वात्संस्कारस्य तन्मुक्तिः"

अध्यात्म सृष्टिमें जीवधारा अनादि अनन्त है; परन्तु व्यष्टि सृष्टिमें जीव-संस्कारके सादि सान्त होनेसे जीवमुक्ति होती है।

ऊपर लिखित विज्ञानके द्वारा यह सिद्ध हुआ कि तमोभावकी अन्तिम सीमासे जब प्रकृतिका प्रथम परिणाम होता है उस समय अविद्याविजड़ित क्रमोद्‌र्ध्वगतिशील प्रकृतिमें जो चित्‌सत्ताके आभासका उदय होता है वही जीवात्मा है। वह आभास अविद्याच्छन्न होनेसे अपने यथार्थ स्वरूपको प्रकट नहीं कर सकता है, इसलिये उनका नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव प्रच्छन्न होकर प्रकृतिसम्पन्नजनित बन्धनभावका समावेश उनमें हो जाता है। प्रकृति अपनी क्रमोन्नतिशील गतिके अनुसार अविद्याराज्यसे विद्याराज्यकी ओर जितनी अग्रसर होती जाती है प्रकृतिप्रतिबिम्बित वह चेतनसत्ता भी उतनी ही अविद्या-मेघनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूपके ज्ञानको प्राप्त करती जाती है। यही प्रकृतिप्रवाहमें जीवक्रमोन्नतिकी धारा है। इस प्रकार प्रकृतिकी ऊद्‌र्ध्वगतिके साथ अपने यथार्थ स्वरूपका ज्ञानलाभ करते-करते जब प्रकृति अपने सात्त्विकप्रवाहके अन्तमें पहुँचकर चित्‌सत्तामें लय हो जाती है, उस समय पूर्णरूपसे प्रकृतिके आवरणसे निर्मुक्त जीवात्मा भी अपने पूर्ण स्वरूपको अनुभव कर लेता है और उसी समय उसको यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि वह नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव है और निर्विकार पूर्णज्ञानमय सच्चिदानन्दसे उसका कोई भी भेद नहीं है। जो कुछ भेदका भाव उसके भीतर अब तक था, सो केवल प्रकृतिके द्वारा ज्ञानके आवृत रहनेसे भ्रान्तिमूलक ही था। उसी समय जीव अपने यथार्थ स्वरूपको पहचान कर कह सकता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ। 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंकी चरि-तार्थता जीव निजभावमें उसी समय कर सकता है। अब इस विचारके साथ अवच्छिन्नवाद वा प्रतिबिम्बवादका सिद्धान्त मिलानेसे यह बात स्पष्ट होगी कि उक्त दोनों वाद एक ही हैं, दोनोंमें कोई भिन्नता नहीं है। केवल प्रतिबिम्बवादिगण आत्माके अविद्यासम्वलित अतः ब्रह्मभावविहीन बद्ध स्वरूपकी ओर लक्ष्य करके जीवको ब्रह्मसे पृथक् कहते हैं और अवच्छिन्नवादिगण आत्माके उन्नतिशील स्वरूपकी ओरके शुद्ध भावको लक्ष्य करके जीवको ब्रह्मका ही अंश कहते हैं। दोनों वादोंमें भेद केवल आत्माके प्रकाशतारतम्यजनित अवस्थाभेदकी ओर

भिन्न-भिन्न प्रकार दृष्टिभेद द्वारा संघटित हुआ है। वास्तवमें दोनों वादोंके भीतर कोई भेद नहीं है। अविद्यामयी प्रकृतिके द्वारा आत्माका जो प्रथम विकास होता है उसमें भस्माच्छादित अग्निकी तरह यद्यपि ब्रह्मभावका कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है तथापि आत्माकी यह विकशित सत्ता तो ब्रह्मसत्तासे पृथक् कोई वस्तु नहीं है; अतः अवच्छिन्नवादिगण जो उसे ब्रह्मका अंश कहते हैं उसमें कोई भी भ्रान्ति नहीं है। अन्य पक्षमें अविद्याविलसित आत्मामें ब्रह्मका कोई भी गुण न देखकर प्रतिबिम्बवादिगण जो जीवको ब्रह्मसे पृथक् बताते हैं वह जीवकी उस अवनत अवस्थाके विचारसे ठीक ही है। अतः दोनों वाद ही ठीक हैं। दोनोंके द्वारा केवल आत्माके अविद्याके ओरकी और स्वरूपके ओरकी दो अवस्था पर दृष्टि डाली गई है, वास्तवमें दोनों एक ही हैं। अतः अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवादका समाधान तथा समन्वय उक्त विचारके द्वारा स्पष्ट सिद्ध हुआ। दयामयी श्रुतिने इन दोनों भावोंको प्रकट करनेके लिये सुन्दर मन्त्र कहे हैं। यथा—कठश्रुतिमें:—

ऋतं पिबन्तो सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥

इस शरीरमें दो चेतनसत्ता हैं, उनमेंसे एक स्वकृतकर्मोंका फमभोग कराती है और दूसरी कर्मफलोंका भोग कराती है। दोनों ही हृदयाकाशमें बुद्धिगुहामें प्रविष्ट हैं। उनमेंसे एक संसारी और दूसरा असंसारी है। ब्रह्मवेत्तागण और गृहस्थगण उन दोनोंको छाया और आतपकी तरह परस्पर विभिन्न कहते हैं। इस मन्त्रके द्वारा जीवात्माके साथ ब्रह्मका अविद्याग्रस्त दशामें जो पार्थक्य रहता है सो बताया गया है। इसी प्रकार मुण्डकोपनिषद्में लिखा है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वादु अत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः, अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानमिति वीतशोकः॥

दो सुन्दर पक्षी एक ही वृक्षमें अधिष्ठित हैं। वे दोनों परस्परके सखा हैं। उनमेंसे एक सुस्वादु फल खाता है और दूसरा नहीं खाकर केवल बैठे-बैठे देखता है। एक ही वृक्षमें पुरुष अर्थात् जीव निमग्न होकर ब्रह्मभावके अभावसे मोहाच्छन्न होकर शोक करता है परन्तु जिस समय दूसरे अर्थात् ब्रह्मको देखता है उस समय उनकी महिमाको जानकर शोकातीत पदको प्राप्त करता है। इस श्रुतिमें जीव और ब्रह्मको परस्पर सखा कहकर दोनों की एकजातीयता प्रतिपादन की गई है; परन्तु जब तक अविद्यान्धकार द्वारा जीवका शिवत्व प्रच्छन्न रहता है तब तक उसे बन्धन प्राप्त रहता है और वह अपनेको ब्रह्मसे भिन्न समझता हुआ शोकार्त रहता है यह भी कहा गया है। जीवका शोकनाश

अर्थात् त्रिविध दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति अपने सखा ब्रह्मसे अपनी अभिन्नताको जानकर ही होती है ऐसा भी इस श्रुतिमें कहा गया है। इसी प्रकार श्वेताश्वतरमें कहा है:—

"ज्ञाज्ञौ द्वौ इशानीशौ"

"अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावात् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"

जीव और ब्रह्ममेंसे एक अज्ञ है दूसरा प्राज्ञ है, एक अनीश है दूसरा ईश है। अनीश आत्मा जीव प्रकृतिके साथ भोक्तृभावके द्वारा बद्ध होता है, परन्तु ब्रह्मको जानकर समस्त मायिक बन्धनसे मुक्त हो जाता है। इस प्रकार से ब्रह्मसत्ताके साथ जीवसत्ताका सत्तारूपेण कुछ भी भेद न रहने पर भी अविद्याविमोहित अवस्थामें जीव और ब्रह्मकी पृथक्ता बताई गई है। यह पृथक्ता जीव जितना ही प्रकृतिकी उन्नतिके साथ-साथ अविद्यानिर्मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्रगट करता जाता है उतनी ही घटती जाती है और अन्तमें जब अविद्या और विद्या दोनोंहीसे जीव पृथक् होकर अपने पूर्णस्वरूपको प्राप्त हो जाता है तब जीव ब्रह्मके साथ अपनी एकताको जानकर सच्चिदानन्दमय पूर्णभावमें अवस्थान कर सकता है। अतः व्यावहारिक दशामें ब्रह्मके साथ जीवका उपाधिभेदजनित पार्थक्य स्वतःसिद्ध है और इसी जीवदशागत पार्थक्य-को समझानेके लिये वेदान्तदर्शनमें कई एक सूत्र भी दिये गये हैं। यथा :—

"इतरव्यपदेशात् हितकारणादिदोषप्रसक्तिः"

"अधिकन्तु भेदनिर्देशात्"

"अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात्"

इनमेंसे प्रथम सूत्र पूर्वपक्षका और अन्य दो सूत्र उत्तर पक्षके हैं। इसलिए प्रथम सूत्रमें यह सन्देह किया गया है कि यदि जीव ब्रह्मसे अभिन्न है तो जीव ही सृष्टिकर्त्ता हुए। सृष्टिकर्त्ताने अपने ही बन्धनागार देहकी सृष्टि क्यों की? निर्मल सृष्टिकर्त्ताने समलदेहमें प्रवेश क्यों किया? यदि प्रवेश ही किया तो दुःखकर वस्तुके बदले सुखकर वस्तुकी सृष्टि उन्होंने क्यों नहीं की? अतः जीवको ब्रह्म कह देनेसे उनमें हितका अकरण और अहितका करण नामक दोष लगता है। इस प्रकार पूर्व पक्षको कहकर उत्तर पक्षके सूत्रोंमें कहा है—"ऐसा नहीं। सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव ब्रह्म, जो जीवसे अधिक है उन्होने ही जगत्की सृष्टि की है, जीव जगत् स्रष्टा नहीं है; क्योंकि जीव उनसे भिन्न है। अतः ब्रह्ममें हिताकरण आदि दोष नहीं लग सकता है।" "जीवसे ईश्वर अधिक हैं; क्योंकि वेदान्त वाक्यके अनुसार वे असंसारी, कर्तृत्वादि संसार-धर्मरहित, अपहतपाप्मा और वेद्य आदि विशेषणसे विशेषित हैं। श्रुतिने भी ब्रह्मको जीवसे अधिक कहा है।" इस प्रकारसे जीवकी बन्धनदशाकी ओर लक्ष्य करके वेदान्तदर्शनने ब्रह्मसे जीवको पृथक् कहा है। ब्रह्म और जीवका यह भेद स्वरूपगत नहीं हैं, उपाधिगत है; क्योंकि अंशी और अंश, बिम्ब और प्रतिबिम्ब, छाया और कायाके बीचमें स्वरूपगत भेद नहीं हो सकता है, केवल उपाधिजनित भेद है। इसलिये इन सूत्रोंके भाष्यमें श्रीभगवान्शंकराचार्यने कहा है:—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यः"
"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"
"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"
"शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढः"

इत्येवं जातीयकः कर्त्तृकर्मादिभेदनिर्देशो जीवादधिकं ब्रह्म दर्शयति। ननु अभेदनिर्देशोऽपि दर्शितः 'तत्त्वमसि' इत्येवं जातीयकः। कथं भेदाभेदौ विरुद्धौ संभवेयाताम्। नैषः दोषः। आकाशघटाकाशन्यायेनोभयसम्भवस्य तत्र तत्र प्रतिष्ठापितत्वात्। अपि च यदा तत्त्वमसीत्येवं जातीयकेन अभेदनिर्देशनाभेदः प्रतिबोधितो भवति अपगतं भवति तदा जीवस्य सांसारिकत्वं ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्।

'आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन करना चाहिये, आत्माके विषयमें अन्वेषण और जिज्ञासा करनी चाहिये' 'हे सोम्य! उस समय जीव ब्रह्मके साथ संयुक्त होता है' 'देही आत्मा अर्थात् जीव, प्राज्ञ आत्मा अर्थात् ब्रह्मके द्वारा संवेष्टित है' इत्यादि वचनोंके द्वारा श्रुतिने कर्त्ता कर्मका भेद निर्देश करके कहीं कहीं ब्रह्मको जीवसे अधिक बताया है। और 'तत्त्वमसि' आदि वाक्योंके द्वारा भी कहीं कहीं अभेद निर्देश किया है। अतः जीव और ब्रह्ममें भिन्न और अभिन्न दो विरुद्धभाव कैसे लग सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार विरुद्धभावका समन्वय होना असम्भव नहीं है क्योंकि जिस प्रकार महाकाश और घटाकाश परस्पर भिन्न भी और अभिन्न भी हैं ऐसे ही जीव और ब्रह्म भी परस्पर भिन्न और अभिन्न हैं। जिस समय 'तत्त्वमसि' आदि अभेद प्रतिपादक उपदेशोंके द्वारा जीव और ब्रह्मकी अभिन्नताकी उपलब्धि हो जाती है उस समय जीवका संसारित्व और ब्रह्मका स्रष्टृत्वभाव नष्ट हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ कि, जीव ब्रह्म स्वरूपतः अभिन्न हैं—उनमें भेद केवल अविद्योपाधिके कारण ही है। वास्तविक दोनोंमें कोई भेद नहीं है। ब्रह्ममें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभाव सुव्यक्त हैं, जीवमें ये तीनों भाव मायाके द्वारा आच्छन्न होनेके कारण अव्यक्त या ईषद्व्यक्त हैं। मायाका आवरण जीवके ऊपरसे ज्ञान द्वारा जितना तिरोहित होता जाता है उतना ही सत्, चित् और आनन्दभाव उसमें व्यक्त होता जाता है और अन्तमें जिस समय मायाका आवरण एकवार ही जीवपरसे तिरोहित हो जाता है उस समय उसका सत्, चित् और आनन्दभाव पूर्ण व्यक्तताको प्राप्त हो जाता है। उसी समय जीव कह सकता है कि 'सोऽहं' 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ। इसलिये श्रुतिने कहा है:—

"ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति"
"ब्रह्म सन् ब्रह्म अप्येति"

और ब्रह्मको जानकर तब ब्रह्म होता है, ब्रह्म होकर तब ब्रह्मको जानता है।

वेदान्तशास्त्रमें आत्माकी जो जाग्रत् , स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय इन चार दशाओंका वर्णन है उनमेंसे जाग्रत्‌दशामें स्थूलप्रकृतिके साथ और स्वप्नदशामें सूक्ष्मप्रकृतिके साथ आत्माका अभिमान सम्बन्ध रहता है, जिसके प्रथम अवस्थामें स्थूल संसारके और द्वितीय अवस्थामें सूक्ष्म संसारके भोक्तारूपसे आत्मा अविद्योपाधि द्वारा ग्रस्त रहते हैं। तुरीयावस्थामें प्रकृतिसम्पर्कको परिहार करके ब्रह्मके साथ मिलकर ब्रह्मभावमें आत्माका अवस्थान होता है जैसा कि इससे पहले कहा गया है। इस प्रकार स्वरूपमें अवस्थितिके बाद आत्माकी प्रकृतिकी ओर पुनरावृत्ति नहीं होती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें स्थूल सूक्ष्म प्रकृतिको छोड़कर प्रतिविम्बभूत जीवका बिम्बभूत ब्रह्मके साथ जो एक भावमें अवस्थान होता है वह नित्य नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिके अनन्तर जाग्रद्दशाके उदय होते ही जीव पुनः संसारकी ओर प्रत्यावर्त्तन करता है। इसीलिये वेदान्तदर्शनमें सूत्र हैः—

"तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च"

"अतः प्रबोधोऽस्मात्"

महर्षि वेदव्यासके ये दो सूत्र श्रुतिसम्मत हैं, यथाः—

"य एषोऽन्तर्हृदये आकाशस्तस्मिन् शेते"—बृहदारण्यके।

"सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति"

"सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे"

"सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं
न विदन्ति अनृतेन हि प्रत्यूढ़ाः"—छान्दोग्ये।

अन्तर्हृदयमें जो आकाश अर्थात् ब्रह्म है उसमें जीव सुप्त होता है। उस समय जीव सत् अर्थात् ब्रह्मके साथ मिलित होता है। सकल जीव इस प्रकारसे प्रतिरात्रि सुषुप्तिमें ब्रह्मलोक प्राप्त कर प्रातःकाल वहाँसे लौट आते हैं। अविद्याकी उपाधिके कारण जीवको इस प्रकार ब्रह्मलोकगमनकी बात स्मरण नहीं पड़ती है। जीवके इस मिलनेके साथ विच्छेद है इसलिये यह मिलन आत्यन्तिक सुखप्रद नहीं है। इसी कारण प्राणसखा निखिलानन्दनिकेतन ब्रह्मके साथ चिरसम्मेलनके लिये जीव सदा ही लालायित रहता है। जब जीवकी यह हार्दिकी इच्छा परिपूर्ण होती है तभी जीव ब्रह्मसे मिलकर ब्रह्मके साथ अपने एकत्वकी साक्षात् उपलब्धि कर सकता है, यथा—वेदान्तदर्शनमें :—

"आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च"

"अहं ब्रह्मास्मि" "अयमात्मा ब्रह्म इत्यादि महावाक्यैस्तत्त्वविद आत्मत्वेनैव ब्रह्म गृह्णन्ति तथा "तत्त्वमसि" इत्यादि महावाक्यै स्वशिष्यान् ग्राहयन्त्यपि।

तत्त्वज्ञानिगण "मैं ब्रह्म हूँ", "यही आत्मा ब्रह्म है" इत्यादि महावाक्यों द्वारा जीव और ब्रह्मकी एकताका अनुभव करते हैं और 'तुम ही ब्रह्म हो' इत्यादि महावाक्य द्वारा शिष्यको जीव और ब्रह्मकी एकताका अनुभव कराते हैं। इस प्रकार अवस्थाकी प्राप्ति जीवको कैसे होती है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् वेदव्यासजीने वेदान्तसूत्रमें लिखा है :—

"पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ"

"देहयोगाद् वा सोऽपि"

इनके भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्यने लिखा है:—

"कस्मात् पुनर्जीवः परमात्मांश एव संतिरस्कृतज्ञानैश्वर्यो भवति? सोऽपि तु ज्ञानैश्वर्यतिरोभावो देहयोगाद्देहेन्द्रियमनोबुद्धिविषयवेदनादि-योगाद्भवति। अस्ति चात्र चोपमा। यथा चाग्नेर्दहनप्रकाशनसंपन्नस्यापि अरणिगतस्य दहनप्रकाशने तिरोहितो भवतो यथा वा भस्माच्छन्नस्य। अतोऽनन्य एवेश्वराज्जीवः सन् देहयोगात्तिरोहितज्ञानैश्वर्यो भवति। तत्पुन-स्तिरोहितं सत् परमेश्वरमभिध्यायतो यतमानस्य जन्तोर्विधूतध्वान्तस्य तिमिरतिरस्कृतेव दृक्शक्तिरौषधवीर्यादीश्वरप्रसादात् संसिद्धस्य कस्यचिदा-विर्भवति न स्वभावत एव सर्वेषां जन्तूनाम्। कुतः? ततो हि ईश्वराद्धेतोरस्य जीवस्य बन्धमोक्षौ भवतः। ईश्वरस्वरूपापरिज्ञानाद्बन्धस्तत्स्वरूपपरिज्ञा-नात्तु मोक्षः।

जीव जब ब्रह्मका अंश है तो उसमें ज्ञानैश्वर्यका अभाव क्यों देखनेमें आता है? देहसम्बन्धवशात्। देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिके साथ संयुक्त होनेसे जीवका ईश्वरभाव तिरोहित हो जाता है, जिस प्रकार काष्ठगत अथवा भस्माच्छादित अग्निमें दहन और प्रकाशशक्ति तिरोहित हो जाती है। इस कारण जीव ईश्वरसे पृथक् न होनेपर भी देहयोगवशात् अनीश्वर भावको प्राप्त हो जाता है। जिस प्रकार तिमिररोगग्रस्त नष्टदृष्टि मनुष्यकी दृष्टिशक्ति औषधिके गुणसे उसको पुनः प्राप्त हो जाती है, बिना आयास प्राप्त नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार तिरोहितशक्ति जीव ब्रह्मके अभिध्यानमें यत्नशील होकर उनके प्रसादसे सिद्धि लाभ करनेपर अपने तिरोहित ऐश्वर्यको पुनः प्राप्त करता है; क्योंकि ईश्वरसे ही जीवका बन्ध-मोक्ष है। ईश्वरस्वरूपके अज्ञानसे बन्ध और ज्ञानसे मोक्ष है। यही जीव और ब्रह्मका औपाधिक प्रभेद, स्वरूपतः एकता, स्वरूपप्राप्तिका उपाय और प्रतिबिम्ब तथा अवच्छिन्नवादका रहस्यपूर्ण समाधान और समन्वय है जिसको ब्रह्मवेत्ता श्रीगुरुदेवसे प्राप्त होनेपर साधक सर्वथा परिच्छिन्न साम्प्रदायिक भावोंसे मुक्त होकर आत्मसाक्षात्कार लाभ कर सकते हैं। उनकी हृदयग्रन्थि भिन्न हो जाती

है, संशयजाल छिन्न हो जाता है और अनादि संस्कारचक्र चिरकालके लिये निरस्त होकर उनको परमधाम प्राप्त हो जाता है।

जीवात्माके स्वरूपकी तरह परिमाणके विषयमें भी अवच्छिन्न और प्रतिबिम्बवाद या अद्वैत और द्वैतवादमें मतभेद पाया जाता है। द्वैतवादिगण—

"नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्न इतराधिकारात्"

इस वेदान्तसूत्रको सिद्धान्तसूत्र मानकर जीवको अणुपरिमाण मानते हैं; परन्तु अद्वैतवादिगण इस सूत्रको पूर्वपक्षीय सूत्र कहकर

"तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्"

इस सूत्रको उत्तरपक्षीय सूत्र मानते हैं और तदनुसार जीवको विभु और महत् परिमाण कहते हैं। इस प्रकारसे दोनों वादोंमें जीवके परिमाणके विषयमें मतभेद पाया जाता है। विचार करने पर सिद्धान्त होगा कि उल्लिखित दोनों मत ही अपनी भूमिपर सत्य हैं। केवल अवच्छिन्न और प्रतिबिम्बवादके अनुसार भूमिका ही भेदमात्र है जिससे एक ही जीवके भूमिभेदानुसार दो प्रकारके परिमाण उपलब्ध होते हैं। वास्तवमें जो वस्तु सूक्ष्म होती है उसका परिमाण-निर्णय नहीं हो सकता है। संसारमें स्थूल वस्तुका ही परिमाण-निरूपण किया जा सकता है। सूक्ष्म वस्तुका यदि परिमाण-निरूपण करना हो तो जिस उपाधिके साथ सूक्ष्मवस्तुका सम्बन्ध हुआ है उस उपाधिके परिमाणके अनुसार परिमाण-निर्णय करना पड़ता है। जीवका स्वरूप भी सूक्ष्म होनेसे जब तक प्रतिबिम्बवादकी भूमिके अनुसार अविद्याके साथ जीवका औपाधिक सम्बन्ध रहेगा अर्थात् आत्माका व्यापक स्वरूप प्रकाशित न होगा तब तक जीवका अनुभव अणुरूपमें ही होगा। इसलिये द्वैतवादिगण जीवको अणुपरिमाण कहते हैं। परन्तु जिस समय अवच्छिन्नवादकी दृष्टिके अनुसार स्वरूपके विचारसे जीवका परिमाण देखा जायगा उस समय आत्माके विभुत्व पर दृष्टि अवश्य पड़ेगी और इसीलिये अद्वैतवादिगण जीवको अणुपरिमाण न मानकर विभु और महत् मानते हैं। इन दोनों भावोंको प्रकट करनेके लिये अनेक श्रुतियाँ मिलती हैं, यथा—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो-
यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा॥

वही अणुपरिमाण आत्मा चित्तके द्वारा ज्ञेय है जिसमें प्राण पञ्चरूपमें प्रतिष्ठित है। आत्मा प्राणोंके द्वारा प्रजाओंके चित्त व्याप्त करते हैं। चित्तके विशुद्ध होनेपर वही अणुपरिमाण अर्थात् जीव विभु होते हैं। इस मन्त्रके पूर्वार्द्धमें प्रतिबिम्बवादके अनुसार चित्तरूप उपाधियुक्त आत्माको अणुपरिमाण कहा गया है और उत्तरार्द्धमें अवच्छिन्नवादके अनुसार अविद्योपाधिनिर्मुक्त आत्माको विभु

कहा गया है। इसी तरह उपाधिके अनुसार सूक्ष्म आत्माका परिमाण निर्देश किया जाता है। श्रीभगवान् वेदव्यासके स्वकीय वेदान्तदर्शनमें जीवका स्थान हृदयमें बताया है। यथाः—

"अभ्युपगमाद्धृदि हि"

हृदयमें ही जीवका स्थान स्वीकृत होता है। इसी सूत्रके अनुसार श्रुतिमें ही जीवको अङ्गुष्ठपरिमाण कहा गया है। यथाः—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति"—कठोपनिषदिमें।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः"

—श्वेताश्वतरे।

शरीरके मध्य अर्थात् हृदयमें अंगुष्ठमात्र पुरुष जीव अवस्थान करता है। वह अन्तरात्मारूपसे सदा समस्त जीवोंके हृदयमें विराजमान है। इन श्रुतियोंमें जीवका परिमाण जो अंगुष्ठमात्र कहा गया है सो जीवका परिमाण नहीं हैं, परन्तु हृदयपुण्डरीकका परिमाण है। हृदयपुण्डरीक, जहाँ पर जीवका स्थान है, उसका परिमाण अंगुष्ठमात्र है इसलिये हृदयउपाधिके सम्बन्धसे जीवको भी श्रुतिने अंगुष्ठमात्र कहा है। यही उपाधिसमन्वित अंगुष्ठमात्र जीवात्मा उपाधिनिर्मुक्त और स्वरूपस्थित होनेपर अपनी व्यापकसत्ताकी उपलब्धि कर सकते हैं जिसके अनुसार जीवको विभु भी कहा जाता है जैसा कि ऊपरकी पहली श्रुतिमें बताया गया है। इसलिये वेदमें आत्माकोः—

"अणोरणीयान् महतो महीयान्"

आत्मा अणुसे भी सूक्ष्म है और महत्से भी महीयान् विभु है इस प्रकारसे वर्णित किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद्में इन दोनों भावोंके ज्ञापक कई एक मन्त्र मिलते हैं। यथाः—

अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकारसमन्वितो यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रोऽह्यवरोऽपि दृष्टः॥
बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः सचानान्त्याय कल्पते॥
नैव स्त्री न पुमानेष न चैवाऽयं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥

सङ्कल्प और अहङ्कारके द्वारा अविद्योपाधियुक्त सूर्यप्रभ जीवात्मा अंगुष्ठ परिमाण है। बुद्धिके गुणके साथ सम्पर्कित जीव आराग्रके सदृश सूक्ष्म है, परन्तु आत्माके गुणके साथ सम्पर्कित जीव अवर अर्थात् परमश्रेष्ठ और महत्परिमाण है। केशके अग्रभागको शतधा विभक्त करके उसके एक भागको भी शतधा विभक्त करने पर जितना सूक्ष्म होता है उतना सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय जीव है, परन्तु वही जीव स्वरूपकी ओर जितना अग्रसर होता जाता है उतनी ही उसकी अनन्तसत्ता विकसित होने लगती है। यही आत्माके उपाधिसमन्वित तथा उपाधिनिर्मुक्त भावोंके अनुसार

दोनों परिमाणोंका वर्णन है। आत्मा स्त्री, पुरुष या नपुंसक किसी लिङ्गसे युक्त नहीं है। जिस-जिस प्रकारके शरीरके साथ उसका संयोग होता है उसी उपाधिके सम्बन्धसे आत्माका स्त्री पुरुषादि औपाधिक भेद निर्देश किया जाता है। यही परिमाणरहित, अतिदुर्ज्ञेय, परम सूक्ष्म जीवात्माके अणु तथा महत् परिमाण-निर्देशका गूढ़ रहस्य है। अतःपर जीवात्माकी प्रकृतिसम्भूत शरीरत्रयोपाधिके विषयमें वर्णन किया जायगा।

जीवभावकी उत्पत्तिके विषयमें नास्तिक और बौद्धमतकी शङ्काओंका कुछ निराकरण इस स्थलपर अवश्य करना चाहिये। नास्तिक मतके अनुसार तत्त्वोंके सम्मेलनसे जीवभावकी उत्पत्ति मानी गई है जिसका निराकरण भली भाँति 'आत्मतत्त्व' नामक अध्यायमें किया गया है। बौद्धमतके अनुसार कोई कोई बौद्धाचार्य्य ऐसा कहते हैं कि प्रकृतिके क्रमपरिणामवादके अनुसार जड़ पदार्थ खनिजादि द्रव्योंमें जीवभावकी उत्पत्ति स्वभावसे होती है। उनका मत यह है कि प्राकृतिक परिणामके अनुसार जड़ मृत्तिका, प्रस्तर आदिसे खनिज पदार्थ आदि बनते समय उसमें अपने आप ही जीवभावकी उत्पत्ति हो जाती है। उनके मतमें अग्निके उष्णत्वादि गुणोंके अनुरूप खनिज पदार्थोंमें जीवत्वगुणका उदय हो जाता है। वह जीवदशा व्यष्टिगत नहीं है, वे ऐसा मानते हैं कि कुम्भमें जलसमष्टिकी तरह खनिजजीव, उद्भिज्जजीव, अण्डजजीव आदि एक समष्टि आकारमें रहते हैं और जैसा-जैसा जीवका जीवत्व प्रकट होता है अर्थात् जैसे-जैसे खनिज, उद्भिज आदि जीव अपने स्थूलशरीरको धारण करके प्रकट होते हैं वे अलग-अलग बन जाते हैं और उनकी मृत्यु होनेपर अर्थात् उनके पिण्डके नाशके साथही साथ उनका जीवत्व पुनः अपने पूर्व समष्टिभावमें पहुँच जाता है। इसीको वे समष्टि आत्मा (Group Soul) नामसे अभिहित करते हैं; परन्तु ये सब सिद्धान्त श्रीभगवान्के अधिदैव रहस्यके न जाननेसे ही अज्ञानके प्रभावसे प्रकट हुए हैं। आत्मतत्त्व नामक अध्यायमें हम दिखा चुके हैं कि बौद्धाचार्यगण श्रीभगवान्के अधिदैव रहस्यको नहीं समझ सके थे। इसी कारण न तो जड़ और चेतन राज्यके चलानेवाले दैवराज्यका उनको पूरा पता लग सका था और न जीवतत्त्वका रहस्य वे ठीक-ठीक समझ सके थे। जीवतत्त्वके समझनेके लिये सबसे पहिले यह जानना उचित है कि जिस प्रकार श्रीभगवान् अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत भावत्रयरूपी ब्रह्म ईश विराट् रूपमें विद्यमान हैं उसी प्रकार जीवभाव भी स्थूलसूक्ष्मकारणरूपी शरीरत्रयसे प्रकट है। जिस समयसे जीवभावकी उत्पत्ति होती है उसी समयसे तीनों शरीरका सम्बन्ध उसके साथ लग जाता है। केवल समय-समय पर स्थूलशरीरका परिवर्त्तन हुआ करता है और स्थूल शरीरका परिवर्त्तन करते-करते त्रिशरीरयुक्त जीव क्रमशः आत्मास्वरूपकी ओर अग्रसर होता है। अतः तीनों शरीरके बिना जीवका जीवत्व सिद्ध नहीं हो सकता। जीवके साथ तीनों शरीर विद्यमान रहते हैं इसी कारण पञ्चकोष भी उसके साथ प्रथम अवस्थासे अन्तिम अवस्था तक बने रहते हैं। तीनों शरीरोंके साथ पञ्चकोषका किस प्रकार सम्बन्ध है सो आगे वर्णन करेंगे। अतः तीनों शरीर और पाँचों कोषके

बिना जीवका जीवत्व सिद्ध नहीं हो सकता। खनिज पदार्थ आदि जड़ पदार्थोंमें तीनों शरीर और पञ्चकोषकी असम्भावना होनेसे उनमें जीवत्वदशाकी सिद्धि हो ही नहीं सकती; परन्तु आत्माकी व्यापकताके हेतु साधारण चेतनसत्ता तो मिट्टी, पत्थर और खनिज पदार्थ आदि सबमें विद्यमान अवश्य ही रहती है और प्रत्येक जड़ पदार्थमें अधिदैव सत्ताका भी सम्बन्ध रहेगा, इसमें भी सन्देह नहीं है। इसी कारण आर्यशास्त्रोंमें पृथ्वी अभिमानी देवता, प्रस्तराभिमानी देवता, सुवर्ण रौप्यादि खनिज पदार्थोंकी अभिमानिनी देवता आदिका होना सिद्ध किया गया है और व्यष्टिगत पृथक्-पृथक् तीनों शरीर और पञ्चकोषके सिद्ध होनेसे पूर्व-कथित बौद्धमतानुयायी समष्टि आत्माकी सिद्धि नहीं हो सकती। हाँ, मनुष्योंसे इतर प्राणियोंकी प्रत्येक जातिके चलानेवाले एक एक स्वतंत्र-स्वतंत्र देवता कैसे नियत रहते हैं इसका वर्णन हम आगे करेंगे।

जीवात्माके स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीररूपी उपाधित्रयके विषयमें कर्ममीमांसादर्शनमें तीन सूत्र मिलते हैं। यथा:—

"आद्यात् कारणाविर्भावः"
"तन्नैसर्गिकगतिः सूक्ष्महेतुः"
"तत्तीव्रवेगात्स्थूलम्"

कारणशरीर जीवके प्रथम संस्कारसे उत्पन्न है। उसकी स्वाभाविक चेष्टासे सूक्ष्मशरीर साथ ही साथ बन जाता है और सूक्ष्मशरीरके तीव्रवेगहेतु स्थूलशरीर बन जाता है।

अब इन सूत्रोंके भावार्थ क्रमशः नीचे प्रकाशित किये जाते हैं। गुणमयी प्रकृति अविद्यासम्वलित तमोगुणकी अन्तिम सीमासे जब चित्सत्ताकी ओर अग्रसर होने लगती है उस समय प्रकृतिके जिस अविद्याभाव पर चित्प्रतिबिम्बका प्रथम विकाश होता है उसको कारणशरीर कहते हैं। व्यष्टिसृष्टिके अर्थात् पिण्ड-सृष्टिके विकाशार्थ प्रकृतिराज्यमें यही आदि संस्कार है जिससे कारणशरीरका आविर्भाव होता है। यही प्रथम सूत्रका भावार्थ है। पञ्चदशीकारने इस विषयमें लिखा है। यथा:—

अविद्यावशगस्त्वन्यस्तद्वैचित्र्यादनेकधा।
स कारणशरीरं स्यात्प्राज्ञस्तत्राभिमानवान्॥

अविद्यायुक्त प्रकृति जिस पर आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ता है उसीको कारणशरीर कहते हैं। जीव उसी अविद्यामयी प्रकृतिके साथ अभिमान द्वारा संयुक्त होकर अपने शरीरको भूल जाता है और अपनेको प्रकृतिवत् मानने लगता है। यहीं जीवका प्रथम बन्धन प्रारम्भ होता है। कारणशरीरके भलीभाँति समझनेके लिये कई एक आवश्यकीय विषयोंके जाननेकी आवश्यकता है सो नीचे कहे जाते हैं। सच्चिदानन्दमय कारणब्रह्म और ब्रह्मप्रकृतिस्वभावजन्य कार्य्यब्रह्म दोनोंके अनुभवके विषयमें हम पहले ही कह चुके हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त एक तीसरा

अधिकार है जिसको अधिदैव कहते हैं जिसके यथावत् न समझनेसे ही बौद्धाचार्यगण भ्रममें पतित हुए हैं। इस अधिदैव राज्यकी प्रथम अवस्थामें ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्तिका प्रत्येक ब्रह्माण्डमें आविर्भाव तत्पश्चात् अष्टवसु, एकादशरुद्र, द्वादशआदित्य, इन्द्र और प्रजापतिरूपी तैंतीस प्रधान देवताओंका आविर्भाव और तत्पश्चात् अगणित नित्य और नैमित्तिक देवताओंका आविर्भाव माना गया है। यही दैवराज्य वास्तवमें प्रत्येक ब्रह्माण्डका चालक है। इसी दैवराज्यके विभिन्न-विभिन्न प्रतिनिधिरूप देवतागण अपने-अपने निर्दिष्ट अधिकारके अनुसार समष्टिरूपसे और व्यष्टिरूपसे एक परमाणुसे लेकर उस ब्रह्माण्डकी सृष्टिस्थितिलयक्रिया किया करते हैं। न्यायदर्शनअनुमोदित परमाणुवादके अनुसार और सांख्यदर्शनोक्त बहुपुरुषवादके सिद्धान्तानुसार प्रत्येक परमाणुसे भी पूर्वकथित विज्ञानके अनुसार जीवोत्पत्ति स्वतःसिद्ध है। इस परिणामके यथाक्रम चलानेमें देवतागण ही कारण हैं। इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये समझना है कि प्रस्तरसे लेकर सुवर्ण रौप्यादि नाना प्रकारके खनिज पदार्थोंमें जो प्राकृतिक परिणाम उत्पन्न होता है उसके कारण उक्त पदार्थोंके सञ्चालक देवतागण हैं। जैसा समष्टिरूपसे एक गृहाभिमानी देवता, पृथिवी अभिमानिनी देवता अथवा जलाभिमानी देवता तत्तद्भूतोंकी उत्पत्ति स्थिति और लयको यथाक्रम निर्वाह करनेके लिये सदा उद्युक्त रहते हैं। उसी प्रकारसे खनिजादि पदार्थोंमें जो विशेषताके साथ परिणाम देखनेमें आता है, सो उक्त अधिदैव सहायतासे ही हुआ करता है। बौद्धाचार्यगण जो खनिज पदार्थोंमें विभिन्न विशेष-विशेष शक्तियोंके आविर्भाव देखनेसे उनमें जीवत्वका होना मानने लगते हैं सो उसका कारण उनके अधिदैव राज्यसम्बन्धीय ज्ञानका अभाव ही है। हाँ, जबसे उद्भिज्जरूपी जीवपिण्डकी प्रथम अवस्था प्रकट होती है उसी समयसे दैवराज्यका अधिकार और दैवराज्यकी जिम्मेवरी बढ़ जाती है और प्रत्येक जातिके जीवकी रक्षा और सञ्चालन करनेके लिये एक स्वतन्त्र देवता नियुक्त हो जाते हैं। उद्भिज्जकी जितनी जाति और श्रेणियाँ होंगी अर्थात् मनुष्यसे अतिरिक्त चतुर्विध जीवश्रेणीके जितने क्षुद्र विभाग होंगे उनके प्रकृतिवैचित्र्यके हेतु उन सबकी रक्षा करने और यथावत् चलानेके लिये अधिदैवराज्यसे एक स्वतन्त्र देवता नियुक्त हो जाते हैं। इसी अधिदैवराज्यको भलीभाँति न समझनेसे बौद्धाचार्यगण समष्टि आत्माका भ्रममूलक सिद्धान्त मानने लगते हैं। वास्तवमें जिस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारणरूपी त्रिशरीर और अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमयरूप पञ्चकोष मनुष्यमें होते हैं ऐसा ही मनुष्येतर सभी प्राणियोंमें होता है; भेद इतना ही है कि मनुष्यमें त्रिशरीर और पञ्चकोषका पूर्ण विकाश होता है, अन्य प्राणियोंमें उनकी असम्पूर्णता उनके यथावत् अधिकारके अनुसार बनी रहती है। उक्त शरीरों और उक्त कोषोंका क्रमविकाश उद्भिद्से लेकर मनुष्यपर्यन्त किस प्रकारसे होता है सो हम आगे विस्ताररूपसे वर्णन करेंगे। अविद्यामयी प्रकृतिकी विचित्रताके कारण सृष्टिका भी नानाप्रकार वैचित्र्य

है। इस प्रकार कारणशरीरके साथ जीवका सम्बन्ध हो जानेपर जीवमें 'अहन्ताका' उदय होने लगता है जिससे प्रकृतिके अन्यान्य सूक्ष्मविकारके प्रति जीवको लालसा होने लगती है। इस प्रकार स्वाभाविकरूपसे लालसायुक्त संस्कारका उदय होना ही जीवकी सूक्ष्मशरीर-प्राप्तिका कारण है। यही द्वितीय सूत्रका अर्थ है—

"वदन् वाक्"

"शृण्वन् श्रोत्रम्"

जीवमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रियकी उत्पत्ति हुई, सुननेकी इच्छा होनेसे श्रवणेन्द्रियकी उत्पत्ति हुई इत्यादि श्रुतिवचनोंके द्वारा भी उल्लिखित सिद्धान्त प्रमाणित होता है। श्रीमद्भागवतमें विराट्-पुरुषके अभिमान द्वारा जगदुत्पत्ति-वर्णनप्रसङ्गमें इस सिद्धान्तका वर्णन किया गया है। यथा:—

अन्तःशरीर आकाशान् पुरुषस्य विचेष्टतः।
ओजः सहो बलं जज्ञे ततः प्राणो महानसुः॥
प्राणेनाक्षिपतो क्षुत्तृडन्तरा जायते विभोः।
पिपासतो जक्षतश्च प्राङ्मुखं निरभिद्यत॥
मुखतस्तालु निर्भिन्नं जिह्वा तत्रोपजायते।
ततोनानारसो जज्ञे जिह्वया योऽधिगम्यते॥
विवक्षोर्मुखतो भूम्नो वह्निर्वाग्व्याहृतं तयोः।
जले चैतस्य सुचिरं निरोधः समजायत॥
नासिके निरभिद्येतां दोधूयति नभस्वति।
तत्रवायुर्गन्धवहो घ्राणो नसि जिघृक्षतः॥
यदात्मनि निरालोकमात्मानञ्च दिदृक्षतः।
निर्भिन्ने अक्षिणी तस्य ज्योतिश्चक्षुर्गुणग्रहः॥
बोध्यमानस्य ऋषिभिरात्मनस्तज्जिघृक्षतः।
कर्णौ च निरभिद्येतां दिशः श्रोत्रं गुणग्रहः॥
वस्तूनो मृदुकाठिन्यलघुगुर्वोष्णशीतताम्।
जिघृक्षतस्त्वङ् निर्भिन्ना तस्यां रोममहीरुहाः॥
हस्तौ रुरुहतुस्तस्य नाना कर्मचिकीर्षया।
तयोस्तु बलवानिन्द्र आदानमुभयाश्रयम्॥
गतिं जिगीषतः पादौ रुरुहातेऽभिकामिकाम्।
पद्भ्यां यज्ञः स्वयं हव्यं कर्मभिः क्रियते नृभिः॥

निरभिद्यत शिश्नो वै प्रजानन्दामृतार्थिनः ।
उपस्थ आसीत् कामानां प्रियं तदुभयाश्रयम् ॥
उत्सिसृक्षोर्धातुमलं निरभिद्यत वै गुदम् ।
ततः पायुस्ततो मित्र उत्सर्ग उभयाश्रयः ॥
निदिध्यासोरात्ममायां हृदयं निरभिद्यत ।
ततो मनश्चन्द्र इति सङ्कल्पः काम एव च ॥

विराट् पुरुषके साथ मायोपाधिका सम्बन्ध होनेसे महान् अन्तराकाशमें क्रियाशक्तिका स्फुरण होने लगता है जिससे इन्द्रियशक्ति, मनःशक्ति, बल और सूक्ष्म प्राणका विकास होता है। तदनन्तर प्राणके स्पन्दनसे विराट् पुरुषमें क्षुधा-तृष्णाका उदय होनेपर और बुभुक्षाके कारण उनमें मुखकी उत्पत्ति होती है जिससे तालु और नानारसग्राही जिह्वाका पृथक्-पृथक् विकाश हो जाता है। तदनन्तर उनमें बोलनेकी इच्छा होनेसे वागिन्द्रिय और वह्निदेवताका विकाश हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियके विकाशके साथ-साथ इन्द्रियचालक तत्तद् देवताका भी विकाश हो जाता है। प्राणवायुका अत्यन्त सञ्चार तथा गन्धग्रहणकी इच्छासे घ्राणेन्द्रियका विकाश हो जाता है। अन्धकारमय महाप्रलयगर्भसे उत्थानानन्तर उनमें देखनेकी इच्छा होनेसे चक्षुरिन्द्रियका विकाश होता है और शब्दग्रहण तथा मृदु काठिन्यादि ज्ञानके लिये श्रवणेन्द्रिय और त्वगिन्द्रियका विकाश हो जाता है। तदनन्तर विराट् पुरुषमें नानाकर्मकी इच्छा होनेसे पाणीन्द्रिय और तदधिष्ठात्री देवता इन्द्रका विकाश होता है और चलनेकी इच्छा होनेसे पादेन्द्रियका विकाश होकर यज्ञेश्वर विष्णु उसमें अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर प्रजोत्पत्ति और आनन्दकी इच्छा होनेसे उपस्थेन्द्रियका विकाश होता है जिसमें प्रजापति अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर असारांशके त्याग करनेकी इच्छा करनेसे पायु इन्द्रियका विकाश होता है जिसमें मित्र देवता अधिष्ठान करते हैं। तदनन्तर चिन्ता करनेकी इच्छा करनेसे मनका विकाश होता है जिसमें चन्द्र देवता अधिष्ठान करते हैं। यही सब मायाभिमानी विराट् पुरुषमें कारणशरीरगत लालसा-समस्त सूक्ष्मशरीरके विकाशका कारण है। ठीक इसी प्रकारसे अविद्याप्रतिबिम्बित-चैतन्य जीवमें प्रकृतिके साथ अहम्भावसम्बन्ध उत्पन्न होते ही सूक्ष्मशरीरके समस्त भोगोंके प्रति स्वतः इच्छा उत्पन्न होने लगती है जिससे अनेक कारणशरीरके साथ पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण और चित्ताहंकार सहित मनबुद्धि इस प्रकारसे सत्रह्पदार्थमय सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध हो जाता है। यही कर्ममीमांसा-दर्शनकथित द्वितीय सूत्रका तात्पर्य है। सूक्ष्मशरीरके उपादानरूप इन सप्तदश पदार्थोंका जीव व्यापकब्रह्माण्डप्रकृतिसे अपने ऊपर आकर्षण कर लेता है। पञ्चदशीकारने इन सप्तदशका नाम वर्णन किया है। यथा:—

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिंगमुच्यते ॥

पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि (चित्त और अहंकार सहित) इन सप्तदश उपादानोंसे सूक्ष्मशरीर बनता है जिसको लिङ्गशरीर कहते हैं। सूक्ष्मशरीरके विकाश होनेके बाद उन सब इन्द्रियोंके द्वारा स्थूलभोग करनेकी प्रबल इच्छा प्रकृति भावापन्न जीवमें उत्पन्न होने लगती है, जिससे ब्रह्माण्डप्रकृतिके पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाशरूप पञ्चमहाभूतोंके स्थूल उपादान द्वारा जीवको भोग और स्थूलशरीर प्राप्त हो जाता है। यही :—

"तत्तीव्रवेगात् स्थूलम्"

इस कर्ममीमांसोक्त तृतीय सूत्रका तात्पर्य है।

"स्यात्पञ्चीकृतभूतोत्थो देहः स्थूलोऽन्नसंज्ञकः"

पञ्चीकृत पञ्चभूतोंके द्वारा जीवके स्थूलशरीरकी उत्पत्ति होती है ऐसा शास्त्रमें भी कहा गया है। इन तीनों शरीरोंको जीवके आवरणरूप पञ्चकोष भी कहा गया है। स्थूलशरीरमें अन्नमय कोष, सूक्ष्मशरीरमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष और कारणशरीरमें आनन्दमय कोषकी स्थिति वेदान्तशास्त्रमें मानी गई है। इस प्रकारसे प्रकृतिके साथ अभिमानयुक्त तद्भाव प्राप्त जीवात्मा उल्लिखित तीन शरीर या पञ्चकोषके द्वारा आवृत होकर धीरे-धीरे प्रकृतिके ही आश्रयसे ब्रह्मपदकी ओर तीर्थयात्रामें अग्रसर होता है। सो कैसे होता है यह नीचे क्रमशः बताया जाता है।

अनादि अनन्त प्रकृतिमाताके अनन्ततामय अङ्कमें चिज्जड़ग्रन्थिके द्वारा कितने ही जीव उत्पन्न होते हैं और जनन-मरणचक्रके द्वारा विविध योनियोंमें निःश्रेयसपदप्राप्तिके पूर्व पर्यन्त परिभ्रमण करते रहते हैं इसकी इयत्ता कौन करेगा। महर्षि वशिष्ठने अनन्तविलासमयी जीवसृष्टिके विषयमें कहा है:—

एवं जीवाश्रितो भावा भवभावनमोहिताः ।
ब्रह्मणः कल्पिताकाराल्लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ॥
असंख्याताः पुरा जाता जायन्ते चापि वाद्य भोः ।
उत्पतिष्यन्ति चैवाम्बुकणौघा इव निर्झरात् ॥
स्ववासनादशावेशादाशाविवशतां गताः ।
दशास्वतिविचित्रासु स्वयं निगडिताशयाः ॥
अनारतं प्रतिदिशं देशे देशे जले स्थले ।
जायन्ते वा म्रियन्ते वा बुद्बुदा इव वारिणी ॥

केचित्प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः।
केचिद्वा जन्मसंख्याकाः केचिद्द्वित्रिभवान्तराः॥
भविष्यज्जातयः केचित् केचिद्भूतभवोद्भवाः।
वर्त्तमानभवाः केचित् केचित्त्वभवतां गताः॥
केचित्कल्पसहस्राणि जायमानाः पुनः पुनः।
एकामेवास्थिता योनिं केचिद् योन्यन्तरं श्रिताः॥
केचिन्महादुःखसहाः केचिदल्पोदयाः स्थिताः।
केचिदत्यन्तमुदिताः केचिदर्कादिवोदिताः॥
केचित् किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः।
केचिदर्केन्द्रवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः॥
केचित्कूष्माण्डवेतालयक्षरक्षः पिशाचकाः।
केचिद् ब्राह्मणभूपाला वैश्यशूद्रगणाः स्थिताः॥
केचिच्छ्वपचचाण्डालकिरातावेशपुक्कसाः।
केचित्तृणौषधीः केचित् फलमूलपतङ्गकाः॥
केचिद्भुजङ्गगोनासकृमिकीटपिपीलिकाः।
केचिन्मृगेन्द्रमहिषमृगाजचमरैणकाः॥
आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः।
कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद्वृक्षमिवाण्डजाः॥
तावद्भ्रमन्ति संसारे वारिण्यावर्त्तराशयः॥
यावन्मूढा न पश्यन्ति स्वमात्मानमनिन्दितम्॥
दृष्ट्वात्मानमसत् त्यक्त्वा सत्यामासाद्य संविदम्।
कालेन पदमागत्य जायन्ते नेह ते पुनः॥

इस प्रकारसे लक्ष लक्ष, कोटि कोटि चिदंश जीव संसारभावनासे युक्त होकर नियतिचक्रमें परिभ्रमण करते हैं। असंख्य पूर्वमें ही उत्पन्न हो गये हैं, असंख्य अब भी उत्पन्न हो रहे हैं और निर्झरिणीनिःसृत जलकणाओं की तरह असंख्य आगे भी उत्पन्न होंगे। अपनी ही वासनासे आशाविवश होकर अतिविचित्र दशामें बन्धनप्राप्त हो रहे हैं और समुद्रमें जलबुद्बुद्की तरह जल-स्थलमें अनुक्षण जन्म-मरणको प्राप्त हो रहे हैं। किसी को एक जन्म हुआ है, किसीको शताधिक जन्म हो चुके हैं, कोई कल्प कल्पमें जन्म ले चुका है, कोई अभी जन्म लेनेवाला है और कोई जन्म ले रहा है। किसीको महादुःख हो रहा है, कोई सामान्यदुःखी है और कोई सुखसागरमें डूब रहे हैं। किसीको किन्नर-गन्धर्व आदि योनि मिल रही है; कोई सूर्य, चन्द्र, वरुण तथा

ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर बन रहे हैं, कोई वेताल, यक्ष, रक्ष, पिशाचकी योनिको प्राप्त कर रहा है और कोई ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रादि मानव योनिको लाभ कर रहे हैं। कोई श्वपच चाण्डालादि नीच योनियोंको प्राप्त कर रहा है, कोई तृण औषधि आदि उद्भिज्ज योनि कृमिकीटादि स्वेदज योनि, मृगेन्द्र महिषादि पशुयोनि और सारस हंसादि अण्डयोनियोंमें जन्म ले रहा है। अविद्याके विविध भावोंमें मुग्ध होकर समस्त जीव वृक्षसे वृक्षान्तरगत पक्षियोंकी तरह शरीरसे शरीरान्तर को प्राप्त होते हैं और जबतक परमात्माका दर्शन नहीं होता है तब तक ऐसे ही जलभ्रमकी तरह संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं। इस प्रकारसे अनेक जन्म तक संसारचक्रमें घूमनेके बाद कदाचित् काल पाकर जीवको मायाके जालसे मुक्ति मिलती है तभी जीव अपने ब्रह्मस्वरूपको उपलब्ध करके जनन-मरणचक्रसे निस्तार लाभ करता है। यही महर्षि वशिष्ठकथित अनन्त विलासमयी जीवसृष्टिकी धारा है। अब इस प्रकार सृष्टिचक्रमें जीव प्रारम्भसे लेकर अन्त तक कैसे-कैसे अग्रसर होता है सो बताया जाता है।

संस्कारके बिना क्रिया नहीं होती और क्रियाके बिना कोई भी जीव प्रकृति-राज्यमें अग्रसर नहीं हो सकता है। इसलिये जीवभावके विकाशके अनन्तर प्रकृतिके क्रमोन्नत मार्गमें अग्रसर होनेके लिये जीवको कर्म अपेक्षित है। वह कर्म प्रथम कैसे उत्पन्न होता है सो विवेच्य है। कर्मके विषयमें पहले ही गीताका प्रमाण दिया जा चुका है। यथा :—

"भूताभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः"

जीवभावके विकाशके लिये जो प्राकृतिक स्पन्दन है उसे ही कर्म कहते हैं। इसीके अनुसार कर्ममीमांसादर्शनमें लिखा है :—

"प्राकृतिकस्पन्दः क्रिया" "कर्मबीजं संस्कारः"

"ग्रन्थौ तत्प्रादुर्भावः पिण्डवत्" "तन्निमित्ता सृष्टिः"

प्रकृतिके स्पन्दनका नाम क्रिया है। संस्कार उसका बीज है। चिज्जडग्रन्थिके समय उस बीजकी उत्पत्ति होती है और उसीसे सृष्टि चलती है। तमोगुणकी अन्तिम सीमासे स्वभावानुसार स्पन्दनधर्मिणी प्रकृति चित्सत्ताके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेके लिये जिस समय रजोगुणकी ओर अग्रसर होती है उस समय चित्की ओर प्रकृतिका जो प्रथम परिणाम और तज्जन्य स्पन्दन है उसी स्पन्दनसे प्रथम क्रियाकी उत्पत्ति होती है। और उसी प्राथमिक क्रियाका जो संस्कार प्राकृतिकरूपसे अविद्याभावापन्न चित्सत्ताको आश्रय करता है, वही कर्मबीजरूप प्रथम संस्कार है। इसी प्राकृतिक संस्कार और प्राकृतिक क्रियाके द्वारा जीवमें उल्लिखित तीन शरीरका आवरण विस्तृत होकर जीवको संसारचक्रमें प्रेरणा करता है। इसी तरह जीवभावके विस्तारके साथ ही साथ प्रकृतिराज्यमें अग्रसर होनेके लिये जीवको प्राकृतिक संस्कारकी प्राप्ति हो जाती है और उसी प्राकृतिक स्पन्दन-जनित प्राकृतिक संस्कारके क्रमको आश्रय करके जीव मनुष्ययोनिके पूर्व पर्यन्त समस्त

योनियोंमें क्रमानुसार जन्म प्राप्त करता रहता है। मनुष्ययोनिके पूर्व मनुष्येतर योनियोंका क्रम इस प्रकार है। यथा—बृहद्विष्णुपुराणमें :—

स्थावरे लक्षविंशत्यो जलजं नवलक्षकम्।
कृमिजं रुद्रलक्षश्च पक्षिजं दशलक्षकम्॥
पश्वादीनां लक्षत्रिंशच्चतुर्लक्षश्च वानरे।
ततोऽपि मनुषा जाताः कुत्सितादेर्द्विलक्षकम्॥
उत्तमाच्चोत्तमं जातमात्मानं यो न तारयत्।
स एव आत्मघाती स्यात्पुनर्यास्यति यातनाम्॥

जीवभावके विकाशके बाद प्रथम योनि उद्भिज्जोंकी है उसमें प्रत्येक जीवको २० लाख बार जन्म लेना पड़ता है। तदनन्तर ११ लाख बार जीवको स्वेदज अर्थात् मैलेसे उत्पन्न कृमिकीटादिकी योनिको प्राप्त करना पड़ता है। तदनन्तर १९ लाख बार जीवको अण्डज अर्थात् अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले योनिको प्राप्त करना पड़ता है। उसमें ९ लाख बार जलमें उत्पन्न अण्डज योनि और १० लाख बार स्थलमें उत्पन्न पक्षी आदि अण्डज योनि जीवको प्राप्त होती है। तदनन्तर ३४ लाख बार जीवको पशुयोनिमें भ्रमण करना पड़ता है। उसमें अन्तिम ४ लाख जन्म वानरयोनिमें होता है। मतान्तरमें अन्तिमयोनि त्रिगुणानुसार तीन तरहकी होती है। यथा—सत्त्वगुणानुसार अन्तिमयोनि गौकी, रजोगुणानुसार अन्तिमयोनि सिंहकी और तमोगुणानुसार अन्तिमयोनि वानरकी होती है। अर्थात् जो जीव प्रकृतिके सात्त्विक प्रवाहमें बहता हुआ चलता है उसे अन्तिमयोनि गौकी प्राप्त होकर तदनन्तर मनुष्यशरीर प्राप्त होता है; उसी प्रकार राजसिक प्रवाहपतितजीवको अन्तिमयोनि सिंहकी मिलकर पश्चात् मनुष्यदेह मिलता है और तामसिक प्रवाह-पतित जीवको अन्तिमयोनि वानरकी मिलकर' पश्चात् मनुष्यदेह प्राप्त होता है। यही मनुष्यजन्मके पहले चौरासी लक्ष योनिका हिसाब है। मतान्तरमें इस हिसाबमें तारतम्य भी होता है। यथा—कर्मविपाकमें:—

स्थावरास्त्रिंशल्लक्षश्च जलजो नवलक्षकः।
कृमिजा दशलक्षश्च रुद्रलक्षश्च पक्षिणः॥
पशवो त्रिंशलक्षश्च चतुर्लक्षश्च वानराः॥

मनुष्ययोनिप्राप्तिके पहले जीवको तीस लाख बार स्थावर वृक्षयोनि मिलती है, ६ लाख बार जलयोनि, १० लाख बार स्वेदजयोनि, ११ लाख बार पक्षियोंकी योनि, २० लाख बार अन्यान्य पशुयोनि और चार लाख बार वानरयोनि मिलती है। इस प्रकारसे ८४ लाख योनियोंमें कौन कौन योनि कितनी बार प्राप्त होती है इस विषयमें मतभेद पाये जाते हैं। परन्तु यह तो स्थिर सिद्धान्त है कि जीवका प्रथम सोपान उद्भिद्से लेकर मनुष्यरूपी सर्वोन्नत सोपानमें पहुँचने तक सभी जीव-

पिण्ड पूर्वकथित अध्यात्म सहज कर्म द्वारा सञ्चालित होते हैं और विभिन्न देवतागण उनके चालक होते हैं। केवल मनुष्य योनिमें आकर अपने-अपने कर्म द्वारा चालित होता है। इसी कारण केवल मनुष्यरूपी जीवशरीरसे ही पाप-पुण्यका होना आरम्भ होता है। इस विषयके साथ किस प्रकार कर्मविज्ञानका सम्बन्ध है सो शास्त्रमें बताया जाता है। यथा—संन्यासगीतामें:—

महर्षयोऽतिदुर्ज्ञेयं स्वरूपं कर्मब्रह्मणः।
कर्मज्ञैर्योगिभिः कर्म विराड्रूपं त्रिधा स्मृतम्॥
सहजं जैवमैशं च भावत्रयविभेदतः।
ब्रह्माण्डस्य हि संस्कारसमष्ट्या यस्य यस्य च॥
सम्बन्धः कर्मणस्तिष्ठेत् सहजं कर्म तन्मतम्।
जंगमस्थावरसृष्टेर्मूलं कर्मैतदीरितम्॥
असंख्या देवनिचयाश्चालका अस्य कर्मणः।
परिणामः स्थावरेषु क्रमान्मर्त्येतरेषु हि॥
जंगमेषु च जीवेषु या क्रमोन्नतिरीदृशी।
जायते कारणं तत्र प्रभावो ह्यस्य कर्मणः॥
पिण्डसम्बन्धि यत्कर्म मनुष्यैर्व्यष्टिरूपतः।
कृतं सद्भिस्तत्त्वविद्भिर्जैवं कर्म तदुच्यते॥
नरादयः स्वतन्त्रा वै जीवा एतस्य कर्मणः।
निरन्तरं सर्वथैव भवन्ति फलभोगिनः॥
कुर्वन्ति जीवन्मुक्ता यदैशं कर्म तदुच्यते।
जीवन्मुक्तः कार्यभूमिरीश्वरेच्छा तु कारणम्॥

कर्मब्रह्मका स्वरूप अति दुर्ज्ञेय है। कर्मज्ञ योगियोंने कर्मके विराट् स्वरूपको तीन भावोंमें विभक्त किया है। यथा—सहज, जैव और ऐश। ब्रह्माण्डके समष्टि संस्कारसे जिन-जिन कर्मोंका सम्बन्ध हो उनको सहज कर्म कहते हैं। स्थावर और जङ्गमसृष्टिका मूलभूत यही कर्म कहा गया है। असंख्य देवतागण इस कर्मके सञ्चालक होते हैं। स्थावरमें जो क्रमपरिमाण और मनुष्येतर उद्भिज्ज, स्वेदज आदि जंगम जीवोंमें जो क्रमोन्नति होती है, इस सहज कर्मका प्रभाव ही उसका कारण है। पिण्डके साथ सम्बन्धयुक्त और व्यष्टिरूपसे मनुष्योंके द्वारा किये हुए कर्मोंको तत्व-दर्शी पुरुषोंने जैवकर्म कहा है। मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र हैं इसलिये वे अपने किये हुए शुभाशुभ सभी कर्मोंके फलभोगी होते हैं। जीवन्मुक्तोंके किये हुए कर्मोंको ऐशकर्म कहते हैं। जीवन्मुक्त कार्यभूमि और ईश्वरेच्छा कारणभूमि है। इसलिये उनका सभी कर्म्म ईश्वरेच्छासे विराट्केन्द्र द्वारा होता है। इस कर्मरहस्यका तात्पर्य

यह है कि ऊपर कथित तीनों कर्मोंमेंसे ऐशकर्मसे हमारे इस प्रसङ्गका कोई सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह कर्म जीवन्मुक्तके साथ सम्बन्ध रखता है जो दशा मुक्तात्माकी है। जीवतत्त्व बद्धजीवके साथ सम्बन्ध रखता है। उस बद्धावस्थाके साथ केवल सहज कर्म और जैवकर्मका सम्बन्ध है। उद्भिज्जकी श्रेणियोंमें क्रमोन्नति, उद्भिज्जसे स्वेदराज्यमें पहुँचाना, उद्भिज्जसे स्वेदराज्यकी श्रेणियोंमें क्रमोन्नति, स्वेदराज्यसे अण्डज-राज्यमें पहुँचाना, अण्डजराज्यकी श्रेणियोंमें क्रमोन्नति, अण्डजराज्यसे जरायुजराज्यमें पहुँचाना, जरायुज राज्यकी श्रेणियोंमें क्रमोन्नति और मनुष्यराज्यमें पहुँचा देना ये सब कार्य सहज कर्मसे सम्बन्ध रखते हैं, जिनके चालक पृथक्-पृथक् देवतागण हैं। उसके बाद मनुष्यराज्यमें क्रमोन्नति होती है। साधारण मनुष्यश्रेणिसे मुक्तिपदकी ओर अग्रसर कराना अथवा बद्धदशामें मनुष्यको प्रेत, नरक, स्वर्ग आदि नाना लोकोंका भोग कराना आदि सब कार्य जैवकर्म द्वारा होते हैं जिसके भी व्यवस्थापक स्वतन्त्र स्वतंत्र उन्नत अधिकारके देवता होते हैं। मनुष्येतर चार प्रकारकी योनियोंकी संख्यामें चाहे कुछ भी मतभेद हो मनुष्ययोनि प्राप्तिके पहले प्रत्येक जीवको चौरासी लाख योनि प्राप्त करनी अवश्य पड़ती है इसमें कुछ भी मतभेद नहीं है। श्रुतिमें भी मनुष्येतर योनियोंका वर्णन मिलता है। यथा—ऋग्वेदीयैतरेयोपनिषद्में:—

"एष ब्रह्म एष चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि च"

विश्वव्यापी ब्रह्म ही जीवभावमें मनुष्येतर अण्डज, जरायुज, स्वेदज और उद्भिज योनिको प्राप्त करते रहते हैं। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में भी लिखा है:—

'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव वीजानि भवन्त्यण्डजं
जीवजमुद्भिज्जमिति'

जरायुज योनिके पहले भूतबीजरूप तीन योनि हैं। यथा—अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज। इस तरहसे जीव प्रथम उद्भिज्जसे लेकर ८४ लक्षयोनि पर्यन्त क्रमोन्नत होता रहता है। उद्भिज्जादि चार प्रकारकी योनियोंमें जीवकी क्रमोन्नति होती है। जीवकी इस प्रकार भिन्न-भिन्न योनिप्राप्ति केवल स्थूलशरीरके परिवर्त्तनरूपसे ही होती है। उसके सूक्ष्म और कारणशरीर नाशको प्राप्त नहीं होते हैं। यथा—छान्दोग्यो-पनिषद्में:—

"जीवापेतं किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते"

सूक्ष्म और कारणशरीरयुक्त जीवात्मासे परित्यक्त होनेपर स्थूलशरीरकी ही मृत्यु होती है, जीव नहीं मरता है। इसी प्रकार गीतामें भी है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जिस प्रकार मनुष्य पुरातन जीर्ण वस्त्रको परित्याग करके नूतन वस्त्रको धारण करता है उसी प्रकार सूक्ष्म तथा कारणशरीरयुक्त जीव भी पुरातन जीर्ण स्थूलशरीरको त्याग करके नूतन स्थूलशरीरको धारण करता है। इस प्रकारसे प्रथम उद्भिज्ज योनिसे लेकर अन्तिम उद्भिज्ज योनि तक सूक्ष्म और कारणशरीर सम्बन्ध जीव एकके बाद दूसरा, इस तरहसे स्थूल उद्भिज्ज शरीरको प्रत्येक जन्ममें बदलता हुआ क्रमोन्नतिको प्राप्त करता है। तदनन्तर उद्भिज्जोंकी समस्त योनियों-को समाप्त करके सूक्ष्म और कारणशरीर सम्बद्ध जीव पूर्वरीतिके अनुसार स्वेदज-योनिके पृथक्-पृथक् स्थूल शरीर ग्रहण करता हुआ समस्त स्वेदजयोनियोंको अतिक्रम करता है। तदनन्तर इसी प्रकारसे समस्त अण्डज योनि और जरायु-जान्तर्गत पशुयोनियोंको अतिक्रम करके जीव मनुष्ययोनिमें प्रवेश लाभ करता है। जिस प्रकार मनुष्येतर समस्त योनियोंमें कितने बार जीवको स्थूल शरीर धारण करना पड़ेगा इसका हिसाब शास्त्रमें किया गया है उस प्रकार मनुष्ययोनिमें शरीर धारणका हिसाब नहीं बन सकता है। इसका कारण यह है कि जीव मनुष्येतर समस्त योनियोंमें ही स्वतन्त्र न रहकर ब्रह्माण्डप्रकृतिके अधीन रहता है। मनुष्येतर समस्त योनियोंमें ही बुद्धितत्त्वके सम्यग् विकाशका अभाव रहनेसे तथा निज निज शरीरपर अहङ्कारमूलक स्वामित्वकी उत्पत्ति न होनेसे उन सब योनियोंमें जीव स्वेच्छावश कोई भी कार्य नहीं कर सकता। उसको ब्रह्माण्डप्रकृतिगत सहज कर्म-जनित संस्कारके अनुसार प्रवाहिनिपतित काष्ठखण्डकी तरह सर्वथा चलना पड़ता है। यह बात पहले ही कही गई है कि ब्रह्माण्डप्रकृतिका प्रवाह तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर क्रमोन्नतिको प्राप्त करती है। अतः उसी प्रवाहमें पतित स्वाहङ्कारहीन जीव मनुष्येतर समस्त योगियोंमें क्रमशः उन्नतिको ही प्राप्त करेगा और मनुष्ययोनिप्राप्ति-पर्यन्त, कभी पतन अथवा अटकनेकी सम्भावना नहीं उत्पन्न होगी इसमें क्या सन्देह है। यही कारण है जिससे मनुष्येतर समस्त योनियोंका हिसाब बन सकता है; क्योंकि महर्षिलोग उन सब योनियोंमें जीवकी क्रमोन्नतिके क्रम पर संयम करके भिन्न-भिन्न योनियोंकी संख्याको गिनकर बता सकते हैं। परन्तु मनुष्ययोनिमें इस प्रकारका हिसाब नहीं हो सकता है। क्योंकि मनुष्ययोनिमें आते ही जीवमें बुद्धि-तत्त्वका विशेष विकाश हो जानेसे स्वशरीर और इन्द्रियों पर जीवका स्वामित्वभाव उत्पन्न हो जाता है। इसीलिए जीव मनुष्ययोनिमें आकर स्वेच्छासे इन्द्रियसेवादि द्वारा अपना संस्कार स्वयं ही उत्पन्न करने लगता है और ब्रह्माण्डप्रकृतिके क्रमोद्-र्ध्वगतिशील सहज कर्मजनित संस्कारधाराको छोड़ देता है। अतः उस धाराको छोड़ देनेसे क्रमोन्नतिके हिसाबसे जीव पृथक् हो जाता है और अपने उत्पन्न किये हुए अच्छे बुरे संस्कारोंके अनुसार कभी उन्नत कभी अवनत होता हुआ अनेक योनियोंको प्राप्त करता रहता है। इसलिये मनुष्ययोनियोंमें जीवको कितने बार जन्म लेना पड़ेगा, इसका ठीक हिसाब नहीं लग सकता। मनुष्यके नीचेकी समस्त योनियोंमें जीव व्यापक प्रकृतिके क्रमोन्नतिमूलक स्पन्दनके द्वारा उत्पन्न संस्कारोंको आश्रय करके ऊपर चलता है। इसलिये उन योनियोंमें जीवकी चेष्टा वैसी-वैसी

होती है जैसे-जैसे संस्कार प्रकृतिके भिन्न-भिन्न विभागमें जीवको आश्रय करें, उससे अन्यथा कोई दूसरा संस्कार नहीं हो सकता है और यही कारण है कि मनुष्येतर योनियोंमें प्रत्येक विभागगत जीवोंकी चेष्टा प्रायः एकसी ही देखनेमें आती है। किसी सिंहको घास खाते हुए कभी किसीने नहीं देखा होगा। वे सभी अपनी प्रकृतिके अनुसार मांस ही भक्षण करेंगे। इसी प्रकार गौके लिये भी मांसका खाना कदापि सम्भव नहीं होगा। वे सभी स्वकीय प्रकृतिके अनुसार घास ही खायँगी। इस प्रकारसे पृथक्-पृथक् योनियोंमें पृथक्-पृथक् प्राकृतिक स्पन्दनके अनुसार पृथक् पृथक् ब्रह्माण्डप्रकृतिगत संस्कारको आश्रय करके तदनुसार क्रियाशील होकर जीव उद्भिज्जादि समस्त योनियोंको प्राप्त करता हुआ क्रमोन्नत होता है। प्रत्येक योनिमें पृथक्-पृथक् संस्कार ब्रह्माण्डप्रकृतिके द्वारा जीवको प्राप्त होनेसे और उन सब संस्कारोंके साथ अपना स्वामित्व सम्बन्ध न होनेसे मनुष्येतर जीवोंमें पूर्वजन्मका संस्कार परजन्मकी उत्पत्तिका कारण नहीं बनता है। पूर्वजन्मकी समाप्तिके समय पूर्वजन्मप्रद प्राकृतिक संस्कार ब्रह्माण्डप्रकृतिको आश्रय कर लेता है और जीव ब्रह्माण्डप्रकृतिचालित होकर आगेका जन्म प्राप्त करके ब्रह्माण्डप्रकृतिके जिस स्तरमें उनका जन्म हुआ उस स्तरके प्राकृतिक स्पन्दनजनित प्राकृतिक संस्कारको प्राप्त होकर तदनुसार पूर्वजन्मसे भिन्नरूप चेष्टा करेगा। यथा —यदि किसी जीवका जन्म श्वानका हो तो उस जन्मगत प्राकृतिक संस्कारके अनुसार वह मांस खायगा और निद्रा भय मैथुनादि भी उसी व्यापक प्राकृतिक संबंधीय संस्कारानुसार करेगा। परन्तु यदि उस जीवको दूसरा जन्म घोड़ेका होगा तो दूसरा जन्म प्राप्त करते ही मांस खाना भूल जायगा, घास खाने लग जायगा और निद्रा, भय, मैथुन भी उसी अश्वजन्मगत प्राकृतिक संस्कारानुसार करेगा। इसमें यह नहीं होगा कि पूर्वजन्म मांस खानेवाले कुत्तेका था, इसलिये उसी संस्कारसे आगे जो जन्म होगा उसमें भी मांस खाना चाहिये। अतः यह सिद्धान्त होता है कि मनुष्येतर जीवोंकी गति एक मात्र प्राकृतिक संस्कारके बलसे ही होती है, उसमें प्राक्तन प्रारब्ध कर्म आदिका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। परन्तु मनुष्ययोनिमें इस प्रकार नहीं हो सकता है, क्योंकि मनुष्य स्वाधीन, स्वकीय शरीर और इन्द्रियों पर स्वामित्वभावयुक्त और स्वदेह पर अभिमानयुक्त होनेके कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिके संस्कारको छोड़कर अपनी कर्मस्वतन्त्रताके कारण अपना संस्कार उत्पन्न करता जाता है जिससे मनुष्यको प्राक्तन कर्मानुसार आगेके जन्म प्राप्त होते हैं और उन्नत या अवनत स्वकीय प्रारब्धानुसार उन्नत या अवनत योनियाँ मिलती हैं। यही कारण है कि मनुष्येतर जीवोंमें एक मात्र प्राकृतिक संस्कार (Intuition) होने पर भी मनुष्ययोनिमें जीव प्रारब्ध, सञ्चित और क्रियमाण इन तीनों प्रकारके स्वोपार्जित संस्कारोंके द्वारा भिन्न-भिन्न गति प्राप्त करता रहता है। परन्तु मनुष्येतर योनिमें ब्रह्माण्डप्रकृतिके अधीन रहनेके कारण तथा स्वदेह और इन्द्रियों पर स्वामित्व न होनेके कारण उन योनिगत समस्त जीवोंमें आहारनिद्राभयमैथुनादि समस्त क्रिया नियमित होती है। उसमें प्राकृतिक नियमविरुद्धता तथा अप्राकृतिक बलात्कारके साथ कोई भी अनुष्ठान नहीं होता है। यही कारण है पशु-

पक्षी आदि जीवोंमें अनियमित मैथुनादि कदापि दृष्टिगोचर नहीं होते। उनमें प्राकृतिक नियमानुसार सृष्टिकार्यके लिये ऋतुकालके उपस्थित होनेसे तभी मैथुनेच्छा उत्पन्न होती है। अन्यथा स्त्री-पुरुष सदा एक साथ रहने पर भी किसी समय परस्पर काम सम्बन्धकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। परन्तु मनुष्योंमें बुद्धिविकाश, तथा स्वशरीर और इन्द्रियोंपर आत्माभिमानके कारण मनुष्य इस विराट् प्रकृतिके मधुर नियमको बलात्कारके साथ तोड़ देता है और अनियमित यथेच्छ इन्द्रिय-सेवा-परायण होकर ब्रह्माण्ड प्रकृतिके क्रमोन्नतिशील प्रवाहसे पृथक् हो जाता है। यही कारण है कि पश्वादि जीवोंमें नियमित आहारनिद्राभय-मैथुनादि क्रिया होनेपर भी मनुष्ययोनिमें आकर जीव अनियमित आहार निद्रा भय मैथुनादिका आचरण करता है। ब्रह्माण्ड प्रकृतिकी धारा तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर क्रमोदूर्ध्वगतिशील होनेसे मनुष्येतर जीवसमूह उस धाराको आश्रय करके जितनी उदूर्ध्वगतिको प्राप्त हो जाते हैं उतना ही उनमें पञ्चकोषोंका क्रमविकाश और तदनुसार क्रियाशक्तिकी विशेषता तथा मानसिक और बुद्धिसम्बन्धीय विविध वृत्तियोंकी स्फूर्त्ति होती जाती है। प्रत्येक जीवदशाका सम्बन्ध तीनों शरीर या पञ्चकोषोंके साथ होनेके कारण निम्नतर कोटिके उद्भिज्जसे लेकर उच्चतम कोटिके समस्तजीवपर्यन्त पञ्चकोषोंकी स्थिति रहती है। केवल निम्नकोटिके जीवोंमें सब कोषोंका विकाश नहीं रहता है। वह विकाश प्रकृतिराज्यमें जीवके उन्नतिके साथ साथ होता जाता है। तदनुसार उद्भिज्जमें केवल अन्नमय कोषका विकाश, स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषोंका विकाश, अण्डजमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय तीनों कोषोंका विकाश तथा जरायुज पशुओंमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन चारों कोषोंका विकाश हो जाता है। उद्भिज्ज जीवोंमें केवल अन्नमय कोषके विकाशके कारण ही उनमें स्थावरत्व बना रहता है और पृथिवी आदिकी सहायतासे उनके प्राणकी रक्षा होती है। स्वेदजमें अन्नमय और प्राणमय कोषके विकाशसे ही उनमें बड़ी-बड़ी प्राणशक्तिका विकाश देखनेमें आता है। यहाँतक कि स्वेदज जीवोंकी सहायतासे विराट्के प्राणकी स्वास्थ्यरक्षा होने या न होनेका कार्य सम्पादित होता है। अन्नमय प्राणमय कोषोंके साथ मनोमय कोषके विकाशके द्वारा अण्डज जीवोंमें अनेक प्रकारकी मनोवृत्ति तथा बुद्धि वृत्तियोंकी स्फूर्ति होती है। यह मनोवृत्तिकी स्फूर्तिका ही शुभफल है कि कपोत, चक्रवाक आदि पक्षियोंमें अपूर्व मनोरम नरलोकदुर्लभ दाम्पत्य-प्रेमका विकाश देखनेमें आता है। समस्त पक्षियोंके हृदयमें मधुरिमामय वात्सल्य रसका अपूर्व विकाश—जिस विकाशके कारण भीषण वात्या, भयङ्कर अशनिपात तथा प्रबल दावदाहके प्रति भी उपेक्षा करके सुकोमल पक्षके द्वारा सन्तानको आवृत्त कर यमराजका भी सामना समस्त चिड़ियाँ कर सकती हैं और क्षुधार्त्त रहनेपर भी शावकको अन्नदान करके हृदयमें अतीत आनन्दको प्राप्त कर सकती हैं—यह अपूर्व विकाश अण्डजजातिमें मनोमय कोषकी स्फूर्त्तिका ही मधुर परिणामरूप है। इसी प्रकार मनोमय तथा विज्ञानमय कोषविकाशके फलरूपसे जरायुज

पशुओंमें भी विविध प्रकार अपूर्व मनोवृत्ति तथा बुद्धिवृत्तिका परिचय देखनेमें आता है। गौ माता निज सन्तानको बुभुक्षु रखकर भी गृहस्वामीके लिये अमृतधाराका अजस्रवर्षण करनेमें अणु मात्र कुण्ठित नहीं होती है। युवक सिंह पिता-माताके द्वारा संगृहीत मृगमांसको भक्षण नहीं करता; परन्तु अपनी वीरतासे निहत पशुके मांसभक्षण द्वारा ही जठरानल परितृप्त करता है; बलवान् पशुके मिलनेपर दुर्बल पशुपर कभी आक्रमण नहीं करता है; अन्नकणापरितृप्त श्वान प्रभुके लिए आनन्दके साथ आत्मबलिदान करनेमें अणु मात्र भी संकोच नहीं करता है और निशिदिन प्रभुकी सम्पत्तिकी रक्षा करके कृतज्ञता और अलौकिक प्रभुभक्तिका परिचय प्रदान करता है; वशम्वद, प्रभुभक्तिपरायण, वीर अश्व प्रभुके लिये कालानल-सदृश संग्राममें आत्मोत्सर्ग करनेमें कुण्ठित नहीं होता है, मृत प्रभुके विरहमें अन्न त्याग करके कंकालसार हो प्राणविसर्ज्जन करता है तथा अनन्त विपत्तिसमुद्रके बीचमेंसे प्रभुका उद्धार करनेमें समर्थ हो सकता है; हिन्दूसूर्य्य महाराणा प्रतापके परम स्नेहभाजन चेतकका अद्भुत आत्मत्याग और प्रभुरक्षा, उड़ीसाराजपालित वीर हस्तीका राजध्वजा-रक्षणके लिये असंख्य यवन सेनाओंके साथ घोर युद्ध और अलौकिक आत्मबलिदान ये सभी जरायुज पशुयोनिमें प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषोंके मधुर विकाशका अपूर्व परिणाम है।

जीवतत्त्वको भलीभाँति समझनेके लिये और जीवतत्त्वके समझनेमें जो जो सिद्धान्त बाधा देते हैं उनके निराकरण करनेके लिये कई एक वैज्ञानिक रहस्य जानने योग्य हैं, जिसका वर्णन किया जाता है। आत्मतत्त्व नामक अध्यायमें हम यह दिखा चुके हैं कि किस प्रकारसे ब्रह्म ईश्वर और विराट्रूपी त्रिभावमें आर्य्यशास्त्र जगत्-कारण भगवान्को देखा करता है। उसी प्रकार अध्यात्म अधिदैव अधिभूतमूलक तीन भाव जीवके स्थूल सूक्ष्म और कारणशरीरमें भी समझने चाहिये। जो भाव कारणमें होता है वही भाव कार्य्यमें भी होता है यह स्वतःसिद्ध है। जगत्कर्ता तथा जगत्कारणमें जिस प्रकार ब्रह्म-ईश्वर और विराट्रूपी भावत्रय विद्यमान है उसी प्रकार एक-एक ब्रह्माण्डमें भी समष्टि स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर विद्यमान हैं। उनके अभिमानी देवताओंके नाम, यथाः—स्थूलशरीराभिमानी देवताओंको विश्व, सूक्ष्म शरीराभिमानी देवताको तैजस् और कारणशरीराभिमानी देवताको प्राज्ञ कहते हैं। इसी प्रकार सब समष्टि इन्द्रिय आदिके भी अभिमानी देवता हैं जिनका विस्तारित वर्णन किसी आगेके अध्यायमें किया जायगा। जिस प्रकार एक-एक ब्रह्माण्डका स्थूल सूक्ष्म कारणशरीर विद्यमान है वैसे ही प्रत्येक जीवपिण्डके साथ ही साथ व्यष्टि रूपसे स्थूलसूक्ष्म और कारणशरीरका रहना स्वतःसिद्ध है। इस कारण जब तक उद्भिज्जसे लेकर मनुष्य पर्य्यन्त सब प्रकारके जीवपिण्डमें कारण, सूक्ष्म और स्थूलशरीरका होना नहीं माना जायगा तबतक जीवतत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती और ऐसा होनेपर खनिजादिकमें जीवका होना नहीं बन सकता। उद्भिज्ज अवस्थासे ही जीव सृष्टि प्रारम्भ होती है। उद्भिज्जमें भी नीचीसे नीची श्रेणियाँ विद्यमान हैं। काई आदि अथवा उससे भी नीची श्रेणीके अतीन्द्रिय जीवपिण्ड भी उद्भिज्ज श्रेणियोंके

अन्तर्गत हो सकते हैं। परन्तु यह मानना ही पड़ेगा कि उद्भिज्जसे ही जीवसृष्टि प्रारम्भ होती है। व्यष्टि और समष्टि त्रिशरीरविज्ञानको समझनेके लिये पूर्व्वकथित जीवत्रि-शरीर और ब्रह्माण्डत्रिशरीरको समझनेके अनन्तर उनका स्वरूप और उनके स्वरूपका विस्तार समझने योग्य है। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जो आदि अन्त रहित विभु परमात्मा विद्यमान हैं वेही समष्टि अध्यात्म राज्यसे सम्बन्धयुक्त हैं। एक ब्रह्माण्डके चालक ब्रह्मा विष्णु महेशसे लेकर अगणित देवतागणका सम्बन्ध उस ब्रह्माण्डके अधिदैव राज्यसे है। और प्रत्येक ब्रह्माण्डके स्थूल परिदृश्यमान रूपका सम्बन्ध अधिभौतिक राज्यके साथ है। ऐसा समझना उचित है। इसी कारण सब स्थूल प्रपञ्चके चलाने-वाले देवतागण होते हैं और इसी कारण प्रत्येक जीव-पिण्डके साथ भी अनेक देवताओंका सम्बन्ध रहता है। यथा—शास्त्रमें कहा गया है:—

देहेऽस्मिन् वर्त्तते मेरुः सप्तद्वीपसमन्वितः।
सरितः सागरा शैलाः क्षेत्राणि क्षेत्रपालकाः॥
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा।
पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्त्तन्ते पीठदेवताः॥ इत्यादि

पुनः गोमाताके शरीरके विषयमें शास्त्रमें ऐसा कहा है कि :—

पृष्ठे ब्रह्मा गले विष्णुः मुखे रुद्रः प्रतिष्ठितः।
मध्ये देवगणाः सर्वे रोमकूपे महर्षयः॥ इत्यादि

ऊपर लिखित श्लोकोंका तात्पर्य स्पष्ट ही है। उद्भिज्जपिण्डसे जब जीवकी सृष्टि प्रारम्भ होती है तो प्रथम उद्भिज्ज स्वेदजादि जीवजगत्के स्वतन्त्र स्वतन्त्र विभागोंमें जितनी विशेष-विशेष श्रेणियाँ रहती हैं उन श्रेणियोंके चलानेवाले पृथक्-पृथक् देवता-गण होते हैं। वे ही देवता अपनी-अपनी श्रेणीकी रक्षा करते हैं और जब उस जीवका स्थूलशरीर नष्ट हो जाता है तब उसको आगेकी श्रणीमें पहुँचा देते हैं। उसके बाद वह जीव प्राकृतिक सहज कर्मसे चालित होकर आगे बढ़ता हुआ जब एक जीवराज्यसे दूसरे जीवराज्यमें पहुँचता है तो तह विशेषराज्यमें पहुँचानेका कार्य्य विशेष देवतापर समर्पित रहता है। अर्थात् उद्भिज्जजीवराज्यका जो प्रधान देवता है वही देवता उद्भिज्ज से स्वेदजराज्यमें जानेवाले जीवोंको स्वेदजराज्यमें जानेके योग्य बनाकर स्वेदजराज्यमें भेज दिया करता है। इसी प्रकारसे मनुष्यराज्यमें पहुँचने तक जीवोंकी क्रमोन्नति इसी रीति पर होती रहती है। मनुष्यसे अतिरिक्त और सब जीवोंका सूक्ष्मशरीर अपेक्षाकृत असम्पूर्ण रहनेसे उनके अतिवाहिक देहकी गति भी पूर्णरूपसे स्वाभाविक होती है। अर्थात् मनुष्य जिस प्रकार अपने स्थूलदेहके नाश होनेपर अपने आतिवाहिक देहकी सहायतासे प्रेतलोक, पितृलोक, नरकलोक और स्वर्गादिलोकमें जानेकी सामर्थ्य रखता है और उक्त स्थानोंके बड़े-बड़े देवतागण उक्त मनुष्यजीवको यथायोग्य कर्मके अनुसार उन-उन लोकोंमें पहुँचा देते हैं उस प्रकारसे उद्भिज्जादि जीव जानेका सामर्थ्य नहीं रखते वे केवल अपनेसे उच्च कक्षामें पहुँच सकते हैं। परन्तु

स्थूल सूक्ष्मकारणशरीर सब प्रकारके जीवोंमें ही विद्यमान रहता है। इन तीनों शरीरोंको और भी स्पष्ट करनेके लिये वेदान्तशास्त्रका लक्षण कहा जाता है। यथा:—

(१) पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत् कर्म्मजन्यं सुखदुःखादिभोगायतनं अस्ति जायते वर्द्धते विपरिणमते विनष्यतीति षड्भावविकारैर्युक्तं यत्तत्स्थूलशरीरम्।

(२) अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतैः कृतं सत् कर्म्मजन्यं सुखदुःखादिभोगसाधनं पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्चवायवः मनश्चैकं बुद्धिश्चैका एवं सप्तदशकलाभिः सह यत्तिष्ठति तत्सूक्ष्मशरीरम्।

(३) अनिर्वाच्याऽनाद्यविद्यारूपं स्थूलसूक्ष्मशरीरकारणमात्रं स्वस्वरूपाऽज्ञानं निर्विकल्पकरूपं यदस्ति तत् कारणशरीरम्।

(१) पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंसे बना हुआ, कर्मोंसे उत्पन्न और सुख-दुःखादि भोगोंका जो स्थान है अर्थात् जिसके द्वारा सुख-दुःखादि भोग होते हैं, एवं जो वर्त्तमान है, उत्पन्न होता हैं, बढ़ता है, परिणामको प्राप्त होता है, क्षय होता है और नाश होता है, इन छः भावविकारोंसे जो युक्त है वह स्थूल शरीर है। (२) अपञ्चीकृत पञ्चभूतोंसे बना हुआ, कर्मोंसे उत्पन्न और सुख-दुःखादिभोगोंका जो साधनरूप है एवं पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, एक मन और एक बुद्धि, इस प्रकार सत्रह कलाओंसे बना हुआ है वह सूक्ष्मशरीर है। (३) अनिर्वचनीया अनादि अविद्यारूप, स्थूल शरीर और सूक्ष्मशरीरका कारणमात्र, अपने स्वरूपका अज्ञान स्वरूप एवं निर्विकल्पकरूप जो है वही कारणशरीर है। इसी कारण-शरीरका सम्बन्ध पूर्वकथित चिज्जडग्रन्थिसे है। प्राकृतिक सहज कर्मके द्वारा चालित होकर तमकी ओरसे सत्त्वकी ओर, जड़प्रवाहकी ओरसे चेतन प्रवाहकी ओर सृष्टिकी गति होनेके कारण पूर्व समझाये हुए विज्ञानके अनुसार जो चिज्जड-ग्रन्थि प्रथम निम्नश्रेणीके उद्भिज्जमें उत्पन्न होती है, वहींसे इसी कारणशरीरका सम्बन्ध विद्यमान है। इसमें सन्देह नहीं कि सूक्ष्मशरीरकी अवस्था का तारतम्य विभिन्न प्रकारके जीवोंमें बना रहता है। उद्भिज्जके सूक्ष्मशरीरसे स्वेदजका सूक्ष्मशरीर और स्वेदजके सूक्ष्मशरीरसे अण्डजका सूक्ष्मशरीर और अण्डजके सूक्ष्मशरीरसे जरायुजका सूक्ष्मशरीर अपेक्षाकृत उन्नत हुआ करता है। और मनुष्ययोनिमें पञ्चकोषके विकाश हो जानेसे मनुष्यका सूक्ष्मशरीर पूर्णताको प्राप्त हो जाता है। तभी मनुष्यका अन्तःकरण जैवकर्माधीन होनेसे मनुष्य पाप-पुण्यका अधिकारी हो जाता है।

तीनों शरीरके अनुसार सब प्रकारके जीवोंमें पञ्चकोषका होना भी स्वतः-सिद्ध है। यह हम पहले दिखा चुके हैं कि उद्भिज्जादि सब योनियोंमें पञ्चकोषोंका रहना प्रमाणित होनेपर भी यह भी निश्चय है कि निम्नश्रेणीकी योनियोंमें सब

कोषोंका पूर्ण विकाश नहीं रहता। जिस प्रकार मनुष्यसे अतिरिक्त प्राणियोंका सूक्ष्मशरीर पूर्णताको प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें पञ्चकोषोंका पूर्ण विकाश नहीं रहता है और क्रमोन्नति सिद्धान्त (evolution principle) के अनुसार एक-एक कोषका विकाश एक-एक जीवसंघमें होता हुआ अन्तमें मनुष्य योनिमें पाँचों कोषोंका विकाश हो जाता है। तभी मनुष्य जीवदशासे शिवदशामें पहुँचनेका अधिकारी बन जाता है। मनुष्ययोनिके अन्तमें ही जीव ब्रह्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है। पञ्चकोषोंके साथ ब्रह्माण्ड और पिण्डका समष्टिव्यष्टि सम्बन्ध होनेके कारण पूर्ण जीव मनुष्यके साथ चतुर्दश-भुवनका सम्बन्ध पूर्णरीत्या स्थापित हो जाता है। शास्त्रमें कहा है कि :—

तस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधः सप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः ॥

तात्पर्य यह है कि विराट् पुरुषके नाभिसे ऊर्द्ध्व मस्तक पर्यन्त सप्त ऊर्द्ध्व-लोक और नाभिसे अधः पादपर्य्यन्त सप्त अधोलोक इस प्रकार विराट् समष्टि शरीरमें चौदह लोकोंका सम्बन्ध महर्षियोंने निर्णय किया है। पुनः शास्त्रोंमें कहा है कि:—

ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात् ।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते ॥

ब्रह्म और प्रकृतिसे उत्पन्न ब्रह्माण्ड और पिण्ड समष्टि और व्यष्टि सम्बन्धसे एक हैं। इस कारण जिस प्रकार पाँचों कोषोंका होना सब पिण्डोंमें स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार चतुर्दश भुवनका सम्बन्ध भी पञ्चकोषात्मक जीवपिण्डके साथ रहना विज्ञानसिद्ध है। भेद इतना ही है कि निम्न श्रेणीके जीवोंमें पञ्चकोषका असम्पूर्ण विकाश रहनेके कारण उनके साथ चतुर्दशभुवनका सम्बन्ध स्थापित नहीं होने पाता, परन्तु मनुष्ययोनिमें सूक्ष्मशरीर और पञ्चकोषोंका पूर्ण विकाश हो जानेसे मनुष्यपिण्डके साथ चतुर्दश भुवनका साक्षात् सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। इसीसे मनुष्य जीव अपने-अपने पाप-पुण्यके अनुसार उक्त लोकोंमें पहुँच जानेका अधिकार प्राप्त करता है। कोई-कोई बौद्धाचार्य्य कहीं-कहीं सूक्ष्म राज्यका रहस्य ठीक-ठीक न समझनेके कारण बड़े-बड़े भ्रमोंमें पतित हुए हैं। अधिदैव विज्ञानके न समझने से जैसे उनके जड़-विज्ञानके अनुसार उन्होंने खनिज आदि पदार्थोंमें भी जीवसत्ता मानी है उसी प्रकार प्रमादमूलक सिद्धान्त उन्होंने चतुर्दशभुवनोंके सम्बन्धमें भी कर डाला है और सब प्रकारके जीवोंके साथ उन्होंने सप्त ऊर्द्ध्व लोकोंकी समान-रूपसे सम्बन्धकल्पना की है। और कहीं कहीं वे ऐसे भ्रममें पतित हुए हैं कि पञ्चकोषके साथ सप्त ऊर्ध्वलोकोंके अधिकार-प्राप्तिकी कल्पना कर डाली है। जब पञ्चकोषोंके पूर्ण विकाश-प्राप्त पिण्डमें ही समष्टि-व्यष्टि सम्बन्धसे ऊपरके सात ऊर्द्ध्व-और नीचेके सात अधोलोक माने गये हैं ता सब जीव शरीरके साथ केवल सात ऊर्द्ध्वलोकोंका सम्बन्ध दिखाना पूर्ण रीत्या भ्रममूलक है। वास्तवमें क्रमोन्नति

सिद्धान्तके अनुसार जीव जब उन्नत होता-होता मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है तब उसके सूक्ष्म राज्यके सब अवयव पूर्ण हो जानेके कारण ब्रह्माण्डके स्वाभाविक स्तर (level) के साथ उसका पूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जानेसे उसको चतुर्दश-भुवनके सम्बन्धका अधिकार प्राप्त हो जाता है। इसी कारण मनुष्य ही केवल प्रेतलोक और नरकलोक, पितृलोक और स्वर्गलोक तथा चतुर्दशभुवनके सब स्थानोंमें यथावत् कर्मके अनुसार अपने आतिवाहिक देह द्वारा देवताओंकी सहायतासे पहुँच सकता है और इसी उन्नत अधिकारके प्राप्त करनेसे उन्नत मनुष्ययोनिप्राप्त जीव अपने पापकर्मोंके बलसे वृक्ष और पशु तक बन सकता है। भेद इतना ही है कि मनुष्य यदि अपने पापकर्मोंके अनुसार एकबार कोई पशु बन जाय तो वह दशा उसकी सजाकी दशा समझी जायगी। दूसरे जन्ममें उसको मनुष्यत्व प्राप्त करनेके लिये पशुओंसे मनुष्य बनने तक जो स्वाभाविक क्रमोन्नतिकी शैली है उसको पालन करने की आवश्यकता नहीं रहेगी; अर्थात उसका वह पशुदेह नष्ट होते ही वह सीधा अपने पूर्व अवस्थाके मनुष्य अथवा देवता आदिके देहमें जहाँसे आया था वहाँ पहुँच सकेगा। इस सम्बन्धमें जड़भरत और यमलार्जुन आदिका चरित्र पुराणोंमें पाया जाता है।

पशुके असम्पूर्ण आतिवाहिक देहके विषयमें चार्वाक आदि नास्तिकोंकी दो प्रकारकी शङ्काएँ हुआ करती हैं। प्रथम तो यह कि यदि पशुओंकी श्रेणियों का क्रम यथावत् बँधा हुआ है तो जीवहत्यामें क्यों पाप होता है अर्थात् यदि एक पशु अपने शरीरको अपने आप छोड़े अथवा किसी के द्वारा मारे जाने पर छोड़े तो वह तुरत ही अपनी ऊपरकी कक्षा में पहुँच जाता है। यदि ऐसा हो तो पशुहत्यामें पाप नहीं होना चाहिये, बल्कि पुण्य होना चाहिए क्योंकि उसका भोगका समय जीवहत्याके द्वारा कम कर दिया गया। इस आशंकाका सहज समाधान यह है कि प्रथम तो जीव श्रेणीके रक्षक और चालाक देवतागण होनेके कारण उनके प्रबन्धमें बाधा डालनेसे प्रकृतिके नियममें बाधा डाली गई। प्रकृतिके विरुद्ध क्रियासे ही पाप होता है यह हम धर्म नामक अध्यायमें सिद्ध कर चुके हैं। दूसरा कारण यह है कि धर्मका आधार अपना-अपना हृदय हैं। अपने अन्तःकरणके संस्कारके अनुसार जीवको पाप-पुण्य मिला करता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि एक सतीके सतीत्वकी रक्षा करनेके लिये एक पापीका हनन करना पाप नहीं है, परन्तु हत्याबुद्धिसे एक साधारण जीवका भी हनन करना पापजनक होगा। अतः दैवकार्य्यमें बाधा देने और अपने अन्तः-करणमें हत्याजनित मलिन संस्कार उत्पन्न करने से वैसा पशुहननरूप कार्य्य अवश्य पापजनक होगा, इसमें सन्देह नहीं। दूसरी शंका यह हो सकती है कि यदि पशुओंके सूक्ष्म शरीरकी पूर्णता नहीं है तो यज्ञमें जो पशुबलि दिये जाते हैं और शास्त्रोंमें उनकी स्वर्गादि लोकोंकी प्राप्तिकी आज्ञा है वह कैसे संभव हो सकती है ? इस शंकाका समाधान यह है कि यद्यपि पशु अपने आप अपने कर्मोंके द्वारा किसी उन्नत योनिमें नहीं पहुँच सकता, परन्तु यदि किसी यज्ञादि असाधारण दैवीक्रिया द्वारा देवताकी प्रसन्नता प्राप्त की जाय तो देवताओंकी सहायतासे उक्त यज्ञमें बलिप्राप्त पशुके लिये अपने उन्नति पथके तीन सोपानको एकदम अतिक्रम कर जाना कुछ असम्भव नहीं

है। जिस प्रकार पुण्यात्मा मनुष्य जब पितृलोक और भुवर्लोकको अपने पुण्यकर्म द्वारा अतिक्रम करके तीसरे स्वर्गलोकमें पहुँच जाता है तब उस मनुष्यका स्वर्गलाभ हुआ ऐसा कहते हैं। उसी उदाहरणके अनुसार यदि पशुश्रेणी अभिमानी और पशुसंघ अभिमानी देवताओंकी कृपा लाभ करके यज्ञशक्तिद्वारा उस यज्ञपशुकी आत्माको उसकी स्वाभाविक गतिसे तीन श्रेणी उन्नत दशा पर पहुँचा दिया जाय तो उस पशुकी यह स्वर्गप्राप्ति कराई गई ऐसा कहनेमें कोई हानि नहीं है। परन्तु यहाँ यह अवश्य कह देना उचित है कि साधारण हत्यावृत्तिसे पशुहनन और यज्ञमें पशुकी बलि इन दोनोंमें आकाश और पातालका अन्तर है। संस्कारके कारण साधारण हत्याका कार्य पाप कार्य और यज्ञ कार्य पुण्य कार्य होनेसे प्रथममें पाप और दूसरेमें पुण्यकी प्राप्ति होना जो शास्त्रमें कहा है सो विज्ञान-विरुद्ध नहीं है। इस प्रकारसे धीरे-धीरे समस्त मनुष्येतर योनिको अतिक्रमण करके जीव अन्तमें मनुष्ययोनिमें पदार्पण करता है। मनुष्ययोनिमें आनेसे पूर्वोल्लिखित चार कोषोंके अतिरिक्त आनन्दमय कोषका भी विकास हो जाता है और तदनुसार जीवोंमें बुद्धिवृत्ति और अहङ्कारका विकाश होकर निज शरीर तथा इन्द्रियों पर स्वामित्व सम्बन्धका उदय हो जाता है। अर्थात् मनुष्ययोनिमें जीव यह समझने लग जाता है कि "यह मेरा शरीर है, ये मेरी इन्द्रियाँ हैं, मैं इनको विषयमें लगाकर इन-इन प्रकारके विषयसुखोंको प्राप्त कर सकता हूँ, मुझे इन-इन इन्द्रियोंसे इन-इन प्रकारके सुख मिलते हैं जो मुझे स्मरण हैं" इत्यादि इत्यादि इस प्रकारसे मनुष्ययोनिमें शरीर और इन्द्रियोंपर अहन्ता या अभिमानका उदय होनेसे यह बात स्वतःसिद्ध है कि मनुष्योंमें इन्द्रियलालसा बलवती हो जायगी जिससे पशुयोनि तक जो प्राकृतिक प्रेरणाके अनुसार आहार, निद्रा, मैथुन नियमित था वह नियमभङ्ग होकर प्रकृतिसे विरुद्ध अनियमित, यथेच्छ तथा अत्यधिक मैथुनादि बढ़ जायगा। यही कारण है कि जिससे उद्भिज योनिसे लेकर व्यापक प्रकृतिकी क्रमोर्द्ध्व-गतिशील धाराको आश्रय करके पशुयोनिके अन्त तक जीवकी जो अव्याहत गति बनी रही थी वह गति मनुष्ययोनिमें आकर रुक जाती है और मनुष्य व्यापक प्रकृतिकी क्रमोन्नतगतिशील धाराको छोड़कर पुनः अधोगतिकी ओर जाने लगता है। मनुष्येतर योनियोंमें जीवोंका कर्मसंस्कारसम्बन्ध व्यापक प्रकृतिके साथ साक्षात् रूपसे होनेके कारण, जैसा कि पहले कहा गया है, उन जीवोंका पूर्वजन्मकृत संस्कार भविष्यत् जीवनका कारण नहीं बनता है। इसी रीतिके अनुसार पशुयोनिको समाप्त करके जीव जब प्रथम मनुष्ययोनिमें पदार्पण करता है उस समय उसके अन्तिम पाशवयोनिका संस्कार प्रथम मनुष्ययोनिमें प्राप्त नहीं होता है। अन्तिम पशुयोनिका संस्कार चाहे वह योनि गौकी हो या सिंहकी या वानरकी, सभी उसी व्यापकसम्बन्धयुक्त पशुप्रकृतिमें विलीन हो जाता है और जीव प्रथम मनुष्ययोनिमें आकर उसी प्रथम मनुष्ययोनिके लिये ब्रह्माण्ड प्रकृतिसे उसी प्रथम योनिके संस्कार प्राप्त करता है। अतः यह बात विज्ञानके द्वारा स्वतःसिद्ध है कि प्रथम मनुष्यका संस्कार प्रकृतिके उस स्तरगत समष्टिसंस्कार ही है। अर्थात् अब तक मनुष्य व्यापक प्रकृतिकी धारा ही है। परन्तु अब मनुष्ययोनिमें स्वयं कर्तृत्वशक्तिका उदय होनेसे धीरे-धीरे व्यष्टिसत्ता पर जीवका जितना अभिमान बढ़ता जाता है उतना ही व्यापक धारासे उसका सम्बन्ध टूटता

जाता है और कुछ योनियोंके बाद ही वह जीव पूरा व्यष्टिसंस्कारधारी जीव ही बन जाता है और समष्टिसे सम्बन्ध सम्पूर्णतया तिरोहित हो जाता है। जीवकी इस समष्टिप्रकृतिगत धाराको अव्याहत रखकर उद्भिज्जसे लेकर ब्रह्म पर्यन्त ब्रह्माण्ड प्रकृतिके व्यापक प्रवाहमें जीवको डाल देने के लिये जो धर्मानुकूल और अधिकारानुकूल विधियाँ हैं उन्हींका नाम धर्मशास्त्र है। जब तक जीव मनुष्येतर योनियोंमें था तब तक प्रकृतिमाताके गोद में सोये रहनेसे जीवकी उन्नतिके लिये प्रकृतिमाता स्वयं ही जिम्मेवार थी और जीव उनकी उन्नतिशील धारामें प्रवाहपतित रूपसे क्रमोन्नत होता पशुयोनिके अन्त तक आ चुका है। अतः मनुष्येतर योनियोंमें स्वतःउन्नतिका मौका मिलनेके कारण तथा उन योनियोंमें बुद्धिविकाशकी अल्पता रहनेके कारण मनुष्येतर योनियोंमें उपर्युक्त शास्त्रविधिके अनुसार उन्नतिकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है और मनुष्य होनेपर भी अत्यन्त निकृष्ट पशुप्राय "जङ्गली" मनुष्योंमें भी व्यापकप्रकृतिसे अधिक सम्बन्ध तथा बुद्धिविकाशकी अल्पताके कारण शास्त्रविधिका अवकाश नहीं रहता है। ऐसे जीव जब प्रकृतिकी कृपासे कुछ उन्नत होकर बुद्धिपूर्वक कार्य करनेका कुछ कुछ अधिकार प्राप्त करते हैं तभी उनमें स्वाधिकारानुसार शास्त्रविधिका प्रचार होता है जिससे उनकी उद्दामगति नियमित होकर उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकती है। अतः यह विज्ञान प्रतिपन्न हुआ कि मनुष्येतर योनियोंसे मनुष्ययोनिमें आनेपर जीवकी प्रकृतिमें दो विशेषताएँ उत्पन्न होती हैं। एक बुद्धिविकाशके कारण शास्त्राधिकारको समझकर निज उन्नतपन्थाको ढूँढ़ लेनेकी शक्ति और दूसरी निजदेह और इन्द्रियोंपर स्वाभिमान उत्पन्न होनेके कारण यथेच्छ इन्द्रियसेवा द्वारा अधोगतिमें जानेकी भी शक्ति। अतः इस समय मनुष्यजाति के लिए ऐसा ही करना युक्तियुक्त होगा जिससे उद्दाम इन्द्रियसेवाप्रवृत्ति नियमित होकर अधोगतिकी सम्भावना रुक जाय और बुद्धि विकाशके तारतम्यानुसार शास्त्रानुशासनका प्रयोग होकर उन्नति प्राप्त करनेकी चेष्टा बनी रहे। ये दोनों ही काम करना शास्त्रका लक्ष्य है। शास्त्रविधिके अनुसार चलनेसे समस्त मनुष्यजातियाँ क्रमशः इन्द्रियवृत्तिको वशीभूत करके उन्नतिकी ओर अग्रसर हो सकती हैं। ये सब शास्त्रविधियाँ जीवकी प्रकृतिराज्यमें क्रमोन्नतिके अनुसार क्रमोन्नत होती हैं, तदनुसार मनुष्यजगत्‌में जीवोंकी उन्नतिके लिये प्राकृतिक प्रेरणाके अनुकूल अनेक धर्ममत उत्पन्न होते हैं। जिस जातिकी मनुष्यसमष्टिके लिये जो धर्मगत देशकालपात्रानुकूल होता है वह जाति प्राकृतिकरूपसे उसी धर्ममतमें ही उत्पन्न होती है और उसकी अवस्थाके अनुकूल उन्नतिके लिये वही धर्ममत परम श्रेयस्कर होता है। इसीलिये गीतामें कहा है:—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥

अपना धर्म साधारण अधिकारका होनेपर भी कल्याणकर है क्योंकि मनुष्य उसीमें उत्पन्न होनेके कारण उसकी प्रकृतिसे उस धर्मका मेल है। इसलिये दूसरेका धर्म उत्तम अधिकारका होनेपर भी अपने लिये कल्याणकर नहीं है। अपने धर्ममें

मरना भी अच्छा है, परन्तु परधर्म ग्रहण करना भयजनक है। इस प्रकारसे पशु-प्रकृति निकृष्टतम मानवमें कर्मव्यवस्थाका अधिकार न होनेपर भी उससे उच्च अनार्य्ययोनियोंमें आकर स्वाधिकारानुकूल धर्मविधि प्राप्त होती है जिसके अनुसार चलनेपर व्यापक प्रकृतिकी विरुद्ध अवनतिकर धाराको छोड़कर मनुष्य धर्मानुष्ठान द्वारा उन्नतिशील व्यापक प्रकृतिकी धाराकी ओर धीरे-धीरे अग्रसर हो सकता है। अनार्ययोनियोंमें भी सत्त्वगुणके विकाशका अभाव रहनेके कारण व्यापक-प्रकृतिकी पुण्यमयी धारामें मनुष्यजीवनप्रवाहिनीको विलीन करनेके लिये पूर्णतया अनुष्ठान नहीं हो सकता है; क्योंकि, निवृत्तिभावप्रवण सत्त्वगुणके अभावसे अनार्य-जातिकी दृष्टि विषयसेवा तथा स्थूलशरीरकी ओर ही अधिक लगी रहती है। इस-लिये उस समय शास्त्रविधि भी अनेक देशकालमें प्रवृत्तिभावयुक्त होती है जिससे समष्टिप्रवाहकी ओर जीवकी गति बहुत ही धीरे-धीरे होती है। परन्तु उसी जातिके बीचमें जब जीव मन्दगतिके द्वारा ही कुछ-कुछ अग्रसर होने लगता है तो प्रकृतिके कथञ्चित् उन्नत राज्यमें अन्तर्निवेशके कारण व्यष्टिस्वार्थ संकुचित होकर समूहके स्वार्थ तथा देशस्वार्थकी ओर व्यापकभावको प्राप्त होता जाता है जिससे उन जातियोंमें भी जीव क्रमोन्नतिको प्राप्त होकर भगवद्भावके आश्रयसे आर्यजातिमें जन्मग्रहणके अधिकारी बन सकते हैं। आर्यजातिमें आनेपर सत्त्वगुणके प्रकाशके कारण स्थूल लक्ष्य निरस्त होकर जीवका लक्ष्य आत्मोन्नति और सुखका लक्ष्य आत्मानन्द प्राप्त करना हो जाता है, जिससे आर्यजातिमें उत्पन्न जीव आर्यशास्त्रको स्वाधिकारा-नुसार पूर्णरूपसे पालन करता हुआ शीघ्र व्यापकप्रकृतिकी धाराकी ओर अग्रसर हो सकता है। इस समय जीवकी पूर्वोल्लिखित दो शक्तियोंको नियमित करनेके लिए दो शास्त्रविधियाँ सहायता करती हैं एक वर्ण और दूसरा आश्रम। अनार्ययोनियों-में रजोगुण और तमोगुणका विकाश और सत्त्वगुणका प्रायः अभाव होनेके कारण त्रिगुणपरिणामभूत वर्ण और आश्रमधर्मके स्पष्ट विकाशका अधिकार जो नहीं प्राप्त हुआ था, वह अवस्था दूर होकर अब आर्ययोनिमें त्रिगुणके सम्यक् विकाशके चार वर्ण और चार आश्रमके पूर्ण विकाशका अवसर आर्यप्रकृतिराज्यमें प्राप्त हो जाता है, जिससे आर्यजातिगत जीव बहुत ही शीघ्रताके साथ आत्मोन्नति करता हुआ व्यापकप्रकृतिकी धाराकी ओर अग्रसर होने लगता है। शास्त्रमें वर्णधर्मको प्रवृत्तिरोधक और आश्रमधर्मको निवृत्तिपोषक कहा गया है, इसलिये वर्णधर्मके यथार्थ प्रतिपालन द्वारा मनुष्ययोनिमें यथेच्छ इन्द्रियसेवाकी परिणामरूप जो अधोगतिकी सम्भावना है वह रुक जाती है और आश्रमधर्मके यथाशास्त्र प्रतिपालन द्वारा मनुष्ययोनिमें जो बुद्धिसञ्चालनपूर्वक महाफला निवृत्तिकी ओर अग्रसर होनेकी शक्ति है वह परिपुष्ट होती है। शूद्रवर्णमें तामसिक प्रकृति होनेके कारण स्वभावतः उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्ति त्रिवर्णोंमें आत्मसमर्पण-पूर्वक यथारीति सेवा द्वारा धीरे-धीरे अवरोधको प्राप्त हो जाती है। वैश्य-वर्णमें रजस्तमोगुणसुलभ धनार्जनस्पृहा गौ और योग्य ब्राह्मणके परिपालनार्थ धनोपयोग द्वारा धीरे-धीरे घट जाया करती है। क्षत्रिय वर्णमें रजोगुणजनित

युद्धादिक्रियाशक्ति सत्त्वगुणमिश्रणके कारण धार्मिक और प्रजारक्षार्थ युद्धरूपमें परिणत होकर अधर्मयुद्धप्रवृत्तिको रोक देती है और ब्राह्मणवर्णमें स्वभावतः सत्त्वगुणके प्रभावके कारण जीवभावसुलभ इन्द्रियलालसा निवृत्त होकर पूर्णताकी ओर ब्राह्मणकी सदैव गति बनी रहती है। इस प्रकारसे वर्णधर्मके द्वारा आर्ययोनिमें जीवकी समस्त प्रवृत्तियोंका क्रमशः निरोध हो जाता है, द्वितीयतः आश्रमधर्मके यथाशास्त्र परिपालन द्वारा निवृत्तिका भी सम्यक् पोषण हो जाता है। ब्रह्मचर्याश्रममें धर्ममूलक प्रवृत्तिकी सम्यक् शिक्षा लाभ होनेसे प्रवृत्तिसत्ताके बीचमेंसे वासनावासित भाव स्वतः ही अन्तर्हित हो जाया करता है। पुनः गृहस्थाश्रममें उस प्रकार धर्ममूलक प्रवृत्तिका अभ्यास करनेसे प्राक्तन समस्त प्रवृत्तिमूलक संस्कार भावशुद्धि द्वारा शीघ्र ही निरस्त होकर हृदयक्षेत्रमें निवृत्तिबीजको वपन कर देते हैं। यही निवृत्तिबीज वानप्रस्थाश्रममें तपस्यामृतसिंचित होकर मधुर कल्पतरुके रूपमें परिणत हो जाता है और यही निवृत्ति कल्पतरु संन्यासाश्रममें त्यागरस, साधनाकिरण और परमज्ञानरूपी मलयहिल्लोल-संस्पृष्ट होकर स्वकीय पूर्ण शोभायमान मधुर कलेवरको प्राप्त करके नित्यानन्दमय मोक्षफलको प्रसव करनेमें समर्थ हो जाता है। यही चतुराश्रमधर्मके यथाशास्त्र परिपालन द्वारा निवृत्तिपोषणपूर्वक अन्तमें पूर्णताप्राप्तिका क्रम है। वर्णाश्रमसंयुक्त आर्यजाति वेदशास्त्रके यथाविधि सदाचारमूलक अनुशासन द्वारा मनुष्ययोनिमें कर्मसंस्कारोंको उल्लिखित क्रमसे परिशुद्ध करती हुई अन्तमें जीवत्वनाशपूर्वक शिवत्वको प्राप्त करती है। अब मनुष्ययोनिमें कर्मसंस्कार द्वारा किस-किस प्रकारसे जीवकी क्रमोन्नति होती है, सो नीचे बताया जाता है।

व्यापकप्रकृतिकी क्रमोन्नतिशील धारामें पतित मनुष्येतर जीवोंमें क्रियाशक्ति जिस प्रकार व्यापकप्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दनजनित संस्कारसे उत्पन्न होती है, उसी प्रकार व्यापकप्रकृतिकी विराट्धारासे च्युत मनुष्ययोनिमें भी व्यष्टिप्रकृतिके साथ समसम्बन्धयुक्त व्यापकप्रकृतिकी धारासे स्वतः कर्म करनेको प्रेरणा प्राप्त हुआ करता है। केवल भेद इतना ही है कि, मनुष्येतर जीवोंमें देहाभिमानके अभावके कारण वे उस धारागत कर्मशक्तिके द्वारा सञ्चालित होते हैं और इसलिये उनमें स्वयं कर्तृत्व-शक्ति तथा पाप-पुण्यकी जिम्मेवारी नहीं रहती है, परन्तु मनुष्ययोनिमें देहाभिमान और बुद्धिवृत्तिका विकाश हो जानेसे मनुष्य उस समष्टिधारागत कर्मप्रेरणाको व्यष्टि-सत्ताके साथ सम्मिलित (Identified) करके व्यष्टिगत अहंभावके साथ समस्त कर्मोंका आचरण करता है और तदनुसार मनुष्ययोनिमें नवीन संस्कारप्राप्ति और पाप-पुण्यकी जिम्मेवरी हो जाती है। यही कारण है कि मनुष्येतर योनियों में कर्म करनेमें स्वतन्त्रता न रहनेपर भी मनुष्ययोनिमें प्रकृतिराज्यमें उच्चनीच गतिके अनुसार नवीन-नवीन कर्म करनेकी स्वतन्त्रता रहती है। अब इस स्वतन्त्रताको बुद्धिशक्ति द्वारा अच्छे उपयोगमें लाकर क्रमशः उन्नतोन्नत योनियोंको प्राप्त करते हुए मुक्त हो जाना अथवा इस स्वतन्त्रताको उद्दाम इन्द्रियवृत्तिके यथेच्छ प्रवाहमें डालकर क्रमशः अवनत होते हुए मूढ़योनियोंको पुनः प्राप्त करना मनुष्यके अपने हाथमें है। यह बात पहले ही कही गयी है कि, मनुष्येतर योनियोंमें कर्म-स्वातन्त्र्य न रहनेसे उन योनियोंमें सभी जीव एकमात्र प्राकृतिक संस्कार द्वारा

क्रमोन्नत होते हैं और तदनुसार मनुष्येतर योनिगत प्रत्येक श्रेणीके जीवकी चेष्टा प्रायः एक ही सी होती है। परन्तु मनुष्ययोनिमें स्वयं कर्तृत्वशक्ति रहनेसे तथा कर्मस्वातन्त्र्यके कारण प्रत्येक मनुष्य वासनाके अनुसार पृथक् पृथक् कर्म करने लगता है। इसलिये मनुष्ययोनिमें कर्मको इतनी विशालता है और इसमें किसीके साथ किसीके कर्मका सम्पूर्ण मेल नहीं रहता है। कर्मस्वातन्त्र्यवश मनुष्य जितने प्रकारके कर्म करते हैं, उन सबोंको तीन भागोंमें विभक्त किया गया है, यथा—सञ्चित, क्रियमाण और प्रारब्ध। जन्मजन्मान्तरसे मनुष्य जिन कर्मोंको करता आया है, जिनके भोगका समय अभी तक नहीं आया है, इसलिए जो कर्मसमूह संस्काररूपसे अभी तक चिदाकाश अर्थात् चित्तके गंभीर देशमें सञ्चित हैं, उसको सञ्चितकर्म कहते हैं। मनुष्य प्रत्येक जन्ममें जितने कर्म करता है, उन सबका भोग तत्तद् जन्ममें नहीं हो सकता है, क्योंकि भोग केवल प्रबलतम कर्मोंका ही होता है, अन्यान्य कर्मोंका भोगकाल धीरे-धीरे जन्मजन्मातरमें आता है, इसलिये प्रथम भोग होने योग्य प्रबलतम कर्मके अतिरिक्त और जितने कर्म भविष्यत्में भोगके लिये चिदाकाशमें रह जाते हैं, उनका नाम सञ्चित कर्म है। क्रियमाण कर्म उसे कहते हैं जो हरेक जन्ममें नवीन-नवीन वासनाओंके अनुसार नवीन-नवीन रूपसे करता है और इन्हीं सञ्चित तथा क्रियमाण कर्मोंसे प्रबलतम होनेके कारण सबसे पहले भोग्य जितने कर्म चित्ताकाश अर्थात् चित्तके ऊपरके देशको आश्रय करके भोगायतनरूप स्थूलशरीरको उत्पन्न करते हैं, उनका नाम प्रारब्ध कर्म है। मनुष्य प्रारब्ध कर्मानुसार जन्मग्रहण करके कर्मस्वातन्त्र्यके कारण प्रारब्धभोगमुखेन स्वस्ववासनानुसार अनेक प्रकारके क्रियामाण कर्म करता है जिनमेंसे प्रथम भोग्य प्रबलतम कर्म मृत्युके समय चित्ताकाशको आश्रय करके प्रारब्धरूपसे उन्नत या अवनत जन्म मनुष्यको प्रदान करता है और शेषकर्मसमूह जो प्रबलतम न होनेसे प्रारब्ध बनने लायक नहीं है, वे सब सञ्चितकर्मरूपसे चिदाकाशको आश्रय करके कर्माशयमें लवलीन रहते हैं और प्रबलतम कर्मोंके भोग हो जानेपर अवसर पाकर आगेके अन्य किसी जन्ममें प्रारब्ध बनकर भोगार्थ अन्य स्थूलशरीरको प्रदान करते हैं। इस प्रकारसे उन्नत-अवनत वासनाओंके अनुसार उन्नत-अवनत कर्मसंस्कारों को प्राप्त करता हुआ उन्नत-अवनत योनियोंमें मनुष्य घटीयन्त्रवत् घूमता रहता है। श्रीभगवानने गीतामें कहा है।

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

सात्त्विक कर्मके द्वारा मनुष्य ऊर्द्ध्व स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त करता है, राजसिक कर्मोंके द्वारा मनुष्यलोक और तामसिक कर्मोंके द्वारा पश्वादि अधोयोनियोंको प्राप्त करता है। मनुसंहितामें लिखा है:—

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।
तिर्य्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषां त्रिविधा गतिः॥

सत्त्वगुणी जीव देवत्वको, रजोगुणी जीव मनुष्यत्वको और तमोगुणी जीव तिर्यक्‌योनिको प्राप्त करता है। यही कर्मानुसार जीवोंकी त्रिविध गति है। छान्दोग्योपनिषद्‌में लिखा है:—

"तद्य इह रमणीयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयाचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा"

पुण्यमयकर्मानुष्ठानकारी मनुष्य पुण्यमय योनि अर्थात् ब्राह्मणयोनि या क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनिको प्राप्त करता है और पापाचरणकारी मनुष्य गर्हित योनिको प्राप्त करता है, यथा—कुक्कुरयोनि, शूकरयोनि या चाण्डाल योनि इत्यादि। हिन्दुशास्त्रमें मनुष्यादि उन्नत योनियोंसे इस प्रकार वेदकथित मूढ़योनिप्राप्तिके विषयमें अनेक इतिहास भी मिलते हैं, यथा—भरतमुनिकी मृगयोनिप्राप्ति और नहुषकी सर्पयोनिप्राप्ति आदि। उसके सिवाय पुण्यकर्मके फलसे स्वर्गादि लोकप्राप्तिकी तरह पापकर्मके फलसे नरकादिप्राप्ति भी मनुष्योंको होती है। यथा श्रुतिमें :—

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥

आत्महननकारी पापीगण घोर अन्धकारपूर्ण अनन्दा नामक दुःखमय नरकमें गमन करते हैं। इसी प्रकार गीतामें भी :—

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

विषयविभ्रान्त, मोहपाशबद्ध, कामभोगासक्त पापीगण अशुचि नामक नरकमें पतित होते हैं। और भी मनुसंहितामें :—

तेऽभ्यासात्कर्मणां तेषां पापानामल्पबुद्धयः।
संप्राप्नुवन्ति दुःखानि तासु तास्विह योनिषु॥
तामिस्रादिषु चोग्रेषु नरकेषु विवर्तनम्।
असिपत्रवनादीनि बन्धनच्छेदनानि च॥

मूढ़गण पापकर्मोंके फलसे संसारमें अनेक नीच योनियाँ प्राप्त होकर अनन्त दुःख भोग करते हैं और तामिस्र, असिपत्रवन आदि भीषण नरकोंमें भी पतित होकर बहुत दुःख पाते हैं। यही सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण संस्कारानुसार आवागमन चक्रमें जीवका परिभ्रमण है। शास्त्रविधिके अनुसार स्वातन्त्र्ययुक्त बुद्धिको सञ्चालित करके सत्कर्मानुष्ठान द्वारा उपर्युक्त तीनों प्रकारके संस्कारोंको परिशुद्ध करनेसे मनुष्य धीरे-धीरे इस दुःखमय आवागमन चक्रसे निस्तार पा सकता है। मनुष्यका पूर्वार्जित संस्कार जिस श्रेणीका होता है, स्थूल अङ्गप्रत्यङ्ग, मन और बुद्धिकी अवस्था,

जाति, आयु और सांसारिक भोगप्राप्ति भी उसी प्रकारकी होती है। इसीलिये सुश्रुतमें लिखा है:—

"अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वाभावादेव जायते"

प्राक्तन कर्मार्जित स्वभावके अनुसार ही स्थूलशरीरका अङ्गप्रत्यङ्ग निर्माण होता है। जाति, आयु आदिके विषयमें योगदर्शनमें लिखा है:—

"सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः"

प्रारब्धकर्मके मूलमें रहनेसे उसीके ही परिणामरूप जाति, आयु और भोग जीवको मिलते हैं। जिस श्रेणीका प्रारब्ध कर्म होता है, उसी तरहकी जातिमें जीवका जन्म होता है, उतनी ही आयु जीवको प्राप्त होती है जितनीमें प्रारब्ध भोग हो और भोग भी प्रारब्धके अनुसार ही अच्छा-बुरा मिलता है। इन सबोंका विस्तृत वर्णन वर्णधर्म नामक अध्यायमें पहले ही किया गया है। अतः यह बात निश्चय है कि, यदि मनुष्य शास्त्रसङ्गत वर्णाश्रमधर्मविधिके अनुसार आचरण करके अपने संस्कारोंको उन्नत करता जायगा तो उत्तरोत्तर उसको उन्नत कोटिका स्थूलशरीरलाभ, उन्नत जातिलाभ, मन और बुद्धिकी उन्नत स्थिति, सात्त्विक भोगप्राप्ति और आध्यात्मिक उन्नति लाभ होगी। उद्दाम इन्द्रियप्रवृत्तिको दमन करके शास्त्रानुकूल आचरण द्वारा अपने संस्कारोंको परिशुद्ध करता हुआ जीव इसी प्रकारसे मुक्तिकी ओर अग्रसर होता है। मनुष्यके इस शास्त्रानुकूल आचरणको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। एक भावशुद्धिपूर्वक विषयसेवा तथा अन्यान्य अनुष्ठान द्वारा प्रारब्धजनित विषयभोगको निवृत्त करके उत्तम कोटिका क्रियमाण संस्कार क्रमशः उपार्जन करना और दूसरा अलौकिक योगशक्तिकी सहायतासे मन्दप्रारब्धको भी दबाकर पुरुषार्थ द्वारा उन्नत होना। यह बात पहले ही कही गई है कि, भाव शुद्धि द्वारा घोर असत् कर्म भी सत्कर्मरूपमें परिणित हो जाता है। अतः यदि साधक सात्त्विकभावको मूलमें रखकर प्रारब्धजनित विषयोंका भोग तथा क्रियमाण कर्मोंका आचरण करेगा तो, भावशुद्धिके फलसे शीघ्र ही उसकी चित्तवृत्ति भावको धारण करेगी, जिससे विषयादिस्पृहा शान्त होकर उसमें उन्नत क्रियमाण संस्कारोंका उदय हो जायगा और इस प्रकार उन्नत क्रियमाण संस्कारयुक्त साधकोंका प्रारब्ध संस्कार भी स्वतः ही उन्नत होनेके कारण उनको उत्तरोत्तर उन्नत स्थूलशरीरयुक्त योनि, उन्नत आन्तरिक अवस्था और आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त होती रहेगी, जिससे वे शीघ्र ही प्रकृतिके अत्युन्नत राज्यमें अधिष्ठित होकर मुक्तिपथके पथिक हो जायँगे। संस्कारोंको उन्नत करनेका दूसरा उपाय अलौकिक योगपुरुषार्थ है। योगशास्त्र अलौकिक पुरुषार्थवादी है। क्योंकि योगशक्ति अलौकिक हैं; इसलिए योगीको विवश होकर प्रारब्ध भोगने तथा भावशुद्धि द्वारा उसके वेगको धीरे-धीरे घटानेकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है। वह योगशक्तिकी सहायतासे बलपूर्वक मन्द प्राक्तन संस्कारको दबाकर अच्छे आगामी संस्कारको उत्पन्न कर सकता है और इसलिये योगशास्त्रमें प्रारब्ध, सञ्चित, क्रियमाण ये तीन संस्कार स्वीकृत न होकर केवल

दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय ये दो संस्कार ही स्वीकृत हुए हैं; यथा योगदर्शनमें:—

"क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः"

संस्कार ही अविद्याअस्मितादि पञ्चक्लेशोंका कारण है, वह दृष्टजन्म अथवा अदृष्टजन्ममें भोगने योग्य है। दृष्टजन्मवेदनीय संस्कार वह है, जिसका भोग इसी भजन्ममें होगा और अदृष्टजन्मवेदनीय संस्कार वह है, जिसका भोग आगेके जन्ममें होगा। परन्तु अलौकिक पुरुषार्थपरायण योगीमें ऐसी शक्ति है कि वे योगबलसे दृष्टकर्मको अदृष्ट बना सकते हैं और अदृष्टको दृष्ट कर ले सकते हैं अर्थात् जो कर्म इसी जन्ममें भोग होने लायक है उसको बलात् पीछे हटा कर आगेके किसी जन्ममें भोगनेके लिये रख सकते हैं और जो कर्म किसी भविष्यत् जन्ममें भोगने योग्य था, उसे खींचकर इह जन्ममें भोग कर सकते हैं। यही योगकी अलौकिक पुरुषार्थशक्ति है और इसी अलौकिकताके कारण ही योगशास्त्रमें तीन संस्कारके स्थान पर दो ही संस्कार माने गये हैं। अतः मनुष्ययोनिमें आकर वर्णाश्रमयुक्त जाति उल्लिखित दोनों उपायोंका अथवा उनमेंसे किसी एकका आश्रय करके क्रमशः स्वरूपकी ओर अग्रसर हो सकती है। सच्चिदानन्दमय ब्रह्म आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिकरूपी भावत्रयमें पूर्ण हैं। अतः स्वरूपसाक्षात्कार द्वारा जीवको पूर्णता लाभ करनेके लिये अपनेमें भी भावत्रयकी पूर्णतासम्पादन करना होता है। जीवमें कर्मके द्वारा आधिभौतिक पूर्णता, उपासनाके द्वारा आधिदैविक पूर्णता और ज्ञानके द्वारा आध्यात्मिक पूर्णता होती है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, निष्काम कर्मयोगका अनुष्ठान, अधिकारानुसार नवाङ्गयुक्त उपासनाका अनुष्ठान और ज्ञानसाधन द्वारा जीव अपने समस्त संस्कारोंको परिशुद्ध और उन्नत करता हुआ अन्तमें जीवको नष्ट करके सर्वत्र विराजमान, नित्य, शुद्ध, मुक्तस्वरूप सच्चिदानन्दसत्तामें विलीन होकर समस्त पुरुषार्थके चरमलक्ष्यरूप निःश्रेयसपदको प्राप्त कर सकता है। जीव और ब्रह्मकी एकता तथा तत्त्वमसि आदि महावाक्योंकी चरितार्थता यहाँ पर हो जाती है। उस समय उस सिद्ध जीवन्मुक्तका क्रियमाण संस्कार स्वरूपज्ञान द्वारा वासनानाशके साथ-साथ आमूल नाशको प्राप्त हो जाता है, सञ्चितकर्मसंस्कार उसके केन्द्रको छोड़कर अनन्तव्यापी महाकाशका आश्रय कर लेता है, केवल विदेहमुक्तिके पूर्वपर्यन्त भोगद्वारा क्षय होनेके लिए प्रारब्ध संस्कारमात्र अवशिष्ट रह जाता है। वासनाका नाश हो जानेसे उस अवशिष्ट प्रारब्ध भोगके द्वारा क्रियमाण संस्कारकी उत्पत्ति नहीं होती है। वह प्रारब्ध-संस्कार भर्जित बीजवत् जीवन्मुक्त योगीके स्वरूपस्थित अन्तःकरणमें रहकर क्रमशः क्षय हो जाता है और जिस समय इस प्रकारसे समस्त प्रारब्ध क्षय हो जाते हैं, उस समय जीवन्मुक्त महात्माको विदेहमुक्ति लाभ हो जाती है, उस समय आकाशपतित विन्दुकी नाईं उनका आत्मा व्यापक आत्मामें मिल जाता है और उनकी प्रकृति महाप्रकृतिमें विलीन हो जाती है। प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामसे जो चिज्जडग्रन्थि उत्पन्न हुई थी, उसका सम्पूर्ण भेदन यहाँ पर हो जाता है। अनादि कालसे जो

आवागमनचक्र यहाँपर चल रहा था वह चक्र सम्पूर्ण शान्त हो जाता है और उस भाग्यवान् योगीका आत्मा अनन्त कालके लिये अनन्त आनन्दमय परब्रह्मभावमें विलीन हो जाता है। यही वेद और वेदसम्मत समस्त शास्त्रानुसार जीवतत्त्व है। त्रिविध भावकी पूर्णता सम्पादनके लिये कर्म, उपासना और ज्ञानके साधन किस-किस प्रकारसे किये जाते हैं सो पहले ही बताये गये हैं और मुक्तिदशामें योगीकी स्थिति किस प्रकार होती है और उनका आचरण कैसा-कैसा होता है, सो सब आगेके किसी अध्यायमें बताये जायेंगे।

जीवके स्वरूपके विषयमें अवच्छिन्नवाद और प्रतिबिम्बवादके सिद्धान्तानुसार मतभेदका रहस्य और इन दोनों मतोंका अवस्थाभेदानुसार सामञ्जस्य पहले ही बताया गया है। अब न्यायादिदर्शनकारोंने निज-निज ज्ञानभूमियोंके अनुसार जीवका स्वरूप किस-किस प्रकारसे वर्णन किया है, सो संक्षेपसे नीचे वर्णित किया जाता है। जब पूर्वोल्लिखित वर्णनोंके अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि प्रकृतिका आवरण ही जीव और ब्रह्ममें पार्थक्यविधानका कारण है तो जिस दर्शनभूमिमें प्राकृतिक आवरणका जितना प्राधान्य वर्णित रहेगा, उसमें जीव और ब्रह्मका भेद भी उतना ही बलवान् रहेगा और प्राकृतिक गुणोंका उतना ही अभिनिवेश जीवात्मापर समझा जायगा इसमें कोई भी संशय नहीं है। यही कारण है कि निम्नभूमिके दर्शनोंमें ब्रह्मके साथ जीवकी इतनी पृथकता बताई गई है और प्रकृतिके अन्तःकरणावच्छिन्न अनेक गुण तथा धर्मोंका सम्बन्ध जीवात्माके साथ बताया गया है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि प्रथम और द्वितीय ज्ञानभूमिके दर्शन, न्याय और वैशेषिकमें प्रकृतिका आवरण जीवात्मापर अत्यधिक होनेसे उन दर्शनोंमें आत्माको अन्तःकरणके समस्त धर्मोंके साथ युक्त किया गया है। यथा—न्यायदर्शनमें—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्"

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और तटस्थज्ञान ये सब आत्माके लिङ्ग हैं। इसी प्रकार वैशेषिकदर्शनमें भी लिखा है :—

"प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराःसुखदुःखेच्छा-द्वेषप्रयत्नाश्च आत्मनो लिङ्गानि"

प्राण और अपान क्रिया, निमेष और उन्मेष क्रिया, जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तरविकार सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न ये सब आत्माके लिङ्ग हैं। इन सब लक्षणोंके द्वारा यही बात स्पष्ट होती है कि प्रथम और द्वितीय ज्ञानभूमिमें जीवात्मापर प्रकृतिका विशेष आवरण रहनेसे प्राकृतिक अन्तःकरणादि उपाधियोंके साथ आत्माका अनन्य सम्बन्ध रहता है। इसलिये सुखदुःखादि अन्तःकरण धर्मोंके साथ आत्माका अभिनिवेश रहनेके कारण ये सब गुण जीवात्माके लिङ्गरूपसे बताये गये हैं। इसके ऊपरके दोनों दर्शनोंने अर्थात् योगदर्शन और सांख्यदर्शनने निज-निज ज्ञानभूमियोंके अनुसार जीवकी अवस्थाको जिस प्रकारसे देखा है, उसके अनुसार

स्वरूपकी ओर अधिकतर लक्ष्य होनेके कारण प्रकृतिका आवरण जीवात्मापरसे बहुत ही घट जाता है, ऐसा बताया है। इसलिये उन दोनों दर्शनोंमें पुरुषको असङ्ग और नित्य शुद्ध मुक्त बताकर अनादि अविद्याहेतु पुरुषकी ही प्रकृतिके साथ औपचारिक सम्बन्धयुक्त कर्तृत्वभोक्तृत्वमय अवस्था-विशेषको जीवभाव कहा गया है और विवेक द्वारा उसी औपचारिक सम्बन्धके अपसारित होते ही पुरुष स्थित होकर अपने नित्यज्ञानमय मुक्तभावको समझ जाता है, ऐसा निर्णय किया गया है। यथा—योगदर्शनमें:—

"स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः"
"तस्य हेतुरविद्या"
"तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्"
"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः"

प्रकृति और पुरुषका कर्तृभोक्तृभावसे जो सम्बन्ध है, वही बन्धनका कारण है। पुरुष प्रकृतिसे इस प्रकार संयुक्त होकर प्रकृतिको पहचान अपने स्वरूपको उपलब्ध कर लेता है। प्रकृतिपुरुषके संयोगका कारण अविद्या है। अतः अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होनेपर पुरुषको कैवल्य प्राप्त होता है। भ्रमज्ञानशून्य विवेकके द्वारा ही अविद्याका नाश होता है। इसी प्रकार सांख्यदर्शनमें भी लिखा है :—

"असङ्गोऽयं पुरुषः"
"निःसंगोऽप्युपरागोऽविवेकात्"
"जपास्फटिकयोरिव नोपरागः किन्त्वभिमानः"
"उपरागात्कर्तृत्वं"
"नियतकारणात्तदुच्छित्तिर्ध्वान्तवत्"

पुरुष स्वभावतः सङ्गरहित है। परन्तु निःसङ्ग होनेपर भी अनादि अविवेकके कारण प्रकृतिके साथ पुरुषका उपराग सम्बन्ध हो जाता है। यह उपराग तात्त्विक नहीं है। केवल प्रकृतिकी सन्निधिहेतु जवास्फटिककी तरह आभिमानिक सम्बन्धमात्र है। इसी प्रकार आभिमानिक सम्बन्ध प्रकृतिके साथ होनेसे ही पुरुष अपनेको कर्त्ताभोक्ता मानता है। यही पुरुषका आभिमानिक जीवभाव है। प्रकाशके आगमनसे जिस प्रकार अन्धकार दूरीभूत होता है, उसी प्रकार नियतकरणरूप विवेकके उदय होनेसे प्रकृतिके साथ पुरुषका यह आभिमानिक बन्धनसम्बन्ध भी उच्छिन्न हो जाता है और उसी समय पुरुष अपने नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपको उपलब्ध कर लेता है। इस प्रकार निज उन्नततर ज्ञानभूमिके अनुसार योग और सांख्यदर्शनोंने पुरुषका आभिमानिक बन्धनसम्बन्धमात्र प्रकृतिके साथ मानकर जीवात्माका लक्षण प्रकट किया है। उस प्रकार आभिमानिक सम्बन्ध जब तक रहता है, तब तक जीवका प्रकृतिके साथ कर्तृत्वभोक्तृत्वका कितना भाव है, इसके लिये सांख्यदर्शनमें दो सूत्र दिये गये हैं। यथाः—

"विशेषकार्य्येष्वपि जीवानाम्"
"विशिष्टस्य जीवत्वमन्वयव्यतिरेकात्"

प्रकृतिके साथ अहंकारसम्बन्धयुक्त पुरुष ही जीवभावको प्राप्त होकर व्यष्टि-सम्बन्धसे विशेष कार्य्यका कर्त्ता-भोक्ता बनता है। अहंकारविशिष्ट पुरुषका यह जीवत्वसम्बन्ध अन्वयव्यतिरेकसे सिद्ध होता है। इस प्रकारसे नित्यमुक्त-कूटस्थ परमात्मा अर्थात् पुरुषके साथ अविद्यावशवर्त्ती जीवका औपाधिक भेद बताया गया है। इसके ऊपर कर्म्ममीमांसादर्शनकी भूमि अर्थात् पञ्चम ज्ञान-भूमिमें पहुँचकर साधकको कार्य और कारण सम्बन्धसे जीव और ब्रह्मकी एकता प्रतीत होने लगती है। जिसके लिये कर्ममीमांसादर्शनमें सूत्र हैः—

"सच्चिदेकं तत्"
"भेदप्रतीतिरौपाधिकत्वात्"
"कार्य्यकारणाभ्यामभिन्ने"
"कार्य्यब्रह्मनिर्देशस्तत्सम्बन्धात्"

कारणब्रह्म, सत्, चित् और एक रूप हैं। उनके साथ कार्य्यब्रह्म और तदन्तर्गत जीवकी भिन्नताप्रतीति केवल उपाधिभेदवशात् ही है। कार्य और कारण ब्रह्म एक ही है। और कारणब्रह्मका रूप होनेसे ही संस्कारको कार्य्यब्रह्म कहते हैं। साधक जब तक कार्य्यब्रह्ममें बद्ध रहते हैं, तब तक उनमें उपाधिजनित भेदभावका भान बना रहता है। परन्तु कार्य्यब्रह्मको कारणब्रह्मका ही रूप समझकर कर्मयोग अनुष्ठान करते-करते जितनी वासना विगलित होकर कारणब्रह्मकी ओर साधककी गति होती है उतना ही उसको उपलब्ध होने लगता है कि कार्य्यब्रह्मके साथ कारणब्रह्मका कोई भी भेद नहीं है और जगत् वास्तवमें ब्रह्म ही है और इसलिये जीव भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं है। इस प्रकारसे कर्ममीमांसाकी पञ्चम ज्ञानभूमिमें जीव और ब्रह्मकी स्वरूपतः एकता और कार्य्यब्रह्मदशामें औपाधिक भेद माना गया है। केवल कर्ममीमांसाकी ज्ञानभूमिमें कार्य्यब्रह्मके साथ सम्बन्ध अधिक रहनेके कारण कारणब्रह्ममें उसकी अभिन्नता उपलब्ध होनेपर भी कार्य्यब्रह्मकी अस्तित्वानुभूति निरस्त नहीं होती है। इसलिए जीव इस भूमिमें ब्रह्मके साथ अपनी सत्ताकी पृथकूताको रखता हुआ ही स्वरूपतः अभिन्नताको उपलब्ध करता है। इसके ऊपर षष्ठज्ञानभूमि अर्थात् दैवी-मीमांसाकी ज्ञानभूमि है। इसमें चित् और जड़के सम्बन्धसे जीवभावकी उत्पत्ति और उस सम्बन्धका अभाव हो जानेसे जीवकी मुक्ति बताई गई है। यथा:—

"चिज्जडग्रन्थिर्जीवः"
"तद्भेदनादुभयविमुक्तिः"

चित् और जड़की ग्रन्थिके द्वारा जीवभावकी उत्पत्ति होती है और ग्रन्थिभेदन द्वारा चित् और जड़ दोनोंकी मुक्ति होती है। इस दर्शनमें भी जड़ प्रकृतिके साथ चित्का सम्बन्ध औपाधिक माना गया है और उसी प्रकृतिसम्बन्ध-

जनित उपाधिके नाशसे चित्‌की मुक्ति मानी गई है। अतः दैवीमीमांसादर्शनकी ज्ञानभूमिके अनुसार जीव और ब्रह्मकी अभिन्नता और केवल औपाधिक भेद मात्र सिद्ध होता है। यथा—दैवीमीमांसादर्शनमें:—

"स एक एव कार्यकारणत्वात्"

"तत्तदेव नानात्वैकत्वोपाधिहानादादित्यवत्"

"तदभिन्नमाराध्यं कृत्स्नम्"

कार्य और कारणरूपसे ब्रह्म एक ही हैं। जिस प्रकार सूर्य्य जलोपाधिके सम्बन्धसे नानारूपमें प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें एक ही हैं, उसी प्रकार अविद्योपाधिके सम्बन्धसे विविधजीवरूपमें प्रतीत होनेपर भी ब्रह्म एक और अद्वितीय हैं। साधकको सर्वभूतमें ब्रह्मको अद्वितीय भाव में जानकर उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार अद्वितीयताका बोध दैवीमीमांसादर्शनके अनुसार साधकमें 'समर्पण बुद्धि' द्वारा उत्पन्न होता है। यथा:—

"मुक्तिः समर्पणात्"

"समर्पणमपि त्रिधा"

"ममैवासौ इति प्रथमः"

"तस्यैवाहमिति द्वितीयः"

"स एवाहमिति तृतीयः"

श्रीभगवान्‌में सर्वकर्मसमर्पण द्वारा जीव मुक्ति लाभ करता है। गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तद् कुरुष्व मदर्पणम्॥
शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः॥

हे अर्जुन! तुम जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो या तपस्या करते हो वह सभी मुझमें समर्पण करो। इस प्रकार मुझमें सर्वकर्मसमर्पण द्वारा कर्मजनित शुभाशुभफलोंसे मुक्त हो जाओगे और आत्माको संन्यासयोगमें युक्त करके मुक्त होकर मुझे ही प्राप्त करोगे। मन्मना, मद्भक्त और मद्याजी होकर मुझे प्रणाम करो जिससे आत्माको मत्परायण करके मुझे ही प्राप्त करोगे। इस प्रकार समर्पण तीन प्रकारसे होता है। प्रथम अवस्थामें साधक यह समझता है कि 'भगवान् मेरे हैं' इसमें जो कुछ अहङ्कारका लवलेश रहता है सो द्वितीयावस्थामें नष्ट हो जाता है। उस द्वितीय दशामें साधक यह समझने लगता

है कि "मैं ही भगवान्का हूँ"। तदनन्तर अन्तिम अवस्थामें साधक अपनेमें और भगवान्में अभेदभावको उपलब्ध करके कहता है "मैं ही वह हूँ।" यहीं तक दैवीमीमांसाकी ज्ञानभूमि है। अतः यह बात सिद्ध हुई कि दैवीमीमांसादर्शनकी ज्ञानभूमिके अनुसार जीव और ब्रह्मका भेद औपाधिक है, तात्त्विक नहीं है और समर्पण द्वारा अविद्याजनित जीवाभिमान नष्ट होनेपर जीव ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताको उपलब्ध कर सकता है। परन्तु यह ज्ञानभूमि षष्ठ अर्थात् चरमसे पहली होनेके कारण इसमें जीव और ब्रह्मकी अभिन्नसत्ता उपलब्ध होनेपर भी इस प्रकार अभिन्नताबोध जैवसत्ताके अस्तित्वको रखता हुआ होता है। अर्थात् साधक अपनी पृथक् स्थितिका विचार रखता हुआ अपनेसे ब्रह्मकी अभिन्नताको अनुभव करता रहता है। इसलिये दैवीमीमांसादर्शनमें समर्पण द्वारा अन्तिम अनुभवः—

"स एवाहम्"

कह कर "सः" और "अहम्" दोनोंकी स्थितिका अभाव और साथ ही साथ दोनोंकी एकताका भी परिचय प्रदान किया है। यह षष्ठज्ञानभूमिका वास्तविक अनुभव है। इसके उपरान्त सप्तज्ञानभूमि वेदान्तदर्शनकी है, जो सबसे अन्तिम भूमि होनेके कारण उसमें अन्यान्यभूमि और चरमभूमिका सामञ्जस्य है। इसलिये वेदान्तदर्शनमें प्रतिबिम्बवाद और अवच्छिन्नवाद दोनोंहीका रहस्य प्रकट किया है। प्रतिबिम्बवादके द्वारा जीवात्माकी व्यावहारिकदशागत सत्ताको परिस्फुट करके वेदान्तदर्शनने अवच्छिन्नवादके अवलम्बनसे जीवात्माकी स्वरूपदशाकी ओर लक्ष्य किया है। अतः प्रतिबिम्बवादमें अन्यान्य दार्शनिक भूमियोंका बहुधा समावेश किया गया है और अवच्छिन्नवादमें मीमांसादर्शनत्रयभूमियोंका सिद्धान्त स्पष्ट किया गया है। इन दोनों वादोंके विषयमें पहले ही बहुत कुछ कहा गया है। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। पूर्वमीमांसा और दैवीमीमांसादर्शनोंमें जीवब्रह्मकी अभिन्नता प्रतिपादित होनेपर भी कार्यब्रह्मके अस्तित्वहेतु जीवत्वकी पृथक् स्थितिका जो कुछ आभास रह गया था सो अन्तिमभूमि वेदान्तदर्शनकी भूमिमें आकर सम्पूर्णरूपसे तिरोधानको प्राप्त हो जाता है। उस समय जीव समुद्रजलमें सैन्धवकी तरह परब्रह्मभावमें लवलीन हो अपनी पृथक्सत्ताके भानमात्रको भी खो देता है। यही यथार्थमें जीवब्रह्मकी एकतारूप स्वरूपदशा है, जिसका भूरि भूरि वर्णन समस्त वेद और वेदान्त शास्त्रमें मिलता है। अनादिकालसे परिणामिनी प्रकृतिके विशालचक्रमें सुख-दुःखमोहात्मक त्रिगुणविकार द्वारा विकृतस्वभाव होकर जीवकी जो अनन्त अशान्तिमय, अनन्त चाञ्चल्यमय जीवनधारा थी, वह धारा सच्चिदानन्दमहोदधिके अनादि अनन्त अपार गर्भमें विलीन होकर आत्यन्तिक शान्ति और आनन्दकी अधिकारिणी हो जाती है। यही जीवकी जीवत्वविलयकारिणी मुक्ति दशा है, जहाँपर समस्त पुरुषार्थ, समस्त साधना, समस्त ज्ञानकी परिसमाप्ति है। जन्मजन्मान्तरके परम पुण्यविपाकसे इसी अनिर्वचनीय पदवीको प्राप्त करके जीव लीलया संसारसिन्धुसन्तरण कर ब्रह्मीभूत हो सकता है। यही जीव-शिव-भावका दुर्ज्ञेय रहस्य है।

पञ्चम समुल्लासका द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।